

।। श्रीमत्प्रभुचरणकृताः ।।
।। स्तोत्रविज्ञप्तयः ।।

स्तोत्रविज्ञप्तयः

|| श्रीमत्प्रभुचरणकृताः ||

|| स्तोत्रविज्ञप्तयः ||

स्तोत्रविज्ञप्तयः

॥ श्रीमत्प्रभुचरणकृताः॥

॥ स्तोत्रविज्ञप्तयः ॥

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट,
वैभव को-ओपरेटिव्ह सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र.

संकलनकार : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.२०७२.

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
शैलेश प्रिन्ट्र्स्,
१४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

प्राक्कथन

गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणकी पंचशतीके महोत्सव मनानेको जो ग्रन्थ प्रकाशित हुवे उनमें सर्वप्रथम गोपालदासकृत वल्लभाख्यान, पश्चात् प्रभुचरणद्वारा निर्मित भगवत्सेवांगभूत साहित्य; और, अब प्रभुचरणकृत स्तुति विज्ञप्ति साहित्यका प्रकाशन सचमुचमें उनकी अतिशय कृपाका ही अनुभाव है.

कुछ ग्लानि और कुछ उद्वेग, जीवस्वभाववश, इस बातका भी है कि श्रीमदाचार्यचरणद्वारा निर्मित ग्रन्थोंके व्याख्यासहित प्रकाशनकी ग्रन्थमालामें अभी भी सुबोधिनीके प्रथम द्वितीय तृतीय और एकादश स्कन्धोंकी सुबोधिनी प्रकाशित नहीं हो पायी है. इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमजीकी अवतारवादावलीके अन्तर्गत आद्य वादचतुष्टयी भी; और, प्रभुचरणके द्वारा लिखित पत्रोंका तथा भक्तिहेतुनिर्णय और भक्तिहंस आदि अन्य भी कतिपय ग्रन्थोंका प्रकाशन उपलब्धानुपलब्ध साहित्यके साथ प्रकाशनमें विलम्ब हो रहा है. वह विलम्ब जो न होता तो जीवन्मुक्त होनेकी अनुभूति मुझे हो जाती! इस विलम्बमें प्रमुख हेतु तो स्वयं मेरे भीतर अपेक्षित सामर्थ्यका न होना ही है.

अस्तु, प्रस्तुत प्रकाशनमें भगवत्कृपया सर्वप्रथम प्रभुचरणनिर्मित भगवत्स्वामिनीके विविध स्तोत्र, भगवत्स्तोत्र तथा विविध विज्ञप्तियोंके इदंप्रथमतया व्याख्यान तथा प्राचीन हस्तलिखित मातृकाओंके आधारपर पाठसंशोधन के साथ प्रकाशन होने जा रहा है.

१.श्रीराधाकैंकर्यप्रार्थनाचतुश्लोकी :

एतदन्तर्गत संकलित ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम यह ग्रन्थ इससे पहले 'राधाप्रार्थनाचतुश्लोकी' के रूपमें प्रसिद्ध था, वस्तुत: तो, इसका अभिधान 'राधाकैंकर्यप्रार्थना'की चतुश्लोकी होना चाहिये था सो वह संशोधित अभिधान योजित हुवा है. बचपनसे अर्थानुसन्धान बिना केवल प्रतिदिन इसके पाठका नियम अद्यावधि निभ पाया होनेके बावजूद कभी अर्थानुसन्धानका आवेग ही प्रकट नहीं हो पाया. सो स्वामिनीजीकी प्रार्थनाके रूपमें ही इसका पाठ करता चला आ रहा था! इसपर प्राचीन विद्वानोंकी व्याख्या भी उपलब्ध नहीं होती. सो प्रकाशनार्थ इस चतुश्लोकीके अर्थानुसन्धान करनेपर स्पष्ट हुवा कि यह स्तोत्र राधाजीको प्रार्थनाके रूपमें न लिखा गया हो कर राधाजीके कैंकर्य प्राप्त करनेको राधिकारसिक श्रीकृष्णके समक्ष की गयी प्रार्थनाकी चतुश्लोकी है. यह उपहासास्पद गति संस्कृतभाषाके साथ परिचय होनेके बावजूद अपनी है तो अपरिचितोंकी चिन्ता क्यों करनी! अपराधस्वीकार करनेसे कुछ खुलासा भी मिल जाता है. अपने सम्प्रदायमें मूलाचार्य महाप्रभु और उनके दोनों आत्मजों की वाणी कितनी उपेक्षित है! जब भी कोई चर्चा छिड़ती है तो अधिकांश आचार्यवंशजों और अनुगामिजनता को भी स्वयं मूलाचार्योपदेश ही स्वमतविरुद्ध लगते हैं. यद्यपि जिस संस्कृतभाषामें इन मूलाचार्य और व्याख्याकारों की वाणी हैं, वह तो संस्कृतभाषाके अध्ययनके प्रति उपेक्षाके मनोभावोंके कारण प्रकाशित कर देनेपर भी हल नहीं हो पायेगी. अत: इतने मात्रसे प्रस्तुत विकराल समस्याका समाधान शक्य नहीं. फिरभी इन्हें यदि इसी तरह अप्रकाशित रहना दिया गया तो यह पूर्वजोंका भागीरथ उद्यम अभी तक तो टिका रहा, पर आगे कितना टिक पायेगा यह तो भगवान् ही जानते होंगे.

स्वसम्प्रदायी और विसम्प्रदायी विद्वानोंके भीतर एक भ्रान्ति जो बद्धमूल हो गयी है कि मूलत: वल्लभसम्प्रदायमें श्रीकृष्णके केवल

बालस्वरूपकी सेवा और भक्तिभाव की प्रणाली थी. उस भ्रान्तधारणाके निराकरणार्थ प्रभुचरणके प्रस्तुत ग्रन्थका उनके पिता महाप्रभुके वचनोंके साथ संवाद और तन्मूलकता सिद्ध करनेके उद्देश्यसे यह व्याख्या लिखनेका मैंने प्रयास किया है. श्रीकृष्णकी किशोरलीला या राधाभाव की प्रधानता वृन्दावनी वैष्णवोंके सम्पर्कमें आनेके कारण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके कालके बाद गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणपर बाह्य प्रभाववश आयी थी, ऐसा माना जाता है. अत: इसे मौलिक पुष्टिमार्गमें परिवर्तन भी मानते हैं कई लोग. प्रस्तुत राधाकैंकर्यप्रार्थनाचतुश्लोकीकी व्याख्या ऐसी भ्रान्त धारणाके निवारणार्थ ही लिखी गयी है.

ऐतिहासिक दृष्टिसे वस्तुत: तो महाप्रभुके पूर्वजोंका आराध्य भगवत्स्वरूप बालरूप न हो कर स्वामिनीसहित वेणुवादक श्रीमदनमोहनका किशोरभाववाला ही था. महाप्रभुको अपने श्वसुरगृहसे प्राप्त भगवत्स्वरूप भी चतुर्भुज वेणुवादक श्रीगोकुलनाथजीका भी किशोरलीलाका दाक्षिणात्य स्वरूप ही था. पुष्टिमार्गके प्रवर्तनसे पूर्व महाप्रभुके पूर्वज विष्णुस्वामिसम्प्रदायानुगामी थे और जिसका दीक्षामन्त्र गोपालमन्त्र था. इस मन्त्रमें ‘गोपीजनवल्लभ’ पद विशेषत: अनुसन्धेय है. यद्यपि प्राय: सभी घरोंमें मूल आत्मनिवेदनकी दीक्षाके गद्यमन्त्रमें केवल ‘भगवते कृष्णाय’ पद ही बोला जाता है, फिरभी गोपालमन्त्रगत ‘गोपीजनवल्लभाय’ जोड़ कर ही कुछ घरोंमें दीक्षा दी जाती है. उसमें हेतु यही है कि स्वतन्त्रपुष्टिमार्गके प्रवर्तित होनेके बाद गोपालमन्त्रकी दीक्षा पृथक् न देनी पड़े. अतएव यहां एक ओर पुष्टिमार्गीय दीक्षामें अन्तर्भूत बना दिया गया है वैसे ही दूसरी ओर महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने तो पुष्टिमार्गीय दैनिक सेवानुष्ठानमें भी गोपालमन्त्रका विनियोग स्वीकार रखा है! सच तो यह है कि वाल्लभ सम्प्रदायके प्रमुखगृहमें बिराजमान श्रीनवनीतप्रियके बालस्वरूपके अपवादको छोड़ दें तो अन्य सभी सातोंके सात घरोंके संयुक्त परिवारके निधिस्वरूप [सं.प.]श्रीगोवर्धननाथजी तथा प्रत्येक तत्तद्

घरोंके अपने-अपने निजी सेव्य निधिस्वरूप [१]श्रीमथुराधीशजी [२]श्रीविठ्ठलनाथजी [३]श्रीद्वारकाधीशजी [४]श्रीगोकुलनाथजी [५]श्रीगोकुलचन्द्रमाजी [६]श्रीकल्याणरायजी तथा [७]श्रीमदनमोहनजी यों नौमेंसे आठ सेव्यस्वरूप किशोरलीलाके ही हैं. और अद्यावधि उसी भावसे सेवित होते हैं. कौन नहीं जानता कि अष्टछापके अन्तर्गत प्रमुख चार सूरदासजी परमानन्ददासजी कुंभनदासजी कृष्णदासजी प्रभृति महाप्रभुके सेवकोंने बालभावकी लीलागानके पदोंकी ही तरह किशोरलीलाके गानपरक पद भी उतनी ही मात्रामें तथा उतनी ही तन्मयताके साथ प्रकट किये हैं.

स्वयं महाप्रभुविरचित भागवतव्याख्या 'सुबोधिनी' तथा 'भागवतार्थप्रकरण' के दशमस्कन्धमें श्रीकृष्णकी बाललीलापरक अध्यायोंको प्रमाणप्रकरण, पौगंडलीलापरक अध्यायोंको प्रमेयप्रकरण और किशोरलीलापरक १४ अध्यायोंको साधन-फल प्रकरणतया व्याख्यायित किया गया है. अतः कहनेको तो प्रमेय और फल की तुलनामें प्रमाण और साधन में कुछ न्यूनता स्वीकारी ही जा सकती है. अतः घरमें ही यदि सुपेयजलवाला कूप हो तो बाहर सरोवर या नदी के तटोंपर से जल लानेकी आवश्यकता कैसे उपपन्न हो सकती है!

स्वयं महाप्रभुके मौलिक दृष्टिकोणका प्रश्न यदि उठाते हैं तो **''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्य अयमेव धर्मोहि न अन्यः क्वापि कदाचन''** (चतुश्लो.१) विधानमें सुस्पष्ट शब्दोंमें 'सर्वभावेन' वे कह रहे हैं. केवल बालभाव या केवल किशोरभाव की भावनाका आग्रह मूलाचार्यके वचनोंमें उपलब्ध नहीं होता. यह 'सर्वभाव'=ब्रह्मभाव परमात्मभाव भगवद्भाव अवतारकालिक त्रिविधलीलाभावके उपरान्त सेवाकर्ताके स्वयं निजी भक्तिभावोंके भी समुचित अवकाश प्रदान करता है.

अतएव पुष्टिमार्गीय साम्प्रदायिक उत्सवोंके लीलाभाव और सेवाभाव

के प्रकारोंका अवलोकन करनेपर भी जन्माष्टमीसे राधाष्टमी पर्यन्त बालभावके शृंगार और वैसी लीला के पदगान की प्रणाली है. बादमें दानलीला रासलीला ही नही प्रत्युत भगवान्के वामनावतारका उत्सव भी मनाया जाता है. दीपावली-गोवर्धनपूजनादिके उत्सवोंमें न तो बाललीलाकी भावना है और न वैसा सेवाप्रकार ही. प्रबोधिनीसे प्रारम्भ होते शीतकालमें और वसन्तपंचमीके बाद तो विशेषत: किशोरलीलाकी प्रमुखता इतनी बढ़ जाती है कि बालभावको अवकाश ही नहीं मिलता. अतएव भक्तकविओंने यशोदाजीका अद्भुत विस्मय भी प्रकट किया है "**मेरो लाल पलनामें सोवे बालक है नादाना. ये का जाने रसकी बातें कहा जाने खेल जहाना!**

ऐसे अनेक हेतुओंके रहते हुवे भी पुष्टिमार्गमें केवल बालभावसे सेवाका बतंगड़ सम्प्रदायिक ग्रन्थ और परिपाटी के अज्ञानवश ही प्रचलित हुवा है. ऐसी भ्रान्तिके निवारणार्थ राधाकैंकर्यप्रार्थना चतुश्लोकीकी मेरी व्याख्या कुछ उपयोगी सिद्ध हो पायेगी ऐसा मेरा विश्वास है.

२.श्रीस्वामिन्यष्टकम् :

इस स्वामिन्यष्टकपर इदंप्रथमतया महानुभाव श्रीहरिरायजी तथा श्रीमुरलीधरजी की दो संस्कृत व्याख्या एवं एक व्रजभाषानुवाद प्रकाशित हो रहें हैं.

वैसे तो भगवान्के अष्टविध ऐश्वर्य, यमुनाष्टकमें कहा गया है कि पुष्टिजीवोंके भगवत्सम्बन्धसिद्ध्यर्थ यमुनाजीमें स्थापित किये गये हैं, परन्तु यहां विवृतिकार कहते हैं : "**मुख्यस्वामिनी-सम्बन्धसिद्ध्यर्थं भगवत: पुष्टिमार्गीयाष्टविधैश्वर्यम् अत्रैव प्रभुणा स्थापितम् इति बोधयितुम् अष्टभि: श्लोकै: प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्ति**".(श्रीहरि.वि.१) इसके विपरीतवत् स्वयं प्रभुचरण भी यमुनाष्टकके उपक्रममें "**भगवता अष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तमिति ज्ञापनाय अष्टभि: श्लोकै: स्तुवन्ति**" (यमु.विवृ.१) विधान

करते हैं. यद्यपि अपरटीकाकार श्रीमुरलीधरजीने इस विरोधाभासके उपशमनार्थ **''यथा कालिन्द्यै दत्तं तथा अत्रापि''** (स्वामि.विवृ.१) ऐसा स्पष्टीकरण दे रखा है परन्तु मुझे अपनी अल्पमतिके अनुसार यहां ऐसा लगता है कि पुष्टिभक्तिभावौपयिक अष्टविध ऐश्वर्य और भगवत्प्राकट्यकालिक लीलाभावौपयिक अष्टविध ऐश्वर्य के बीच कुछ तारतम्य विचारना यहां आवश्यक है. प्रस्तुत स्तोत्रमें इंगित अष्टविध ऐश्वर्य असर्वसुलभ लीलाभावौपयिक ही हैं, सर्वसुलभ पुष्टिभक्तिभावौपयिक नहीं. वह तो यमुनामें ही मान्य हुवा है. एतावता श्रीहरिरायजीद्वारा प्रयुक्त इतरव्यावर्तक 'एव'कार तथा स्वयं प्रभुचरणद्वारा यमुनाजीके बारेमें भगवान्के अष्टविध ऐश्वर्यका स्वीकार, यों दोनोंकी संगति बैठ जाती है. अतएव श्रीराधाकृष्णकी प्रणयक्रीडाके दर्शनके मनोरथके तीव्र आवेगमें लिखा गया प्रभुचरणद्वारा आत्मनेपदकी तरह आत्मगामिनी फलभावनासे प्रकट हुवा यह स्तोत्र है, यमुनाष्टककी तरह सभी पुष्टिमार्गीयोंके लिये नहीं. यह **''न मे भूयान् मोक्षो न पुनरमराधीशसदनं न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनं त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तव पदजलं पेयमपि तद्रजो मूर्ध्नि स्वामिनि! अनुसवनम् अस्तु प्रतिभवं... मया इदं प्रादुर्भावितम् अतिसुखं 'विट्ठल'पदाभिधेये मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम्''** यों स्तोत्रके उपसंहारमें प्रकट हुवे इतरव्यावर्तक मनोभावोंके आधार भी परखा जा सकता है.

इन दोनों व्याख्याओंका सम्पादन-संशोधन १२ + ४ = १६ हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है. उनमें श्रीहरिरायजीके बारेमें विशेष कुछ भी उल्लेखनीय नहीं है सर्वविदित होनेसे. परन्तु द्वितीय व्याख्याकारके बारेमें यह उल्लेखनीय है कि श्रीमुरलीधरजीकी व्याख्याकी मातृका मांडवीसंग्रहमें मिली. उसपर **''श्रीमुरलीधरात्मजश्रीपुरुषोत्त-मस्य''** हस्ताक्षर भी उपलब्ध हुवे हैं. ये मुरलीधरजी वल्लभवंशवृक्षमें प्रथम/४ घरके मूलपुरुष प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज गिरधरजीसे ५वीं पीढ़ीपर जो काकावल्लभजी हुवे, उनके पुत्र प्रस्तुत व्याख्याकार वि.सं.१७२१में

जनमें मुरलीधरजी हैं. और इन्हींके पुत्र पुरुषोत्तमजी जो वि.सं.१७५२ में जनमें, यों व्याख्याकारके पुत्रके ही हस्ताक्षर उपलब्ध मातृकापर मौजूद हैं. अतएव एक अन्य वल्लभात्मज(वि.सं.१६६०) मुरलीधर(वि.सं.१६९९) पूर्वोक्त गिरधरजीके कनिष्ठात्मज गोपीनाथजीके वंशमें भी हुवे हैं, परन्तु उनके पुत्रतया पुरुषोत्तमजीका उल्लेख मिलता न होनेसे यह धारणा प्रमाणित होती है. अन्य मातृकाओंका विवरण पाठभेदके उद्धरणोंके आधारपर देखा जा सकता है. इसके अलावा व्रजभाषानुवादके कर्ताके बारेमें तो कोई जानकारी मिल नहीं सकी.

३.श्रीस्वामिनीप्रार्थनाषट्पदी :

राधाजीके प्रति अतिशय भक्तिभावके अनुभावक प्रभुचरणकृत स्तोत्रोंमें इसका वैशिष्ट्य्य महाप्रभुद्वारा सिद्धान्तित ‘‘**यावद् देहाभिमान: तावद् वर्णाश्रमधर्मएव स्वधर्म:. भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्मा: परधर्मा: वा. यदा पुन: आत्मानं जीवं संघातव्यतिरिक्तं मन्यते तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्मा:. यदा पुन: भगवद्भावं प्राप्ता: तदा अलौकिकधर्माएव... स्वधर्मा: अन्ये परधर्मा: इति... स्वशक्त्या भगवत्प्रेरणया स्वज्ञानेन वा, ज्ञानबाधाभावे शरीरशक्त्या वा, उभयात्मकस्वधर्मानुष्ठानं नतु एकतरविरोधि**’’ (सुबो.३।२८।२) यों उपलब्ध त्रिविध विकल्पोंके अन्तर्गत द्वितीय विकल्पका अनुसरण करते हुवे लिखी गयी षट्पदी है. क्योंकि महाप्रभुने निबन्धमें यह खुलासा भी दे ही रखा है कि ‘‘**तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचारा: त्यक्तव्या:**’’ (त.दी.नि.२।११९). अत: प्रभुचरण भी श्रीराधाके प्रति निरतिशय भावोद्रेककी मनोदशामें निज वर्णाश्रमाचारोंकी उपेक्षणीयता यहां इंगित की हैं : ‘‘**इत्थं जीवनम् अस्तु क्षणमपि भवदंघ्रिविप्रयोगेतु मरणं भवताद् एवंभावे शरणं त्वमेव**’’ (श्रीस्वामि.प्रा.षट्प.६).

इसपर कोई प्राचीन विद्वानोंकी व्याख्या उपलब्ध नहीं होती.

सो प्रभुचरणकी कृपाबलसे मैने व्याख्या लिखना उचित समझा.

४.स्वामिनीस्तोत्रम् :

इस स्तोत्रकी व्याख्याके उपक्रममें श्रीहरिरायजी कहते हैं **''स्वामिनीभावरूपैकदास्यभावपरायणाः... प्रभवो विठ्ठलेश्वराः... अस्मत्प्रभु-चरणाः श्रीमदनन्यपूर्वामुख्यस्वामिनीस्तोत्रं, स्वस्य तत्सम्बन्धसिद्धये, कर्तुम् अभीप्सवो अन्यसम्बन्धत्यागपूर्वक-प्रभुसम्ब न्धकृतिहेतुकभाववत्तया प्रकृतिसा-म्येन अन्यपूर्वामुख्यस्वामिनीसम्बन्धित्वेन स्वस्य तदाज्ञयैव एतद्दास्यार्थम् आकारणसेवाविशेषोपयोगित्वाय प्रदर्श्य दास्यं प्रार्थयितुं द्वादशांगसार्थकत्वाय द्वादशभिः श्लोकैः प्रार्थयन्ति''** (स्वामि.स्तो.वि.१).

इन स्पष्टीकरणोंके मुद्दोंका भलीभांति चिन्तन करनेपर यह स्वाभाविकतया हृदयमें स्फुरित होता है कि निजगृहमें निजाराध्य स्वरूपोंकी सेवामें सर्वथा प्रवण होनेसे अन्याकांक्षारहित होनेपर भी गिरिगोवर्धनपर बिराजमान श्रीगोवर्धनधरके स्वरूपने महाप्रभुके सिद्धान्तकी चौखटके भीतर सेवकभक्तके नन्दालयोपम गृहमें बिराजनेके बजाय देवालयमें बिराजनेकी इच्छा प्रकट जतायी थी. ऐसा ८४वैष्णवोंकी वार्तामें आता है. तब **''बाधनं वा हरीच्छया अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्''** (नवर.७) वचनमें मान्य विकल्पमार्गका अनुसरण करते हुवे महाप्रभुने अब्रह्मसम्बन्धी बंगाली ब्राह्मणोंको श्रीजीकी अन्तरंगसेवार्थ उपयुक्त समझा. साथ ही साथ बहिरंगव्यवस्था तथा सेवासामयिक लीलापदगानार्थ अपने आत्मनिवेदनकी दीक्षामें दीक्षित जो सेवकोको, निजगृहोंको त्याग देनेके कारण जिनकेलिये निजगेहमें भगवत्सेवा अप्रसक्त थी, उन्हें सोंपी गयी. यों **''सेवायां वा कथायां वा''** (भक्ति.वर्ध.९) वचनमें निर्दिष्ट कथाभक्तिका भी पुनः सेवाभक्तिमें अन्तर्भाव सम्भव होनेका एक नया आयाम खुल कर सामने आया. नवधा भक्तिके अन्तर्गत भगवन्नामसेवारूप श्रवणकीर्तनस्मरणमें परायण स्वकीय पुष्टिजीवोंको भगवद्रूपके प्रति

दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनके भावोंसे मंडित करनेका यह नूतन उपक्रम सिद्ध हुवा. अतएव स्वगृहमें भगवत्सेवाका निर्वाह अशक्य होनेपर तथा गृहस्थितिके भी भक्तिभावमें बाधक बननेकी भीति भी रहनेपर जो ''**तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानस:... त्यागे बाधकभूयस्त्वं दु:संसर्गात् तथा अन्नतो अत: स्थेयं हरिस्थाने तदीयै: सह तत्परै: अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्ति: दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मति: मम**'' (भक्तिव.५-९) वचनमें निरूपित स्वगृहत्याग तथा सेवापरायण भगवदीयोंके साथ अदूरे-विप्रकर्षे वा नीतिका अनुसरण करते हुवे खुदको रखनेकी रीति दिखलायी गयी है. वह उनके द्वारा अनुष्ठीयमान भगवत्सेवा और/अथवा भगवत्कथा में सहयोगी बननेकी बात है. यह भक्तिके त्रिविध कल्पोंमें [१]केवलभगवत्सेवा [२]केवलभगवत्कथा और [३]भगवत्सेवाकथा मेंसे यह अन्तिम प्रकारमें पुन: आरोहणका उत्कर्षका आपवादिक स्वरूप है. अर्थात् केवलभगवत्कथापक्षको पुन: भगवत्सेवौपयिक बनानेकी प्रणाली. यों स्वयं महाप्रभुद्वारा जो बहिरंगसेवामें नियुक्त पुष्टिमार्गीय थे उन्हें रूपसेवार्थ कीर्तनादिकी सेवामें योजित किया गया. वैसे तो भगवन्नामोंमें भगवद्रूप आन्तरिकतया प्रतिष्ठित होता ही है, जैसे भगवद्रूपोंमें भगवन्नामोंकी प्रतिष्ठाकी प्रक्रिया पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा ग्रन्थमें ''**अव्याद् अजो अंघ्रिम्...**'' (भाग.पुरा.१०।६।२२) भागवतश्लोकद्वारा उपदिष्ट हुयी है. यहां परन्तु विशेषता इस बातकी है कि भगवन्नामोंमें भगवद्रूपको प्रतिष्ठित करके केवलभगवत्कथा कल्पका समाश्रयण करनेवालोंको भी पुन: कथञ्चित् कथा-सेवा उभयपरायण बन पानेका मार्ग प्रशस्त हुवा. अस्तु.

बादमें ऐसे बहिरंगसेवामें नियुक्त महाप्रभुके सेवकोंद्वारा अन्तरंगसेवामें से विसम्प्रदायी ब्राह्मणोंके निष्कासनके साथ प्रभुचरणको सोंप देनेकी प्रक्रियाके वश प्रभुचरणके भीतर अन्यपूर्वा स्वामिनी चन्द्रावलीजीका भाव

हृदयारूढ होने लगा. तदर्थ श्रीगोवर्धननाथजीकी अन्तरंगसेवाकी आज्ञा लोकरीत्या सेवकोंसे लेनेके बजाय अनन्यपूर्वा मुख्यस्वामिनी श्रीराधाजीसे आधिदैविक रीत्या लेनेके मनोभावको इंगित करता यह स्तोत्र प्रकट हुवा प्रतीत होता है : "**यदैव श्रीराधे रहसि मिलति त्वां यदुपतिः तदैव आकार्या अहं निजचरणदास्ये निगदिता मुदा चन्द्रावल्या शशिमुखि! कृतार्थास्मि भवती, तथा सम्पन्ने मां स्मरति यदि सम्प्रेषणविधौ**" (श्रीस्वामि.स्तो.१).

इस ग्रन्थपर एकमात्र श्रीहरिरायजीकृत व्याख्या उपलब्ध होती है. अन्य लिखी गयी कि नहीं पता नहीं चलता. इस टीकाका सात मातृकाओंके साथ तुलनात्मक विमर्श द्वारा पाठसंशोधन किया गया है.

५.ललितत्रिभंगीस्तोत्रम् :

ज्ञानमार्गीय प्रक्रियामें जैसे श्रवण-मनन-ध्यान-धारणा-समाधिकी क्रमिकतासे अन्तमें चित्तका निर्विकल्प निरोध है, वैसेही भक्तिमार्गीय प्रक्रियामें श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेद की क्रमिकतामें चित्तकी प्रेम आसक्ति निर्विकल्प व्यसनभावापन्नता लक्ष्य मानी गयी है. एतदर्थ भगवल्लीलाओंके श्रवण-कीर्तन-स्मरण अन्ततः लीलाभावनौपयिक बनाने होते हैं. पादसेवन-अर्चन-वन्दन अन्ततः सेवाभावनौपयिक और दास्य-सख्य-आत्मनिवेदन भी अन्ततः स्वरूपभावनौपयिक बनाने होते हैं. इन त्रिविध भावनाओंके नैरन्तर्यवशात् अन्तमें प्रेमभाव आसक्तिभाव और भगवत्स्वरूपके बारेमें निर्विकल्प व्यसनभाव निष्पन्न हो जाता है. महाप्रभुका उपदेश है "**भावो भावनया सिद्धः साधनं न अन्यद् इष्यते**" (संन्या.निर्ण.८).

प्रस्तुत प्रभुचरणकृत ललितत्रिभंगस्तोत्र भगवत्स्वरूपभावनात्मक स्तोत्र

है. इसमें कटि उर और शिर की परस्पर विरुद्ध दिशामें मुड़ी हुयी भंगिमा में खड़े होनेवाले भगवान्‌की चरणारविन्दसे प्रारम्भ कर मुखारविन्द पर्यन्त अंगोंके हृद्य रूपोंकी भावना निरूपित हुयी हैं.

इसपर एकमात्र व्याख्या श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजीकी उपलब्ध हो पायी. यह व्याख्या इन्होंने श्रीहरिरायजीकी जो व्रजभाषा टीका थी उसके संस्कृतभाषामें अनुवादरूपेण निर्मित की है. अन्यथा इनके अन्यभी ग्रन्थ, नाम्ना, वैयासदर्शनन्यायमाला (प्रकाशित), वेदान्तचन्द्रिका (त्रिसूत्रीमात्रप्रकाशित), ब्रह्मवाद (प्रकाशित), श्रीगोपेश्वरकृतवादकथाटीका (द्रष्ट.शुद्धाद्वैतसंस्कृतवाङ्मय.प्रमे.पृ.७२ सर.भं.७५-३० दुर्भाग्यवश अप्रकाशित), सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी (प्रकाशित) सेवाफलटीका (अप्रकाशित-जामनगरहवेलीसंग्रहमें विद्यमान). ये व्रजनाथजी (जन्म : वि.-सं.१७४४) वल्लभवंशवृक्षके अनुसार प्रथम/७ कोटा-कृष्णगढ़के रघुनाथजी (जन्म : वि.सं.१७२७) के पुत्र होने चाहिये. इनके इस संस्कृतानुवादकी १० मातृकायें उपलब्ध हुयी, जिनका विवरण ग्रन्थपादटिप्पणीमें दे दिया गया है.

६.'अस्मत्कुलम्' इत्यस्य श्रीहरिरायाणां व्याख्या :

प्रभुचरणके कण्ठोक्त दो उद्गार [१]"स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः" (सर्वो.स्तो.२२) और प्रस्तुत "अस्मत्कुलं निष्कलंकम्" (ललि.त्रिभ.स्तो.१) का वास्तविक प्रभुचरणको विवक्षित तात्पर्य और आत्ममौढ्यवश सम्प्रदायमें बहुप्रचारित भ्रामक अभिप्राय के बीच आकाश-पातालका वैषम्य है. क्योंकि भ्रामक अभिप्रेतार्थ लाभपूजा पानेकी दुर्मनोवृत्तिका पोषक है अतः इन दो पुत्रवचनोंकी तुलनामें दो पितृवचन : [१]**"यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन तदा कालप्रवाहस्थाः देहचित्तादयोऽपि उत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिः मम" — "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्, तदभावे स्वयं वापि मूर्ति**

कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्'' (शिक्षाश्लो.१ — त.दी.नि.२।२२७-२२८) को या तो हम अप्रसक्त अथवा अनुपदेश्य गोप्य ही मान कर चलते हैं. परन्तु पिताके वचनोंकी स्वरूप-कर्तव्यनिर्धारकता न होनेपर पुत्रवचनोंकी तो स्वतः ही निरस्त हो जायेगी और कुछ नहीं तो स्वयं पुत्रकी **''तस्मात् 'श्रीवल्लभा'ख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ताः ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः''** (श्रीवल्ल.स्तो.३) इस स्वीकारोक्तिके बलपर ही! अस्तु, इस साम्प्रदायिक दुर्भाग्यके मूलहेतुकी विवेचनामें निरर्थक यहां उलझनेके बजाय इन सभी वचनोंके प्राचीन व्याख्याकारोंके द्वारा अभिप्रेत तात्पर्योंको मूलस्रोतोंसे ही हृद्गत करनेकी अनिवार्यताकी शपथके साथ दिशामात्र निर्देशके साथ उपसंहृत करना आवश्यक होनेसे विरत होते हैं.

इसकी केवल एक ही मातृका उपलब्ध पञ्चमपीठ(कामां) के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रहमें उपलब्ध हुयी थी और उसकी ज़ेरोक्स प्रतिलिपि प्रतिलिपि पंचमपीठाधीश नि.ली. गोस्वामी श्रीगिरधरलालजीने उदारतापूर्वक प्रदान की थी. सम्पादक इस उपकारको कभी भूल नहीं पायेगा! अस्तु.

७.गोकुलाष्टकम् :

प्रभुचरणनिर्मित इस श्रीगोकुलाष्टकके बारेमें इसके व्याख्याकी जो मातृका उपलब्ध हुयी उसमें अज्ञातकर्तृक एक मधुरतम श्लोक और ग्रन्थान्तमें पुष्पिकाके बाद लिखा हुवा मिलता है **''श्रीवल्लभोक्तं सहस्रं नाम नामावलीत्रयी श्रीगोकुलेशनामानि फलं तत्रोत्तरोत्तरम्''** इसे हमें योगसाधनाके प्रत्याहार ध्यान और धारणा की सोपानत्रयीकी तरह समझनेका प्रयास करना चाहिये क्योंकि महाप्रभुने सुस्पष्ट शब्दोंमें **''य एतत् प्रातर् उत्थाय श्रद्धावान् सुसमाहितः जपेद् अर्थाहितमतिः स गोविन्दपदं व्रजेत्**

सर्वधर्मविनिर्मुक्त: सर्वसाधनवर्जित:'' (पुरु.सह.ना.३५०-३५१) अत: कहा जा सकता है कि पुरुषोत्तमसहस्रनाम भक्तिमार्गीय प्रत्याहारोपायकी तरह है. त्रिविधनामावलीके उपसंहारमें स्वयं महाप्रभु कहते हैं ''**बाललीलानामपठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते आसक्ति: प्रौढलीलाया: नाम्नां पाठाद् भविष्यति, व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानत: तस्माद् नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीच्छुभि: सदा**'' (त्रिवि.ली.ना.राजली.२-३) अत: पुरुषोत्तमसहस्रनाम यदि भागवतनिरूपित प्रत्येक कथा और चरित्र को श्रीकृष्णलीलाके रूपमें निहारनेकी प्रत्याहारोपम भक्तिमार्गीय प्रक्रिया हो तो त्रिविधनामावली उस श्रीकृष्णकी ही ज्ञानोपम भक्तिमार्गीय प्रेमासक्तिव्यसनौपयिक रीति है. इसके बाद प्रस्तुत गोकुलेशाष्टकमें निरूपित ३२ गोकुलेशनाम भक्तिमार्गीय धारणोपम प्रतीत होते हैं ''**इमानि श्रीगोकुलेशनामानि वदने मम वसन्तु सततं चैव लीलाश् च हृदये सदा**'' (श्रीगोकु.९) अत: ये नाम भक्तिमार्गीय ध्यानसातत्यपर्यवसायिनी धारणा है. प्रस्तुत व्याख्याके कर्ताके रूपमें प्राय: सभी मातृकाओंमें श्रीहरिरायजीका नाम ही मिलता है परन्तु दो-एक मातृकाओं जिनमेंसे एक वि.सं.१८५० में भरोंचके उमयापालज्ञातिके कृष्णभट्टद्वारा सौराष्ट्रदेशीय जेतपुरमें किसी मूलप्रतिकी प्रतिलिपि है उसमें इतिश्री ''**इति श्रीमद्गोस्वामिश्रीवल्लभविरचिता**'' ऐसा उल्लेख मिलता है तो दूसरीमें 'गोकुलनाजीकृत' ऐसा भी उल्लेख मुखपृष्ठपर मिला है. जिस तरहके भाव यहां प्रतिपादित हुवे हैं उनका भी सावधानीसे मनन करनेपर यह प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजी द्वारा लिखित होनेकी सम्भावना प्रबल लगती है. इसमें यदि कोई अनुपपत्ति हो तो यही कि उनकी इतिश्रीमें प्राय: 'पितृचरणैकतान' विशेषण जो मिलता है वह यहां नहीं है.

विविध स्रोतोंसे इसकी आठ हस्तलिखित प्रतियां मिली उन सभी संग्रहाधिष्ठाताओंके हम हृदयपूर्वक आभारी हैं जिनका विवरण ग्रन्थान्तमें पादटिप्पणीमें दिया गया है.

८.'लालयति दोलिका मञ्च'पदम् :

इस पदके व्याख्याकार कोई तो श्रीवल्लभदास हैं परन्तु उनके बारेमें इससे अधिक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पायी. ये व्याख्या इन्होंने श्रीनाथद्वारामें वि.सं.१९५२में लिखी है. वह मूलप्रति मुझे नाथद्वारायात्रामें कभी मिली थी सो मैंने प्रतिलिपि कर ली थी परन्तु अत्यधिक कालक्षेप हो जानेके कारण अब कुछ भलीभांति मूलप्रतिसे प्रतिलिपि करने देनेवाले महाशयका नाम भी विस्मृत हो जानेके कारण हृदयसे क्षमायाचना करनेके अलावा अब कोई उपाय शेष नहीं रह गया. मेरेद्वारा की गयी प्रतिलिपिके अवलोकन करनेपर अनेकत्र निरर्थक विशेषणोंकी भरमार तथा अन्य भी भाषागत शिथिलता दृष्टिगत हुयी. सो यथामति उसे संक्षिप्त संशोधित मैंने किया है. यह कृतज्ञताविज्ञापनके साथ स्वीकारना आवश्यक लगता हैं.

९.भुजंगप्रयाताष्टकम् (मूलमात्रम्) :

प्रभुचरणरचित यह ग्रन्थ पहले भी बृहत्स्तोत्रसरित्सागर आदिमें दो-तीन बार मुद्रित हो चुका है परन्तु इसकी व्याख्या उपलब्ध न होनेके कारण मूलमात्र यहां प्रकाशित किया जा रहा है.

१०.विज्ञप्तयः :

बृहत्स्तोत्रसरित्सागर आदि अनेकत्र ये विज्ञप्तियां कई बार प्रकाशित हो चुकी हैं. सर्वत्र नौ विज्ञप्तियोंके संकलनतया इन्हें प्रकाशित किया गया. वास्तविकतया ८४वैष्णवोंकी वार्तामें इन विज्ञप्तियोंके लेखनका जो इतिवृत्त मिलता है उसमें उल्लेखनीय तथ्य यह है :

> **"सो गोवर्धनधरकों श्रीगुसांईजी विज्ञप्ति करते सो रामदास मुखिया भीतरिया जब श्रीगुसांईजीके पास रागभोज आरतीसों पहोंचिके जाते सो आपको श्रीनाथजीको चरणोदक आपकों देते. तब श्रीगुसांईजी आप फूलकी माला करि राखते**

सो मालाके भीतर *विज्ञप्तिको श्लोक* लिखि देते सो रामदासजी ले जाते सो गोवर्धननाथजीको माला पहिरावते तब मालामेंते विज्ञप्तिको कागज निकासिके श्रीनाथजी बांचते. पाछे वाको प्रतिउत्तर बीड़ाके पानके ऊपर अपनी पीकसों सींकते लिखि देते सो रामदासको देते सो रामदास दूसरे दिन राजभोगसो पहोंचिके जाते तब श्रीनाथजीको लिख्यो पत्र श्रीगुसांईजीको देते. सो श्रीगुसांईजी आप बांचिके पाछे जलमें घोरिके पान करते याते श्रीनाथजीके किये श्लोक जगत्में प्रकट न भये. श्रीगुसांईजी आपु विज्ञप्ति किये सो श्रीनाथजी आपु बांचिके रामदासजीकों देते. तासों विज्ञप्ति प्रकटी है... सो पोष सुदि ६ तें आषाड़ सुदि ५ तांई श्रीगुसांईजीने विप्रयोग कियो..."

(८४ वैष्ण.वा.८४।७)

इसका थोड़ीसी सावधानीके साथ विमर्श करते ही कुछ तथ्य प्रकट हो जाते हैं कि न तो प्रभुचरणको नौ दिनोंका विप्रयोग था और न वैसी स्थितिमें २५-२५ श्लोकोंवाली ९ विज्ञप्तियोंकी किसी तरह संगति उपपन्न होती है. दो-चार श्लोकोंसे अधिक लंबी विज्ञप्तिके कागजोंको न फूलमालामें छिपाके ले जाया जा सकता है और न इन तथाकथित नौ विज्ञप्तियोंके श्लोकोंमें परस्पर पूर्वापरसंगति ही दृष्टिगोचर होती है. इस वार्तामें उल्लिखित *विज्ञप्तिको श्लोक* के एकवचनपर भी ध्यान देना अति आवश्यक है. मुद्रित-उपलब्ध नौ विज्ञप्तियोंके बहुत सारे श्लोक श्रीनाथजीको सम्बोधित कर लिखे भी गये नहीं हैं सो उन्हें तो श्रीनाथजीसे बंचवानेका वृतांत भी नितान्त बेतुका ही लगता है. इन सारी विसंगतियोंका विचार करनेपर सहज सम्भव लगता है कि वार्तामें उल्लिखित तथ्य कि रामदासजीके कारण ये विज्ञप्तियां जगत्में प्रकट हुयी सो प्रभुचरणलिखित क्रमका निर्वाह छुट्टे

कागजके पुर्जोंके कारण इतस्ततः हो जानेके कारण संकलनकारोंने जब संग्रह करना शुरु किया तो प्रभुचरणद्वारा स्वकीय जनोंको लिखित विभिन्न पत्रोंके आद्यन्तमें भगवत्सम्बन्धी उद्गार अन्य स्तुतियां विज्ञप्तियोंके शीर्षकके अन्तर्गत संकलित होती चली गयी अतएव विभिन्न हस्तलिखित मातृकाओंमें क्रमकी एकरूपता पूर्वापरसंगति आदि मेल नहीं खाते. और तो और कुछ प्रतियोंमें ११ विज्ञप्ति तो किसीमें २ या ४ विज्ञप्तियां मिलती हैं. इन विज्ञप्तियोंपर व्रजभाषामें व्याख्याओंका लिखा जाना भी कांकरोली हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रहके शुद्धाद्वैत-संस्कृत-वाङ्मय ग्रन्थके द्वितीयखण्डके पृष्ठ १९९पर उल्लिखित है. इन दोनोमेंसे एक भी व्याख्या (संद.सं. : सर.भं.८३,१०,१९ तथा ,, ,, ९१,१०५) हमारे दुर्भाग्यवश हमें वे उपलब्ध नहीं हो पायी अन्यथा इस विषयपर कुछ सूचना मिल पाती. सो यथामति हमने इन विज्ञप्तियोंको चार शीर्षकोंमें सर्वप्रथम विभक्त किया. प्रथम वे विज्ञप्तियां भगवान्‌को सम्बोधित करके लिखी गयी, दूसरी जो स्वामिनीजीको, तीसरी सखीभाववाले स्वीय जन, बहुत करके रामदासजीको ही, चौथी अपने परिवारजनों या अनुगामी सेवकजनों को विभिन्न अवसरोंपर लिखे गये पत्रोंके आद्यन्त भागोंमें भगवच्चर्चाके रूपमें लिखी गयी विज्ञप्तियां. अन्तमें कुछ कारिकायें जो निश्चिततया प्रभुचरणद्वारा लिखित नहीं प्रत्युत प्रभुचरणकी स्तुतिमें लिखी गयी कारिकायें परन्तु इन विज्ञप्तियोंमें प्रमादवश प्रक्षिप्त हो गयी हैं. इस प्राथमिक विभाजनके बाद कहीं अर्थसंगतिके अनुरोधवश दो या तीन कारिकाओंमें एकवाक्यता प्रतीत हुयी तो उन्हें एकसाथ दे कर सम्पादित किया गया है. अद्भुत विस्मयजनक तथ्य ऐसा करनेपर जो प्रकट हुवा वो यह कि पोषमाससे लेकर आषाढ़मास पर्यन्त अवधिके दिनोंकी गणनानुरूप जो दैनंदिन पत्रव्यवहार हुवा उतनी संख्याकी लगभग विज्ञप्तियां हो जाती हैं. हमारा विश्वास है कि इस कारणसे प्रभुचरणकी विप्रयोगव्यथाको विज्ञप्तियोंके माध्यमसे अधिक सुसंगततया देख-पढ़ पाना सुकर हो पाया है. इनके अवलोकन करनेपर

पत्रोत्तरव्यवहारमें पत्रोंके आदान-प्रदानका वार्तामें मिलता उल्लेख कहीं-कहीं ध्वनित हो रहा है साथ ही पत्रोत्तरोंके वाहक रामदासजीका 'सखी'पदेन छद्मोल्लेख संकेतित होता है. यह नितान्त सन्तोषका विषय है फिरभी प्रभुचरणके अभिप्रायसे कहीं कुछ प्रमादवश अन्यथायोजन हो गया हो प्रभुचरण तथा सभी सहृदय पुष्टिमार्गीय पाठक उसे क्षम्य समझेंगे, ''गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत:''न्यायेन.

इनकी विभिन्न मातृकायें जो उपलब्ध हुयी उनमें कहीं एकरूपता मिलती ही नहीं है. क्रमदृष्टिसे भी कारिकाओंकी संख्याकी दृष्टिसे भी. फिरभी एक मातृका लगभग प्रभुचरणके कालकी ही हैं. उसकी अन्य मातृकाओंके साथ एकरूपता इन मुद्दोपर है नहीं. शेष विवरण ग्रन्थान्तमें पादटिप्पणीमें अवलोकनीय है.

११.परिशिष्ट(२)शयानारार्तिकार्या (अज्ञातकर्तृका) :

यह मेरे संग्रहमें एक किन्हीं वैष्णवने अपने पूर्वजोंके संग्रहमेंसे नित्य जपपाठकी एक गुटका जिसमें विज्ञप्ति आदि अनेक ग्रन्थ समायोजित हैं उसमें मिली. प्रभुचरणकी शयनारार्तिकार्याकी तर्जपर किसीकी लिखी गयी है. सो कौतुकवश यहां प्रकाशित करना इसलिये उचित लगा कि किसीको इसकी जानकारी हो तो वह तुलना कर पायेगा.

कृतज्ञताज्ञापन :

इन ग्रन्थोंके सम्पादनार्थ स्वयंके संग्रहोंमें से हस्ताक्षरोमें लिखित मातृकाओंकी ज़ेरोक्स प्रतिलिपि प्रदान करनेवाले उदारचेता महानुभावोंका सहयोग तो ''सर्वारम्भा: तण्डुलप्रस्थमूला:'' न्यायेन इतना महान् है उसके बिना तो यह कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता था. इनमें सर्वप्रथम अपने अमूल्य संग्रहोंमेंसे हस्ताक्षरोंमें लिखित मातृका प्रदान करनेवाले महानुभावोंमें सर्वप्रथम नि.ली.गोस्मामिश्रीरणछोड़ाचार्य प्रथमेश (कोटा), नि.ली.गोस्वामिश्रीगिरधरलाल पंचमपीठाधीश (कामां), गोस्वामिश्रीअनिरुद्धलालजी (मांडवी-कच्छ), गोस्वामिश्रीकिशोरचन्द्रजी

(जुनागढ़), श्रीगोवर्धनलाल 'गट्टूलालाजी' हस्तलिखितग्रन्थागारके ट्रस्टी महोदय, मुंबईविद्यापीठ ग्रन्थागार, भुवनेश्वरी विद्यापीठ गोंडल, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय वडोदरा, भाण्डारकरप्राच्यविद्या-केन्द्र (पुणे) आदिके हम निरतिशय आभारी हैं.

यह मातृकासंग्रहण कार्य वर्षोंपूर्व प्रारम्भ हुवा था परन्तु अत्यधिक कालक्षेप हो जानेके कारण कुछ मातृका किन महानुभावोंद्वारा प्राप्त हुयी उसका रिकॉर्ड भी शेष न रह गया. सो मेरे भीतर अत्यधिक ग्लानिजनक अपराधभाव प्रकट हो रहा है. सो अपने इस स्खलनकी हार्दिक क्षमायाचनाके अलावा अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह गया है. क्षमस्व !

विभिन्न स्रोतोसे इन मातृकाओंको खोजने संग्रह करनेमें सहायक सर्वप्रथम चिरञ्जीवी गोस्वामी श्रीशरद् तथा चिरञ्जीवी गोस्वामी श्रीमन्दार की तरह श्रीधर्मेन्द्र झालाने भी बहोत निष्ठा और उत्साह पूर्ण सहयोग प्रदान किया. इन मातृकाओंके आधारपर पाठसंशोधनार्थ सहपठन, उद्धरणोंके आकरस्थलोंकी खोज और कम्प्युटरमें फीडिंग आदि कार्योंमें अथक सहयोग श्रीमतीपद्मिनी—श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमतीमनीषा—श्रीपरेश शाह, श्रीजगदीश शेठ, श्रीअनिल भाटिया श्रीराजेश पारेख और श्रीकृष्णकांत वोरा का मिला. इनके निष्ठा और उत्साहपूर्ण सहयोग बिना अकेले करने जानेपर तो इस कार्यमें और न जाने कितना विलम्ब लग जाता ! मेरे प्रत्येक प्रकाशनमें मुद्रणोचित सारे उत्तरदायित्व श्रीमनीष बाराईने निभाया है. आवरकपृष्ठकी सज्जा श्रीमती ख्याति भुल्लाने बनायी है.

यशस्सुपूर्णो महिमा पितुर्मार्ग प्रचारणे।
पञ्चशत्युत्सवे तस्य भक्त्या पुष्पाञ्जलिरयम् ! ॥

वि.सं. २०७२ शारदीपूर्णिमा ***गोस्वामी श्याम मनोहर***

विषयानुक्रमणिका

।। राधा(कैंकर्य)प्रार्थनाचतु:श्लोकी ।।

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे ।।
यदि वदति च किञ्चत् स्मेरहासोदितश्री-
र्द्विजवरमणिपंक्त्या मुक्तिशुक्त्या तदा किम् ।।१।।

[१] श्यामसुन्दर! [२] शिखण्डशेखर! ।।
[३] स्मेरहास्यमुरलीमनोहर!
[४] राधिकारसिक! मां [५] कृपानिधे! ।।
[क] स्वप्रियाकिंकरीं कुरु ।।२।।

प्राणनाथ! वृषभानुनन्दनी-
[ख] श्रीमुखाम्बुजलोलषट्पद! ।।
राधिकापदतले कृतस्थितिस्
त्वां भजामि रसिकेन्द्रशेखर! ।।३।।

संविधाय दशने तृणं विभो!
प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनन्दन! ।।
अस्तु मोहन! तवातिवल्लभा
जन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया ।।४।।

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता
राधा(कैंकर्य)प्रार्थनाचतु:श्लोकी

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

॥ राधा(कैंकर्य)प्रार्थनाचतुःश्लोकी ॥

(विवृत्युपेता)

(मंगलाचरणम्)

श्रीमद्विठ्ठलनाथनाम जगदुद्धारैकहेतुः परः
राधाराधितराधनाय परमप्रेमाप्लुतः सर्वदा॥
भक्त्यै प्रादुर्भूय तत्र सकलां बाधां विभेत्तुं वरः
राधामोदविभावभावभरितं स्तोत्रं चकार स्वयम्॥१॥
द्वापरे व्रजभूमौ यौ राधाराध्यस्वरूपिणौ॥
ब्राह्मैक्यं तद् द्विधा भूतं रन्तुं रत्यात्मरूपिणौ॥२॥
राधाप्रेष्ठः स्तवप्रार्थ्यो राधाकैंकर्यप्रार्थना॥
प्रार्थकोऽस्मत्प्रभुः श्रीमद्वल्लभात्मजविठ्ठलः॥३॥
पितृ-प्रवर्तित-पथ-प्रचार-सुविचारकः॥
स्तोत्रकृद्विठ्ठलेशो हि राधानन्दभरः स्वतः॥४॥
मुधामुं बहवो मुग्धाः मन्यन्तेऽन्यप्रभावितम्॥
तत् पितृवचनैः पुत्रस्तोत्रव्याख्यानमुच्यते॥५॥
अतो मयि प्रसीदेतां समनामाभिसन्धिनौ॥
स्तोत्रकृत्प्रभुचरणः श्रीतातचरणस्तथा॥६॥

(उपक्रमः)

अथ खलु साकारब्रह्मवादाश्रितस्य श्रीकृष्णानुग्रहजात- तत्-प्रपत्ति-भक्ति-मार्गस्य परमोपदेशकैः श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैः परब्रह्मणः परमात्मनो भगवतः श्रीकृष्णस्य व्रजभूमौ अवतारकाले परब्रह्मणः आत्मरतिरूपायाः, परमात्मनो भक्त्यानन्दरूपायाः, भगवन्नारायणस्य मूर्तिमत्याः लक्ष्मीरूपायाः, एतत्सर्वरूपैक-नीडाया नन्दनन्दनश्रीकृष्णस्य प्रेयस्याः वृषभानुजायाः राधायाः स्वरूपं यथा

तत्र-तत्र प्रतिपादितं तथा तद्वचनैरेव तदात्मजविरचितस्य स्तोत्रस्य व्याख्यानं, व्युत्क्रमवद् भासमानमपि, पितृपुत्रयोः एकवाक्यताप्रसाधनाय इह ममापि प्रतिपिपादयिषितमिति तदर्थं प्रयते :

तथाहि सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः प्रतिपादितं :

''काचिद् भगवतः सिद्धिः अस्ति 'राधस्'शब्दवाच्या. न तादृशी सिद्धि क्वचिद् अन्यत्र नवा ततोऽपि अधिका. तया सिद्ध्या भगवान् स्वगृहएव रमते. तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म. 'रंस्यन्' इति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोतीति. एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण न अन्यत्र रंस्यतीति भगवदीयो रसः तत्रैव प्राप्तव्यः.''

(सुबो.२।४।१४) इति.

अत्र 'राधस्'नामिकायाः शक्तेः भगवद्धामरूपाक्षरानन्दात्मकत्वं भगवतः आधिदैविकात्मिकाधिभौतिकत्रिविधलीलासु त्रैविध्यभावापन्नायाः तस्याः स्वाभाविकनित्यसहचारिणीत्वम् एतेन सिद्धान्तितम्.

अन्यत्रापि च :

''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव... (द्रष्ट.''सवै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधाऽपातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्'' बृह.उप.१।४।३) **सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थं तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा... यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत्**

करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति इति बोधितम्. अनेन अवतारेषु भोग्या लक्ष्मीरूपाएव, इति स्वरूपतो आवेशतो वा.''

(सुबो.२।९।१३-१४) इति.

तथाच अक्षरात्मक-व्यापिवैकुण्ठवद् भूमावपि अवतारदशायां सर्वासामपि भगवत्प्रियाणां श्रीरूपता तथाच ब्राह्मिकात्मरतिरूपता अक्षुण्णैवेति अनन्तनामरूपकर्मवैविध्यवती सकलापि सृष्टिरियं परब्रह्मण: परमात्मनो भगवतस्य श्रीलीलैव.

सेयं 'राधस्'-'रमा'-'श्री'-लक्ष्मी'-'सीता'-'राधा'-'रुक्मिणी' इत्याद्य-नेकनामवती परब्रह्मण: खलु आत्मरतिरूपा शक्ति: ब्रह्मानन्दरूपा सती भक्ते: पूर्वोत्तरांशयो: माहात्म्यज्ञान-सुदृढसर्वतोधिकस्नेहरूपयो: भगवदनुगृहीत-जीवात्मसु स्वधाममाहात्म्य-सर्वतोधिकस्वरति-रूपधर्मभेदाभ्यां पूर्णभक्तिप्रादुर्भा-वने भृशमेव उपकारिणी भवति. तथाच उक्तं :

''ननु सर्वस्यापि भगवत्त्वात् पुत्रादिषु रति: सिद्धैव, तद् अलं प्रार्थनया इत्यत: आह 'अनन्ते' इति, देशकालवस्त्वपरि-च्छिन्ने. तादृशत्वं न पुत्रादिषु... नच सर्वदैव रति: प्रार्थ्या, रते: मनोधर्मत्वेन सर्वदा स्फुरणे देहादिधर्मनिर्वाहोऽपि न स्यात्; तादृशरतौ प्रमाणसाधनत्वाभावात् च... नवा इच्छाविशेषो रति:, विशेषस्य निर्वक्तुम् अशक्यत्वात्. सुखविषयिणी इच्छा न रति:... अत: स्नेह: पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धाद् अन्यत्र भासते, उष्णस्पर्शवत्. यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशय:. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम् एवम् अध्यासेन अन्यत्रापि.''

(सुबो.१।१९।१६) इति.

इत्थं प्रतिपादयता श्रीमदाचार्यचरणेन भक्तेः उत्तरांशः स्नेहो भगवन्नैकट्यात्मना निरूपितः. नच सर्वोपादानरूपस्य अंशिनः स्वात्मकैः अंशैः सह नैकट्यं स्वाभाविकमेवेति न तत्र कर्मज्ञानभक्त्यादिसाधनापेक्षा इति वाच्यं, पाञ्चभौतिकस्य देहस्य तदंशत्वेऽपि तत्त्वाज्ञानाद् भेदबुद्धिवद् इहापि अंशिब्रह्माज्ञानाद् भेदबुद्धिप्रयुक्ता ब्रह्मतो दूरता न न शक्येति.

किञ्च अन्यदपि श्रीमदाचार्यचरणैः उक्तं यद् ——

''भगवद्भजने लक्ष्मीरूपा सम्पत्तिः अपेक्ष्यते सैव, भगवन्निष्ठा, तत्र विनियोगम् अर्हति. अन्यां भगवानपि न गृह्णीयात्. अतो भजनौपयिकां सम्पत्तिम् इच्छन् मायामेव भजेत. तत्र एका माया व्यामोहिका(तामसी) एका जगत्कारणभूता(राजसी), ते उभे न सेव्ये, अन्यत्र अधिकृतत्वात्. देवतारूपा सात्त्विकी, मोक्षदातुः वासुदेवस्य मोक्षदानार्थमेव तादृशं रूपं गृहीतवतः तदुपयोगिसाधनसम्पादनार्थं, लक्ष्मीरेव; 'विष्णोः देहानुरूपां वै करोति एषा आत्मनः तनुम्' इति वाक्यात् तद्भार्यारूपेण मायारूपं गृहीतवती *मया सह आयातव्यम्* इति नियोगकरणाद् 'माया' इति अभिधानम्.''

(सुबो.२।३।९) इति.

तदेतत् सच्चिदानन्दरूपस्य तस्य सृष्टिलीलाकर्तुः आधिभौतिकसृष्टिजनने आत्मरतिररूपायाएव जगत्कारणीभूतसदंशरूपराजसप्रकृतिभावापन्नायाः मायात्वं द्योतयति. तत्र चिदंशभूतजीवात्मनां जन्मादिकर्मापेक्षित-तामसाविद्यकव्यामोहनार्थं व्यामोहकमायारूपधारणं चापि अर्थाद् उक्तमेव.

तस्याएतस्याः व्यामोहिकायाः मायायाः स्वरूपं निबन्धोक्तप्रकाराद् भेदेनापि आचार्यैः सुबोधिन्यां निरूपितम्. तथाहि :

''अत्र प्रथमम् अविद्यायाः पर्वणां मध्ये [१]तामिस्रं भगवतो

वैमुख्येन(स्वरूपविस्मृत्या) महाभोगेच्छा परमं बाधकम्. तदनु [२] भोगेच्छा(अन्त:करणाध्यासो अन्धतामिस्ररूप:). ततोऽपि [३] अज्ञानं(तमोरूपं) स्वल्पम्. ततोऽपि [४] पुत्रादिषु विकलेषु सकलेषु अहमेव विकलादि:(मोहरूप:) इति. एतस्यापि वैराग्यजनकत्वाद् अज्ञानात् समीचीनता. ततोऽपि [५] देहाहंकारो(-महातमोरूप:) भगवत्सेवौपयिकत्वाद् उत्कृष्ट:.''

(सुबो.३।२०।१८) इत्यत्र.

सैवेयं ब्रह्मात्मरति: जीवात्मसु भगवल्लीलौपयिकविविधव्यामोहनादिकार्यसिद्ध्यर्थं जीवानां कृते अनात्मभूतेषु खलु देहेन्द्रियविषयादिषु व्यामोहात्मकरतयोऽपि जनयति इति स्फुटीकृतम्. तासाञ्चैतासां शक्तीनां, ऋते आत्मरतिरूपाश्रीं, न स्वार्थे बाह्ये प्राकट्यं किमुत स्वीयांशै: साकं पुष्टिमर्यादाप्रवाहादिविविधक्रीडाकरणार्थमेव.

तदुक्तं :

''एतद् ईशनम् ईशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणै: न युज्यते सदा आत्मस्थै: यथा अबुद्धि: तदाश्रया : ... ननु आपाततो अग्निस्पर्शे दाहो न जातइति नियतसम्बन्धेऽपि न जायते. तथा भगवत्यपि भविष्यति इति आशंक्य आह 'सदा आत्मस्थै:' इति, सर्वाश्रयत्वाद् भगवत: संयुक्तसमवायेन वा सदा आत्मन्येव ते धर्मा: वर्तन्ते. ते यदि स्वाश्रये स्वकार्यं सम्पादयेयु: भगवदाश्रिता: न भवेयु:; भगवतो वा सर्वाश्रयत्वं धर्मो न भवेत्... अत्र दृष्टान्तम् आह 'यथा अबुद्धि: तदाश्रय:' इति. महाराजसमीपे शस्त्रपाशादिकं न स्वाश्रये किञ्चित् करोति. अन्यार्थत्वेन तस्य संग्रहात् 'श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्' इति वाक्ये भगवदाश्रयत्वेन

अमतिः=अविद्या निरूपिता. मतिः=विद्या तत्प्रतिस्पर्धिनी सपत्नीः. यथा अविद्या भगवति स्वकार्यं न करोति तथा एतेऽपि विषयाः इति अर्थः, 'एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव... बन्धो अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः' इति वाक्याद् न विषयाणां स्वाश्रयदुष्टतासम्पादकत्वम्. इदानीं रमणस्य ईश्वरबोधकत्वम्''.

(सुबो.१।१३।३८) इति

अतोहि यथा ब्रह्मणो लीलायां नैकरूपता तथा तदात्मरतेरपि तल्लीलार्थं नैकरूपता इति सिद्धान्तः.

एतदुक्तं भवति : सृष्टौ तावद् भगवता खलु अविद्याप्रधानाः विद्याप्रधानाः पुष्टिप्रधानाः इत्येवं त्रिविधाअपि जीवात्मानो लीलौपयिकचिदंशत्वेन प्रादुर्भावयितुं अभिलषिताः स्वीयाविद्यादिविविधशक्तीनां क्षेत्रीभूतविषयत्वेन. ततश्च एषा आत्मरतिरेव तेषु-तेषु जीवात्मसु पुष्टिविद्याविद्यादिशक्तितया अनुप्रविष्टा सती तांस्तान् जीवान् प्रवाहमर्यादापुष्टिसर्गेषु जननजीवनादिक्रियासु नयति स्थापयति प्रत्यानयति च, स्वधर्मिणो लीलानन्दप्रदानायैव. तस्मादेतस्मात् सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणो अनुगुणाः क्रियाशक्तिः ज्ञानशक्तिः रतिशक्तिः चेति तत्तच्छक्तिप्रधानाः प्रवाहमर्यादापुष्टिमार्गाअपि प्रादुर्बभूवुः.

इदमिह विशेषतो अवधेयं :

अवियुक्तात्मरतेराधारतोक्ता द्विविधैव सा॥
स्वीयैकविषया चाद्या द्वितीया स्वाभिव्यापिनी॥१॥
सृष्टिलीलोत्तरा चान्या तृतीयापि तथा मता॥
स्वस्यैवोपश्लैषिकी सा मूलकार्यविभेदतः॥२॥
गुणातीता तु या मूलरूपस्यैवावलम्बिनी॥
कार्यरूपावलम्बित्वे मुक्तिसंसृतिदायिका॥३॥

सगुणा सात्मरतेरंशरूपिणी श्रुतिवाक्यतः ।।
''यो वै भूमा सुखं तद्धि नाल्पीये सुखमस्ति वै ।।४।।
एतस्यैवान्यभूतानि मात्राएवोपभुञ्जते'' ।।
ततश्चाल्पतया दुःखसंश्लेषोऽविद्यया मतः ।।५।।
कामक्रोधादिषड्दोषेष्वभिव्यक्तिस्तु प्राकृताः ।।
सुखाभासस्वरूपत्वं दुःखसंश्लिष्टताकृतम् ।।६।।
आत्मनोऽतीन्द्रियत्वेन तत्सुखं प्राकृतं नहि ।।
तथाप्यंशतया तत्र मात्रामात्रोपजीवनम् ।।७।।
''उद्धरेदात्मनात्मानं'' गीतायाः वचनात्तथा ।।
आत्मानन्दाप्ति निष्कामकर्मयोगादिभिर्मता ।।८।।
फलतोऽप्राकृतत्वेऽपि सिद्धिः प्राकृतसाधनैः ।।
आविद्यकाहंममतायाअतीन्द्रिययोजनात् ।।९।।
परमात्मरतिर्यातु ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' ।।
वचनान् निर्गुणैवैषा स्वरतिस्स्वावलम्बिनी ।।१०।।
तस्मादंशद्वयं भक्तेर्भंग्यन्तरनिबोधितम् ।।
या प्रपत्तिरनन्या स्यात् स्यात्तत्तादात्म्यबोधनात् ।।११।।
अथचानन्यरागोऽस्मिन् द्वितीयांशनियामकम् ।।
भक्तेरस्यास्तु सिद्धिर्हि ''नायमात्मे''ति वाक्यतः ।।१२।।
इह पुष्टेर्निमित्तत्वं रतिसंस्कारकं मतम् ।।
संस्कृतात्मरतिः पुष्ट्या भक्तिरूपा भवेदिति ।।१३।।
प्रसादोऽस्या सदा राधाभावरूपो भवेत् तदा ।।
राधाप्रसादः स्तोत्रेऽतो सर्वबाधानिराकृतौ ।।१४।।
स्तूयते प्रभुचरणैस्तु कृष्णभक्त्यै विशेषतः ।।
कृष्णेनानुग्रहीतात्मरतिरत्र प्रशंस्यते ।।१५।।

(प्रथमकारिकाविवृतिः)

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे ।।

यदि वदति च किञ्चत् स्मेरहासोदितश्री-
द्विजवरमणिपंक्त्या मुक्तिशुक्त्या तदा किम् ॥१॥

कृपयति इति. श्रीकृष्णप्रीतिमूर्तिरूपायाः राधायाः कृपातु श्रीकृष्णभजनाय उद्यते जीवात्मनि तस्याः स्वरूपावेशो भावावेशो वेति. ननु अत्र उभयतः पाशारज्जुना बद्धैव पुष्टिभक्तिः प्रतिभाति, श्रीकृष्णानुग्रहोपलब्धौ राधाकृपापात्रता राधाकृपोपलब्ध्या च श्रीकृष्णभजने सर्वबाधानिवृत्तिः तयाच श्रीकृष्णानुग्रहजाता भक्तिसम्पत्तिरपि इति चेद्

न, यस्माद् जीवात्मसु दैवासुरसम्पद्विभागो न तावद् जीवकर्मैकहेतुको अपितु भगवत्कृतएव **''अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां'', ''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः'', ''दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैव आसुरएव च... प्रवृत्तिं च निवृत्तिं जना न विदुः आसुराः'',''मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''** (भग.गीता.७।५, १५।७, १६।५-७, १५।१५) इत्येवमादिवचनेभ्यः. अतएव श्रीमदाचार्या 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'ग्रन्थे **''पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथग् जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च... सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम्. इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः''** (पु.प्र.म.१-९) इति वचनकदम्बैः प्रवाहादिसर्गरूपजीवस्वरूपवरणं तदनु जन्ममरणचक्रान्तःपातिनो देहस्य वरणं तदनु तेन-तेन देहेन अनुष्ठीयमानक्रियारूपस्य साधनस्य वरणं, तदुत्तरं तस्मै दीयमानफलवरणं च द्योतयन्ति. सृष्टिरूपायां खलु भगवल्लीलायां चातो भगवतो यद् अभीष्टं तत् साक्षात्परम्परया वा सम्पाद्यमानं भवति. अतोहि जीवसर्गवरणे यद्यपि भगवानेव हेतुः तथापि तत्तल्लीलार्थं तत्तज्जीवेषु तत्तद्भोग्यभावानुगुण्यबीजभावसंरक्षणे श्रीरूपा राधापि हेतुतया चकास्ति. तस्मिन्नेतस्मिन् बीजभावेतु **''सरस्वती कर्महेतुः... भक्तिहेतुस्तु यमुना... ज्ञानहेतुस्तु गंगा स्याद्'', ''नमोऽस्तु यमुने! सदा... प्रियो भवति सेवनात् तव... न दुर्लभतमा रतिः मुररिपौ''** (सुबो.३।२।२१, यमु.६-७)

इत्यादिनिरूपणोपलम्भेन त्रिविधेषु मार्गेषु व्यामोहनार्थं यथा भगवतो अविद्याशक्तिः उपयुज्यते; तथा सहस्रपरिवत्सरेषु कर्मफलप्रवाहान्तःपातिजन्ममरणावर्त्तन्यां निमज्जतोऽपि जीवस्य बीजभावसंरक्षणे आत्मरतिरूपा आद्या राधाशक्तिरपि उपयुज्यते. अन्तेच यमुनारूपा भगवतो हि पुष्टिभक्तिशक्तिः दुर्लभां मुकुन्दरतिं सुलभां करोति इति प्रक्रियाविदां हार्दम्.

नचातो भगवतः आत्मरतिरूपायाः राधसुशक्तेः "**स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि! प्रिये! हरेः यदनुसेवया भवति सौख्यम् आमोक्षतः. इयं तव कथा अधिका सकलगोपिकासंगमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः संगमः**" (यमु.८) इति यमुनायाः लक्ष्मीतोऽपि आधिक्यनिरूपणोपलम्भेन आत्मरतिरूपायाः तस्याः लक्ष्म्यपरपर्याय'राधस्'नामवत्याः शक्तेः पुष्टिमार्गे अन्यथासिद्धिः आशंकनीया. यस्माद् उक्तमेव पुरस्ताद् "**यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति इति बोधितम्. अनेन अवतारेषु भोग्या लक्ष्मीरूपाएव**" (यथापूर्वोक्तम्) श्रीयमुनायाअपि व्रजभूमौ भगवत्प्रियात्वं राधांशतयैव. नच तदा राधिकैव भवतु सर्वकार्यसाधिका किमनया अन्तर्गडुभूतया तुर्यप्रियया यमुनया इति वाच्यं, "**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता हि अस्य हरयः... बहूनि च अनन्तानि च**" (बृह.उप.२।५।१९) "**अनन्तो अनन्तशक्तिधृग्**" (भाग.पुरा.१०।१७।२५) इत्येवमादिश्रुतिपुराणवचनेभ्यो जीवात्मनां सर्गवरणं जन्म-तदन्तराययोरपि वरणं, तत्र पुनः फलदानाय अभीष्टे जन्मनि साधनवरणं फलवरणं चेति तथातथाविध-वरणे तत्तच्छक्तिः भगवता व्यापार्यते. ततश्च सर्गवरणकर्ता यथा साक्षाद् भगवानेव तथा तदनुगुणबीजभावसंरक्षणकर्त्री भगवति जायमानभक्तिभावोपादानभूता श्रीरूपा आत्मरतिरपि. तथा पुनः "**ते (देवाः) होचुः... एषा ते अस्मद्विद्या आत्मविद्या च आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता**", "**आचार्यवान् पुरुषो वेद**" (छान्दो.उप.४।१४।१, ६।१४।२) इति "**आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति**" (भाग.पुरा.११।२९।६) इत्यादिवचनेभ्यो भगवतो विद्याशक्त्युद्बोधकाचार्यानुग्रहोऽपि अपेक्षितएव. पुष्टिजीवेषु भगवन्माहात्म्यज्ञानोपदेशेन भगवतो अविद्याशक्तेः उपरोधेन सैवात्मरतेः

आहंकारिक-मामकारिकविषयेभ्यो वारणेतु सा विद्याशक्तिः पुष्टिशक्तिः वा भक्तिरूपतां व्यञ्जयन्ती पुनः भगवद्विषयिणी भवति. कर्हिचिद् पुष्टिशक्तिरूपा यमुनापि स्वप्रमेयबलाद् पुष्टिजीवान् स्वारसिकतया भगवदभिमुखान् करोति. अतः सापि श्रीमदाचार्यचरणेन श्रीमत्प्रभुचरणेन च आश्रयणीयतया प्रतिपादिता. तथाहि "**भगवान् विरहं दत्त्वा भाववृद्धिं करोति हि तथैव यमुना स्वामिस्मारणात् स्वीयदर्शनात्, अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्धकारणात् तापक्लेशप्रदानेन निजानां भाववर्धका**" (यमु.विवृ.टिप्प.१) इति श्रीहरिधनचरणैः. अत्र 'भाववृद्धिः' इति पदेन पुष्टिजीवेषु श्रीशक्त्याः सहस्रपरिवत्सरेषु संरक्षितबीजभावस्याः भगवद्भक्तिभावोपादानीभूतायाः पुष्टिशक्त्या विद्याशक्त्या वा सञ्जातो यो मूलरूपेतरासक्तिनिरासो तेन शुद्धायाः मूलरूपभगवदभिमुखीभावः इति अर्थो बोध्यः.

रासपञ्चाध्याय्यां च एतस्याएव आत्मरतिरूपायाः श्रियाः परमानुग्रहभाक्षु जीवात्मसु समाविष्टाः अंशरूपाः सहस्रपरिवत्सरं यावत् सर्वत्र परिभ्रामिकाः शक्तयः सन्ति इति प्रतिपादनम्.

तदुक्तं :

> "**चर्षण्यः सर्वत्र परिभ्रमणशक्तयः. ताः सर्वत्र परिभ्रान्ताअपि न क्वापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः. यदिवा कश्चिन् मुच्येत तथापि ताः न प्रवेशं लभन्ते; ततः पूर्वमेव ताः निवृत्ताः भवन्ति. अतः तासां शोकः तिष्ठत्येव, चर्षणीसहितानां जीवानां वा. तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः, शक्तिसहितानां परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात्. प्रायेण तदानीन्तनाः जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः.**"
>
> (सुबो.१०।२६।२).

इति सुबोधिन्याम्. अतः परमानन्दात्मक-भजनानन्दानुभवाधिकारे

आत्मरतिरूपाया: राधाया: प्रसाद: प्रभुचरणेन प्रार्थ्यते. यद्यपि वृन्दावनीयरासलीलायान्तु ब्रह्मविद्यात्मकवेणुनादश्रावणेनैव व्रजांगनासु सर्वात्मभावपूर्विका भगवदेकमुग्धतारूपा निरुद्धता सम्पादितेति तत्र भगवानेव आचार्यरूपो अभूद्.

तथाहि :

"का स्त्री अंग! ते [1]कल[2]पदा[3]ऽमृत[4]वेणु[5]गीतसम्मोहिता : (इत्यत्र) 'सम्मोह:' पञ्चपर्वाऽविद्यास्थानीयै:. भगवत्सम्बन्धाद् अविद्यातु न बाधते... वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलम् आश्रित्य अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्था: स्यु:... अतो मार्गान्तरविरोधो(मोहोपमर्दैन तदानन्दो अनुभूतो मर्यादामार्गे भवति इति) मार्गान्तरे न उपयुज्यतइति मर्यादाभंगो न अत्र दूषणम्."

(सुबो.१०।२६।४०).

इत्यत्र सुष्ठुतया प्रतिपादिता. अतो **यदि राधा कृपयति तदा अशेषबाधा बाधिता भवति पुष्टिमर्यादयोश्च प्राप्तव्यं अपरं किमपि न अवशिष्टम्** इति अन्वय:.

तथाहि अविद्या तावद् यद्यपि देहेन्द्रियप्राणान्त:करणाध्यासरूपा आहंकारिक-मामकारिकविषयेषु जीवात्मानं बन्धयन्त्यपि राधाप्रसादेतु सुतराम् सा अकिञ्चित्कर्येव सन्तिष्ठते. यतो देहेन्द्रियप्राणान्त:करणाध्यास-मोहापरपर्यायस्वरूपविस्मृतीअपि भगवतो मूलरूपावगाहिनीम् आत्मरतिं बाधितुम् अक्षमे भवन्त्यौ साधकतामेव समावहेते.

तदुक्तं :

"साधनं भक्ति:, मोक्ष: साध्य:. तथापि साधनदशैव

उत्तमा तत्र हेतुः : योहि मुच्यते स संघातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते... तस्य स्वरूपानन्दः स्वरूपेण वा आनन्दानुभवः. स्वतन्त्रभक्तानान्तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः."

(त.दी.नि.प्र.१।५०-५१)

इति अनुक्तैव सिद्धा अविद्यादोषाणां अबाधकता तथापि दैवसर्गजाता धर्ममोक्षपुरुषार्थरूपा विद्याजनिता बाधापि निवर्तते चेत् पुष्टिभक्तौ बाधसम्भावना तदवस्थैवेति आशंकानिरासाय आहुः **बाधिता अशेषबाधा** इति.

ननु सर्वमिदं विपरीतमिव आभाति भगवतोहि निजभक्तासमाह्वानार्थक-वेणोः ब्रह्मविद्यारूपत्वं तस्याएव विद्यायाः पुनः भजनानन्दानुभवे बाधकत्वमपि इति किं केन सम्बध्यते? इति चेद् न, विद्यावैविध्यात्. तथाहि : ब्रह्मात्म्यैक्यवैविध्यख्यापिका स्वयंप्रकाशरूपेण भगवता लोके स्वप्रमापकतया प्रकटिता एका त्रयीविद्या; अपरातु अविद्योपरमाय भगवतः शक्तिरूपा पञ्चपर्वात्मिका विद्या च. तदुक्तं "**विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव न अन्यस्य... स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्वदेहेन्द्रियासवो अन्तःकरणम् एषां हि चतुर्धा अध्यास उच्यते. पञ्चपर्वातु अविद्या इयं यद्बद्धो याति संसृतिं विद्यया अविद्यानाशे जीवो मुक्तो भविष्यति. देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति हि**" (त.दी.नि.१।३१-३४) इति. तस्माद् बन्धकरी अविद्यावद् मोक्षकरी विद्या इत्येवम् उभेअपि ते भगवच्छक्तिरूपे सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायया आत्मसृष्टजीवेषु लीलया अनुप्रविष्टे भवतः. अतो अतिरिक्तैव प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलात्मना ब्रह्मस्वरूपबोधिका त्रयीविद्या. प्रमाणबलेन भगवदाभिमुख्यसम्पादने त्रयीविद्या तावद् ब्रह्मणो नामस्वरूपात्मिका ब्रह्मैव. एतदानुषंगिकी भूत्वा पञ्चपर्वात्मिकातु भगवतो हि अविद्याशक्तिवद् विद्याशक्तिरपि भवति. जीवात्मनां कृते एका बन्धकरी अपरातु मोक्षकरी परन्तु ब्रह्मस्वरूपावगमेतु उभयोरपि तच्छक्तित्वाविशेषता. ततो विभागे बाधकता तथा लीलौपकरणत्वावगमे तु इतरेतराविभागेनैव

उपकारिता चापि.

अतएव उच्यते :

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. अन्यदेव आहुः विद्यया अन्यद् आहुः अविद्यया... विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते."

(ईश.उप.९-११)

इतीयं खलु परा ब्रह्मविद्या. यथाच उच्यते **"नानातु विद्या अविद्या... यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति"** (छान्दो.उप.१।१।१०) इति. अतोहि भगवत्कृतवेणुवादनन्तु ब्रह्मविद्यारूपं यदंगतया पञ्चपर्वा विद्यापि शेषभावं वहति.

नच एवं सति महाप्रभुणा **"ताः मन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ये त्यक्तलोकधर्माः च : (इत्यत्र सुबोधिन्यां) त्यक्तो लोकधर्मो वैदिकश्च यैः चकारात् सर्वे लौकिकधर्माः वेदैश्च परिगृहीताः... अतः तेषां न कोऽपि उपद्रवः"** (सुबो.१०।४३।४) इति नैवं वक्तव्यम् आसीद् इति शंकनीयं, **"मानमेयैः साधनैश्च फलैश्चापि पृथक्पृथग् भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन् उद्धारकः परः... भगवच्चरिते यस्मात् प्रमाणम् इह मृग्यते, अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्"** (त.दी.नि.३।१०।४१-४४) इति प्रतिपादितत्वादेव. अतोहि अनवतारकाले **"न अवेदविद् मनुते तं बृहन्तम्", "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो"** (शाट्या.उप.४, भग.गीता.१५।१५) इति वैदिकश्रुतिस्मृतिभिरेव ब्रह्मस्वरूपावबोधः औत्सर्गिकः. अवतारकालेतु अपवादतया वेदोक्ताद् अन्यथापि अज्ञानाद् अन्यथाज्ञानाद् वापि बोधः शक्यतएव. सतु भक्तभावानुकारिणो भगवतो वेदातीतस्वरूपगुणधर्मलीलादिभि-रपि सञ्जायते. अतो वेदोक्तस्वरूपैकपरतापि क्वचिद् राधिकारूपात्मरतेः

तोषाकारिण्यां लीलायां बाधिकापि भवितुम् अर्हति. प्रसन्नायान्तु खलु राधायां वेदमर्यादाबाधाअपि सर्वा: बाधिता: भवन्ति इति स्तोत्रकर्तु: आशय:.

नच पुष्टिशक्त्यैव लब्धपदप्रसाराया: मूलभगवत्स्वरूपैकपराया: आत्मरत्या: पुष्टिशक्तेरपि आधिक्यद्योतनं युक्तम् इति वाच्यं, तत्र आहु: **किम् अपरम् अवशिष्टं पुष्टिमर्यादयो: मे** इति.

इदम् अत्र अवधेयम् :

पुष्टिशक्त्या सिद्धायां भगवत्प्रपत्त्यां तावद् अविवेककृता: बह्व्यो बाधा: भवितुम् अर्हन्ति, तद् यथा प्रभो: सर्वसामर्थ्यविस्मृति: स्वस्य कर्तृत्वशक्त्यभिमान: फलादिहठ: धर्माधर्माग्रदर्शनहीन: कर्तव्याग्रह: च इति चतस्र: तावद् अविवेककृता:. भक्तिप्रपत्त्यौपयिकधैर्याभावात्तु : प्रतीकार्यदु:खा-प्रतीकारेण दु:खसहनाग्रहो, अप्रतीकार्यदु:खासहिष्णुता कामसंकल्पजसमारम्भाग्र-हिलता स्वस्मिन् सामर्थ्यभावनामौढ्यम् इत्येवं चतस्र: बाधा:. तथैव अनन्याश्रयविरोधिन्यो बाधासु आद्या शरणभावनाराहित्यं, द्वितीया कायिकवाचिकमानसिकान्यतमवृत्त्या कृतो देवान्तर-मार्गान्तर-साधनान्तराश्रय:, तृतीया भगवति अविश्वासरूपा तुर्यातु प्राप्तस्य सुखादे: ममतातिरेकप्रयुक्तं सेवनम् उतवा सर्वथा कठोरेण ममताराहित्येन स्वतोऽपि उपलब्धस्य सुखादे: असेवनम् इत्येवं चतस्रो बाधा: सम्भवन्ति.

एवमेव पुष्टिशक्त्या सिद्धायां भगवद्भक्तावपि निजाहन्ताममतास्पदयो: अविनियोगरूपा प्रथमा मामकारिका बाधा. द्वितीयापि तथा भक्तीतरप्रयोजनेन कृता भगवत्सेवा. तृतीया स्वभक्त्यहंकारप्रौढ्या सेव्यस्य भगवत्स्वरूपस्य मसृणस्वभावविस्मरणेन भक्तिकर्मानुष्ठानजडता आहंकारिका बाधा. चतुर्थी भगवद्भजने वैकल्पिकाअपि भक्तदेहकुलादिधर्मतया नित्यानां कर्मादीनां देशकालादिकृताशक्यतायामपि नियतभजनांगतामतिमूढता. एतादृशया बाधया भगवद्भक्तौ उद्वेगप्रतिबन्धादयोऽपि आनुषंगिकीं बाधां जनयन्त्येव.

मूलभगवद्विषणी आत्मरतिस्तु राधारूपा सती सर्वाअपि एताः बाधाः दूरीकुर्वन्ती किमपि अवशिष्टं न भावयति.

तदेतद् आभ्यन्तररूपायाः स्थायिभावात्मिकायाः आत्मरतिरूपायाः राधाकृपायाः सिद्धौ यद् भवति तत् प्रतिपाद्य इदानीम् आलम्बनविभावरूपायाः मूर्तिमत्याः राधायाः प्रसादं वर्णयितुम् आहुः **यदि वदति च किञ्चिद्** इत्यादिना **मुक्तिशुक्त्या तदा किम्** इत्यन्तेन.

अयम् आशयो : मर्यादामार्गीयमोक्षप्रकाराः तावत् सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-साररूप्य-सायुज्यादयो नेह विवक्षिताः नापि पुष्टिभक्तौ अभिप्रेताः वापि.

तदुक्तं :

''(भक्तौ)यस्यामेव कवयः आत्मानम् अविरतं विविधवृजिनसंसार-परितापोपतप्यमानम् अनुसवनं स्नापयन्तः तयैव परया निर्वृत्त्याहि अपवर्गम् आत्यन्तिकपरमपुरुषार्थमपि स्वयम् आसादितं नो एव आद्रियन्ते भगवदीयत्वेन परिसमाप्तसर्वार्थाः... अस्तु एवम् अंग! भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्.''

''न नाकपृष्ठं नच पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं न योगसिद्धिः अपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे.''

(भाग.पुरा.५।६।१७-१८, ६।११।२५) इति.

पुष्टिभक्तानान्तु साधनदशापन्नभक्तेरपि मोक्षाधिक्यप्रतिपादनं निबन्धोक्तम् इह पुनरनुसन्धेयम्. अतएव पुष्टिभक्तिभावदार्ढ्येतु चतुर्णामपि पुरुषार्थानां नूनं भगवद्भक्त्यात्मकता वा भगवद्भक्त्यंगता वैव इति निरूपितं **''पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य**

चेद् ध्रुवम्'', ''यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः'' (वृत्रा.च.श्लो.का.,निरो.लक्ष.१९).

श्रीकृष्णस्य पुष्टिभक्त्यात्मकं सेवाभक्तिफलन्तु सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तं चेतस्तत्प्रवणातिशयरूपं सेवायाः मानसीरूपम्, तादृग्भक्तेस्तु फलं भक्तिवर्धिन्युक्तं व्यसनदशासञ्जात-सर्वात्मभावरूपं यच्च निरोधलक्षणे भगवति फलनिरोधात्मना संकीर्तितम्. तदखिलसम्पत्तौ सेवाफलोक्तम् अलौकिकसामर्थ्य-मेव आसक्तिभ्रमन्यायेन भगवत्स्वरूपगुणलीलानां भक्तिभावात्मकाध्यासरूपं हि तत्. तस्मिन्नेतस्मिन् परममोहात्मके अवस्थाने राधानुग्रहवतां सम्पन्ने सति भगवतो लीलाविग्रहवपुः पुष्टिसायुज्यरूपा भक्तिबाधा आहोस्विद् तन्नित्यधाम्नि वैकुण्ठादौ वा अलौकिकदेहावाप्तिरूपा बाधापि न भवतीति आहुः **स्मेरहासोदितश्रीर्द्विजवरमणिपंक्त्या यदि किञ्चिद् वदति तदा मुक्तिशुक्त्या किम्?** इति अन्वयः.

एतेन **''भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेद्''**(पु.प्र.म.१७) निजपितृचरणोक्तभावएव उपबृंहितः. **स्मेरहासः** ईषद् हासः.

तदुक्तं सुबोधिन्यां :

> **''स्नेहकलाः मोहादयो, द्विजानि दन्ताः, हासो हास्यं प्राणिनाम् उन्मादकर्त्री मायैव. चकाराद् अनुन्मादकरी भक्ति(मोह)रूपा च'', ''ज्ञानेऽपि जाते तदुत्तरा भक्तिः चेद् न भवेत् तदा फलं न भवेद् इति सर्वथा मोहाभावे भक्तिः न भवेदिति हासं ध्येयत्वेन उक्तम्'', ''ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः. हासो हि सर्वरसोद्बोधकरूपो ज्ञानं च आविर्भूतम्. ब्रह्मानन्देतु द्वयमपि अव्यक्तं, जले निमग्नस्य जलपानवद्. अनुभवरसोहि भिन्नतया स्थितौ भवति**

अतो भक्तिरूपमुखस्य दृष्टत्वाद् दास्यमेव फलं न मोक्ष:."

(सुबो.२।१।३१, ३।२८।३२, १०।२६।३९) इति.

तथाच **स्मेरहासे उदिता श्री:** येषां **द्विजवराणां** श्रेष्ठदन्तानाम् इति विग्रह:. अत्र तच्छ्रैष्ठ्यं किंकृतं किम्प्रयोजनकं च इति निरूपयन्ति **मणिपंक्त्या** इति, माणिक्यमणियुक्तमुक्तापंक्तिरिव दन्तानां पंक्ति: द्योतिता. शुक्तौतु मुक्त्युद्भस्थानतया स्पृहणीयत्वेऽपि माणिक्यमणियुक्तमुक्तानाम् तत्र अनुद्भवाद् ब्रह्मानन्दसायुज्यात्मिका मुक्तिकात: श्रीमुखावलोकनजन्यं श्रैष्ठ्यं भगवदासक्तिरूपमोहजनकत्वं च अलौकिकसामर्थ्यसाधकं चमत्कारविशेषाधायकमेवेति. एतेन लौकिकशरीरे अलौकिकरसानुभवो अलौकिके च पुन: शरीरे लोकवल्लीलारसानुभवो यथा चमत्कारकारी भवति, न तथा लौकिकशरीरे लौकिकरसानुभवो अलौकिकशरीरे इहलोकातीतदेशकालवस्त्वनुभवो वा भवितुम् अर्हति. ततश्च तथाविधस्मेरहासोदितश्रीदन्तपंक्तिं दर्शयन्ती राधा यदि किञ्चिदपि वदेत् चेत् तर्हि केवलया मुक्तिशुक्त्या भक्तिभावात्मकमनोरथपूर्ति: नैव भवितुं शक्नोति. मुक्ते: शुक्ति: मुक्तिशुक्ति: मुक्त्यर्था वा या शुक्ति: ततो मुक्तीनां दन्तपंक्तौ योजितवत्तया नि:साररूपत्वेन न किमपि प्रयोजनम् इति भाव:.

एवं यस्या: कैंकर्यं प्रार्थनीयतया अभिलषितं तस्या: श्रीकृष्णानुरागजनने अन्यानुरागवारणे च स्वरूपसामर्थ्यमाहात्म्ये वर्णयित्वा योहि भगवान् इत्थं स्वात्मानन्दरमणमेव जडजीवेश्वरादिरूपै: रन्तुं जडेषु तावद् प्रकृतिमहदहंकारमनस्तन्मात्राभूतेन्द्रियादिभेदै:, जीवेषु पुष्टिमार्यादाप्रवाहान्त:पातिजलचरभूचरनभश्चरादिभेदै:, ईश्वरेषु स्वविविधशक्तिगुणधर्मस्वरूपादिदेवीदेवभेदै: आत्मानं विभज्यापि एकाद्वितीयाविभक्तात्मा: य: क्रीडति सर्वनामरूपकर्माधारतया तमेव प्रार्थ्यं परमात्मानं तदात्मरतिकैंकर्याभिलाषाविवशा: प्रभुचरणा: भगवता लीलया गृहीतै: चतुर्भि: प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपै: एकञ्च तत्र हेतुभूतं रूपं तेनापि सम्बोध्य स्तुवन्ति: :

(द्वितीयकारिकाविवृतिः)

[१] श्यामसुन्दर ! [२] शिखण्डशेखर !
[३] स्मेरहास्यमुरलीमनोहर !
[४] राधिकारसिक ! मां [५] कृपानिधे !
स्वप्रियाकिंकरीं कुरु ।।२।।

श्यामसुन्दर! इत्यादिना. **मां स्वप्रियाकिंकरीं** (पाठभेदेन) **किंकरं** वा **कुरु**! इति प्रार्थना. शेषन्तु सम्प्रार्थ्यभगवतः सम्बोधनम्.

इदम् इह आशंक्यते : यदि अत्र प्रार्थ्यः परब्रह्म परमेश्वरो भगवान् सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वरूपः, स्वस्य निजानन्दानुभवाय सृष्टिं विनिर्माय क्रीडति, तदा तादृशस्य तस्य क्रीडांगीकारेतु प्रार्थनैव विसंगता. अथ तादृक्क्रीडाकर्तुरेव प्रार्थनायाः कथञ्चित् चिकीर्षितत्वेतु तत्कृतक्रीडायां तदभीष्टप्रकारे वा विरुच्या प्रार्थयित्रभीष्टप्रकारस्य प्रार्थना चेत् तदा सृष्टेः तादर्थ्यभंगापत्तिः, सेयं भृशं निन्दिता भागवते **"कीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश कुर्युः कर्तुः प्रभोः तव किम् अस्यतः आवहन्ति त्यक्तह्रियः त्वदवरोपितकर्तृवादाः"** (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यत्र.

तदिह स्वयमेव आशंक्य स्वयञ्च समाधत्तं श्रीमदाचार्यचरणैः :

> **"ननु भगवान् सृष्टिं न अर्हति कर्तुं प्रयोजनाभावात्. सहि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति? स्वार्थं करणे जीवानाम् अनुत्पादनं स्यात्; ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत. सर्वेऽपि मार्गाः विरुध्येरन्, बन्धमोक्षाद्यभावाद्; वैचित्र्यम् अज्ञानं च न स्यात्. अतः उभयार्थं जीवार्थं वा कर्तव्यम् इति मन्तव्यम्. तत्र स्वांशे स्वस्य आनन्दपूर्णत्वं भज्येत. परार्थत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्. अतः आह 'अखिलात्मनः' इति, अखिलानाम् आत्मा, आत्मसृष्टेः न वैषम्यादि. आनन्दादिविरोधस्तु नास्ति,**

अखिलत्वात्. यथा खिला आत्मानो न भवन्ति केनापि अंशेन. तेषाञ्च अर्थे सृष्टि: च क्रियते उपभोगश्च सम्पाद्यते. एवं स्वयं य: पूर्ण: आनन्द: तस्यापि आत्मा. भोगादिना तस्यापि उपचयं करोति. तथापि न तस्य अनित्यत्वं न्यूनत्वं वा. तस्माद् उभयविधापि सृष्टि: भगवत: कर्तुं युक्ता'', ''पुष्टि: स्वार्था(जीवार्था) परार्था(परस्य भगवतो अर्था) तु भक्ति:'', ''भगवान् पुन: सर्वार्थं सर्वं सृष्टवान् तत: स्वयमपि सर्वं स्वकीयं सर्वार्थं कुर्यात् तदा भगवानिव भवेदिति अवतारतुल्यतया जन्म सफलं भवति; नोचेत् प्रवाहतुल्यएव स्यात्.''

(सुबो.२।५।१७, त.दी.नि.३।६।१३, १०।१९।३५) इति.

अत: पुष्टीतरजीवात्मनां कृते भगवतो भोक्तृभाव: प्रधान: परन्तु पुष्टिजीवात्मनां कृतेतु भगवतो भोग्यभावएव प्रधान:, पुष्टिजीवा: भगवत्स्वरूपगुणलीलानन्दोपभोगार्थं सृष्टाइति. अन्यास्तु एकस्याद्वितीयस्य आत्मरतिवैविध्यार्थं बहुभवनसंकल्पेन भोग्यतयैवेति विवेक:. प्राधान्यं तावद् अप्राधान्यासहिष्णु: न भवतीति यदा यस्य प्राधान्यं तदा इतराप्राधान्यं तत्र गूढभावताम् आवहति, **''तस्माद् जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयो भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि: न अन्यथा''** (पु.प्र.म.१२)इति उक्ते:. अतो यदर्थं भोक्तृतया सृष्टा: तत्र भोग्ये आनन्दोपभोगोपयुक्ता रुचि: आग्रहो वा याञ्चा वा अभिलाषापि वा न भगवल्लीलाननुरूपा:.

श्यामसुन्दर! इति, यद्यपि एतन्नाम्ना कुमारिकाभि: **''श्यामसुन्दर ते दास्य: करवाम: तव ईक्षितम्''** (भाग.पुरा.१०।१९।१५) इति साधनप्रकरणे सम्बोधितो भगवान् तथापि ''शब्दाद् अर्थबलीयस्त्वम्'' इति न्यायेन अत्र प्रमाणप्रकरणीयगर्गवाक्यप्रत्यभिज्ञानप्राधान्यमेव प्रतिभाति.

तदुक्तं :

"आसन् वर्णाः त्रयोहि अस्य गृह्णतो अनुयुगं तनूः शुक्लो रक्तः तथा पीतः इदानीं कृष्णतां गतः : एनं कृष्णत्वं न प्राप्तवत् किन्तु अयमेव कृष्णत्वं प्राप्तः सर्वगतत्वात् सर्वसमन्वयात् च. अनेन परब्रह्मता उक्तैव "'कृषिः' भूवाचकः शब्दः 'णः' च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परब्रह्म 'कृष्णः' इति अभिधीयते' इति निर्वचनात्. यद्यपि सदैव कृष्णः तथापि... तादृशेष्वपि स्वरूपानन्ददानाद् इदानीमेव कृष्णत्वं प्रकटितवान्."

(सुबो.१०।८।१४) इति.

अतएव छान्दोग्योपनिषत्समाप्तावपि "**शबलाद् श्यामं प्रपद्ये, अश्वइव रोमाणि विधूय पापं, चन्द्रइव राहोः मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरम् अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकम् अभिसम्भवामि**" (छान्दो.उप.८।१३।१) इत्यत्र परस्य ब्रह्मणः श्यामवर्णशालित्वं निरूपितं निजाचार्यैः उपोद्बलितं च "**चतुर्युगेषु च तथा नानारूपवदेव तत्... अथवा शून्यवद् गाढं व्योमवद् ब्रह्म तादृशं... तथा ब्रह्मापि अतिगाढं गम्भीरतया नीलमिव भाति**" (त.दी.नि.प्र.१।७४-७५) इति. अतः श्यामरूपता ब्रह्मणः स्वाभाविकीति नीलायां भूमौ प्रादुर्भूतस्य भगवतः **श्यामसुन्दर** इति सम्बोधनं युक्तमेव. श्यामवर्णस्य तस्य अत्यद्भुतं सौन्दर्यं सर्वस्वांशात्मभावानुरूपत्वं यद्यपि "**मल्लानाम् अशनिः नृणां नरवरः...**" (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इति न्यायेन नैकविधं "**तं यथायथा उपासते तथैव भवति**", "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्**", "**यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**" (मुद्ग.उप.३, भग.गीता.४।११, भाग.पुरा.३।९।११) इति श्रुतिस्मृतिपुराणोदितत्वात्. तथापि भागवतीयनिरोधस्कन्धस्य प्रमाणप्रकरणे तद् द्वेधा प्राधान्येन उपवर्णितं एकं भगवत्स्वभावानुगतं माहात्म्यज्ञानानुषंगिकम् अपरं भक्तभावानुगतं सुदृढस्नेहानुषंगिकं च इति.

तत्र आद्यं तावद् :

“सापि भगवता प्रेरिता भगवदिच्छया प्राप्तज्ञानशक्तिः तन्मध्यस्थितं जगद् दृष्टवती... ‘तत्र’ मुखविवरे ‘विश्वं ददृशे’. ‘विश्वम्’ इति समुदायेन भगवद्रूपम् आधिदैविकं वा, ‘जगद्’ अन्यद् लौकिकं विश्वरूपं, प्रतिकृतिरूपम् इति औपनिषदाः. आधिदैविकम् इति ब्रह्मविदः. कार्यकारणरूप-मिति उभयोः समाधानम् इति विचारकाः... एवम् उपालम्भार्थं प्रवृत्ता शरणं गता जाता.”

(सुबो.१०।८।३७-४२).

तथा द्वितीयमपि :

“एवं ज्ञाने जाते भक्तिसुखं न प्राप्स्यतीति भक्त्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया महत्त्वाद् भक्तार्थं देव्या मायया मोहितवान्”.

(सुबो.१०।८।४३).

“वत्सान् मुञ्चन् क्वचिद् असमये क्रोशसञ्जातहासः, स्तेयं स्वादु अत्ति अथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः मर्कान् भोक्ष्यन्, विभजति स चेद् नात्ति भाण्डं भिनत्ति, द्रव्यालाभे सगृहकुपितो याति अनुक्रोश्य लोकं, हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलुखलाद्यैः, छिद्रंहि अन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्विद्, ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वांगम् अर्थप्रदीपं, काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः, एवं धाष्टर्यानि उशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ... इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी नहि उपालब्धुम् ऐच्छत् : इयन्तु लौकिकन्यायेन प्राप्तमनोरथा लौकिकभावदाढ्र्यादेव दोषान् न गृहीतवती नतु माहात्म्यज्ञा-नात्.”

(भाग.सुबो.१०।८।२९-३१).

इदमिह विशेषतो अवगन्तव्यं : निरोधलीलायां प्रथमं तावत्स्नेहोद्बोधकाभिः लीलाभिः लीलापरिकरेषु तदुत्पत्तिः पश्चात् स्वमाहात्म्यज्ञापनेन तादृक्स्नेहस्य भक्तिरूपतासम्पादनम्. सृष्टिरूपायां लीलायाम् अस्मादृशानां कृते तु पूर्वं पुष्टिशक्त्या वा विद्याशक्त्या वा माहात्म्यज्ञापनं पश्चाद् भगवद्धर्मनिष्ठातो भगवद्भक्तिसम्पत्तिः. आद्ये भगवतः प्रमेयबलं द्वितीये प्रमाणबलं तथाच व्यवस्थितविकल्पो अत्र अवसेयः.

तदुक्तं :

''ये भक्ताः शास्त्ररहिताः... तेषाम् उद्धारकः कृष्णः... येषां निरोधकं शास्त्रं योगादि विनिरूपितं शेषभावः तत्र हरेः न कदाचिद् गमिष्यति.''

''ज्ञानशक्तिः द्विविधा प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन च. प्रमाणं वेदः प्रमेयं भगवद्धर्माः.''

(सुबो.का.१०।१।१७।३-४, सुबो.१०।२।२६).

इह 'वेद'पदेन वेदोपकरणभूतानि सर्वाण्यपि शास्त्राणि उपलक्षितानि तथा 'भगवद्धर्मा' इति पदेन पुष्टिविद्याऽविद्यादिशक्तयो सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोहि अनुगुणाः कर्मज्ञानभक्तिमार्गादयोऽपि विवक्षिताः वेदितव्याः.

शिखण्डशेखर इति. एवं प्रमाणरूपं भगवन्तं सम्बोध्य इदानीं प्रमेयरूपं तं सम्बोधयितुम् आहुः **शिखण्ड...** इति. 'शिखण्ड'शब्दो मयूरपिच्छे चूडायां वा. तयोः अत्रतु मयूरपिच्छमेव अभिप्रेतं शिखावस्थितवस्तुवाचक-'शेखर'शब्दसहभावात्. शिखण्डः शेखरे यस्य स **शिखण्डशेखरः**. तदेतद् निरूपितं **''बर्हो मयूरपिच्छं तदेव आपीडः शिरोभूषणं यस्य वपुषः. नृत्यन्मयूरानुकरणं च एतत्. सच उद्बुद्धरसएव तथेति भगवतोऽपि उद्बुद्धरसात्मकत्वं सूचितं भवति''** (सुबो.१०।१८।५) इत्यनेन एवं सम्बोधनेन भगवतः प्रमेयरूपता लक्षीकृता.

एवं प्रमेयप्रकरणबोधितेन नाम्ना तं सम्बोध्य साधनप्रकरणगतेन नाम्ना सम्बोधयितुम् आहुः **स्मेरहास्यमुरलीमनोहर** इति. स्मेरशव्दो विकशिते ईषद्हास्ययुक्ते च तयोः अत्र विकाशार्थको ग्राह्यः, अग्रे 'हास्य'पदनैरर्थक्यपरि-हारार्थम्. तथाच हास्य-मुरल्योः अधरे सामानाधिकरण्याद् द्वन्द्वो मध्यमपदलोपिसमासो वा हास्ययुक्ता मुरलीः हास्यमुरलीः ताभ्यां मनांसि हरति इति **हास्यमुरलीमनोहरः** स्मेरश्च प्रकाशितः च हास्यमुरलीमनोहरश्च **स्मेरहास्यमुरलीमनोहरः** इति विग्रहः. अथवा किम् अनया कुसृष्ट्या **"स कीचकैः मारुतपूर्णरन्ध्रैः"** ( ) इति न्यायेन भवतु नाम स्मेरहास्ययोः आलंकारिकी एकार्थवाचिता तया मनोहरः इति.

तदेतत् साधनप्रकरणीयः स्मेरहासस्तु प्राकरणिकएव परन्तु मुरल्याः वादनेन मनोहरत्वं यत् तत्तु अग्रिमप्रकरणीयां भाविनीं वृत्तिं समाश्रित्य योजितं तथाहि :

> **"भगवान् आहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः : ततो भगवान् 'आ'=सर्वतो 'अहता'=न केनापि अंशेन दुष्टा वीक्ष्य..., अन्यार्थं संगृहीतेति ईषद्हता वा, ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्यतः त्याज्या इति मत्वापि 'शुद्धभावेन' तासां शुद्धान्तःकरणेन 'प्रसादितो' जातः... वृक्षस्य 'स्कन्धे वासांसि' तासाम् आवरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वा अल्पमोहं कृत्वा 'स्मितसहितो' अन्यथा मुक्ताएव भविष्यन्ति 'प्र'कर्षेण 'उवाच' यथा वाक्यम् अंगीकुर्युः", "न भवतीषु किञ्चित् साध्यम् अस्ति किन्तु 'सिद्धा'एव भवत्यो अतो व्रजं 'यात' गच्छत अलौकिकीं च दृष्टिं दत्त्वा आह 'मया इमा रंस्यथ क्षपा' इति 'इमाः' परिदृश्यमाना क्षपा मय्येव विद्यमानाः क्षपाः रात्रीः 'मया' सह 'रंस्यथ' रमणं करिष्यथ रमणसिहताः ताः प्रदर्शिताइति न सन्देहः".**
>
> (भाग.सुबो.१०।१९।१८-२७) इति.

एतेन कुमारिकानां व्रतपूर्त्यर्थं याः क्षपाः भगवता कुमारिकाभ्यो वरदानतया स्वस्मिन् सन्दर्शिताः तत्र तासु रमणार्थम् आकारणं मुरलीमनोहररूपेणैव भविष्यति इति अलौकिकप्रत्यासत्त्या वा 'घटं कुरु' इतिवद् भाविनीं वा वृत्तिम् आश्रित्य 'स्मेरहास्य'पदेन सह 'मुरलीमनोहर'पदयोजनं प्रकरणद्वयस्यापि अन्योन्याकांक्ष्यतया युज्यतएव.

एवं साधनप्रकरणीयनाम्ना सम्बोध्य इदानीं फलप्रकरणीयनाम्ना सम्बोधयितुम् आहुः **राधिकारसिक** इति, रसिकाः हि रसास्वादभोक्तारो भवन्ति. भगवांस्तु निजात्मरतिरूपायां राधिकायां रसिको तद्रसैकभोक्ता इति. अथवा एकस्यैवाद्वितीयस्य स्वस्य आत्मानन्दैक्यतया रसरूपस्थायिभावतैव मूलरूपा. आत्मद्वेधापातनान्तरन्तु धर्मरूपायाः आत्मरतेः ऐच्छिकविभागेन मूलरूपिण्याः तस्याः आलम्बनविभावतयापि प्राकट्येन ऐच्छिकी भोग्यरूपता च. तथापि अन्तर्निगूढातु भोक्तृरूपतापि ब्रह्मणो वर्ततएवेति रसिकत्वोक्तिः. आतश्च जडसृष्टेश्च प्रवाहमर्यादसृष्ट्योरपि निजात्मरतेः विस्तारत्वेन तेषु ब्रह्मणो भोक्तृरूपतायाएव प्राधान्यम्. अतएव आत्मरतेरेव सर्वत्र भोग्यतोक्तिः न विसंगता. आत्मरतिरूपया राधिकया जातो यो रसिकः सो अत्र सम्बोध्यते इति.

निरोधलीलान्तर्गतफलप्रकरणोक्ता राधिकारसिकतातु एवं निरूपिता :

> **" 'वध्वाः' कस्याश्चित् गोपिकायाः 'पदैः सुपृक्तानि' पंक्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा... चकाराद् नन्दसूनुना सहैव याता अन्यथा भगवान् न गच्छेत् तयैव प्रायेण नीतः. स्वापेक्षया तस्य महद्भाग्यम् आहुः... अनया आराधितो नूनं भगवान् हरिः ईश्वरः... आराधिते तु फलं स्ववशे भवति... रेमे तयाच आत्मरतः आत्मारामोऽपि अखण्डितः... आत्मन्येव रतिः यस्य तेन निष्कामएव तस्याः यथेच्छं कामं पूरितवान्", "राधासहचराय नमः", "राधाविशेषसंभोगप्राप्त-**

दोषनिवारकः''.

(सुबो.१०।२७।२६-३४, त्रि.वि.ना.२।४८, पु.स.ना.१०।८३)इति.

एवं प्रमाणादिचतुष्टयरूपेण भगवन्तं सम्बोध्य यथाचोक्तं ''भगवच्छास्त्रे **भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयं** : भगवत्साक्षात्कारो साक्षात्कृतो भगवान् प्रमाणं... **दर्शनं प्रमाणाविर्भावः प्रमेयम्** इति... सएव साधनं... तच्चरित्रं फलरूपम्'' (सुबो.१०।२।३८-४१) इत्युक्तत्वात्. अन्ते रूपचतुष्टयधारणहेतुभूतेन स्वरूपेणापि सम्बोधयितुम् आहुः **कृपानिधे** इति. तदुक्तं : ''प्रादुरासं वरदराड् **युवयोः कामदित्सया** : अहम् आविर्भूतो जातइति वदन् आविर्भावस्य फलनैकट्यनिमयमार्थं... वरान् ददतइति वरदा अन्ये ब्रह्मादयो यावत्प्रार्थितमेव हि ते प्रयच्छन्ति तेषां राजा 'वरदराट्' सतु ततो बहुगुणम् अलौकिकं च प्रयच्छति.'' (सुबो.१०।३।३८) इति.

एतादृग् वरदेश्वरत्वं कृपानिधित्वएव सम्भवति न अन्यथेति सर्वं समञ्जसम्.

(तृतीयकारिकाविवृतिः)

इत्थं सामान्यतः प्रमाणादिचतुर्विधरूपोद्बोधकैः तावद्भिः नामभिः सम्बोध्य इतःपरं फलप्रकरणीयैरेव नामभिः भगवतो अनुनयार्थं तं सम्बोधयितुम् आहुः :

प्राणनाथ! वृषभानुनन्दनी-
श्रीमुखाम्बुजलोलषट्पद!।।
राधिकापदतले कृतस्थितिस्
त्वां भजामि रसिकेन्द्रशेखर!।।३।।

प्राणनाथ इत्यादि. ननु राधिकाकैंकर्याभिलाषे तां विहाय तत्प्राणनाथानुनयः कुतः? अथ तस्य सर्वकर्तृ-सर्वनियन्तृ-सर्वप्रेरकत्वेन

अपरिहार्यत्वेतु तदनुनयोऽपि तथेति चेत् कृतं तदा राधिकाकैंकर्यप्रार्थनया इति चेद् मैवं,

राधातत्प्रेष्ठयोः गूढस्वरूपानवबोधविजृम्भितम् एतद् अखिलं यस्माद् उभयोरपि एतयोः तात्त्विकस्वरूपम् एवम् उपदर्शितम् :

"आत्मा स सर्वभूतानाम् अहंभूतो हरिः स्मृतः अहन्ता सर्वभूतानाम् अहमस्मि सनातनी. येन भावेन भवति वासुदेवः सनातनो भवतः तस्य देवस्य स भावो अहम् इति ईरिता. अहमर्थसमुत्था सा अहन्ता परिकीर्तिता अन्योन्येन अविनाभावाद् अन्योन्येन समन्वयात् तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य च उभयोः", "षाड्गुण्यविग्रहो नित्यं परं ब्रह्म अक्षरं परं तस्य मां परमां शक्तिं नित्यं तद्धर्मधर्मिणीं सर्वभावानुगां विद्धिं निर्दोषाम् अनपायिनीं सर्वकार्यकरी सा अहं विष्णोः अव्ययरूपिणः."

(लक्ष्मीतं.२।१३-१८, ११।२-३) इति.

इह परमात्मतद्गुणधर्मात्मशक्त्योः मिथः तादात्म्योपगमाद् नैकतरेण वा नैकतरया वा इह किमपि सम्भाव्यते सम्पद्यते वेति उभयानुकूल्येनैव उभयसम्बन्धिकार्याणाम् आत्मलाभाद् युक्तमेव प्रार्थितं **राधिकापदतले कृतस्थितिः त्वां भजामि** इति.

प्राणनाथ इति, प्राणानां सएव नाथो रक्षकत्वादिसर्वधर्मवान्. तदुक्तं **"प्रसीदतु मयि श्रीमत्कृष्णः प्राणप्रियोत्सवो येन भाति जगत् सत्यं विना येन न तत् तथा"** ('तासामाविर्भूत...'श्लोकोपरि स्वत.लेख.) इति चतुःश्लोकीकृतैव. तेन प्राणरक्षार्थमेव एतन्नाम्ना सम्बोधनम्.

तस्यैस्य भावभूमिस्तु फलप्रकरणे सुबोधिनीकारैः एवं निर्दिष्टा :

“तावका: त्वयि धृतासव: दिक्षु: त्वां विचिन्वतइति दृश्यताम्... ननु व्रजस्थानां भक्ति: नास्ति अन्यथा विरहे म्रियेरन् अतो अभक्ता न पश्यन्ति इति युक्तम् इति चेत् तत्र आहु: ‘त्वयि धृता: असव: प्राणा: यै:, यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति तदैव त्यक्ष्यन्ति इति भाव:. अतएव त्वां विचिन्वते प्राणान् आश्वासयितुम्.”

(सुबो.१०।२८।१) इति.

वृषभानुनन्दनी-श्रीमुखाम्बुज-लोलषट्पद् इति, वृषभानुगोपस्य नन्दनी या सुता तस्या: श्रीमुखकमले लोल: सतृष्ण: कामी षट्पद् भ्रमर: इति.

तत्त्वन्तु सुबोधिनीकारै: सूचितम् इत्थं :

“एवं रसार्थं तस्य आनयनं सामग्रीसम्पादनम् अलंकरणं च उक्तम्. यदर्थम् एतावत् तद् आहु: ‘रेमे तया च आत्मरत: आत्मारामोऽपि अखण्डित: कामिनां दर्शयन् दैन्यं : पुष्टत्वात् कामस्य आत्मरत: तयाच सह रेमे, चकाराद् लक्ष्म्या च. सापि रेमे. आत्मन्येव रति: यस्य निष्कामएव तस्या: यथेच्छं कामं पूरितवान्... ननु कथम् एवम् असमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन एवं रमणं कृतवान्? इति तत्र प्रयोजनम् आहु: ‘कामिनां दर्शयन् दैन्यम् इति. कामिनस्तु एवमेव (स्वप्रियामुखाम्बुजलोलषट्पदवद्) दीना: भवन्ति ‘कामार्ता: हि प्रकृतिकृपणा:’ इति तेषाम् अनुकरणं करोति. अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात्.”

“ततो अग्रिमलीलार्थं तासां वदनानि स्वहस्तेन प्रामृजत्. यत: ‘स’ कृष्ण: तदर्थमेव अवतीर्ण:. सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुचनम्.”

(सुबो.१०।२७।३४, १०।३०।२१) इति.

रसिकेन्द्रशेखर इति, रसिकाः हि रसविज्ञाः रसानुभवशीलाः. तेषां येहि इन्द्राः ईश्वरोपमानि तत्तद्रसाधिदैवतानि तद्यथा "शृंगारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः रौद्रो रुद्राधिदैवश्च करुणो यमदैवतो बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानको वीरो महेन्द्रदेवः स्याद् अद्भुतो ब्रह्मदैवतः" (भर.नाट्य.६।४४-४५) इति वचनात्. तेषां रसाधिदेवानामपि मूर्ध्नि विराजमानः "रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दीभवति" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः.

सेयं रसिकेन्द्रशेखरता तावत् :

> "त्वञ्च सुरतनाथः सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सर्वसम्बोधनानि यथाधिकारं नियतानि. यथा धर्ममार्गे हे धर्मपालक! हे ब्रह्मण्य! हे यज्ञेश्वर! इत्यादिनि. अर्थे हे लक्ष्मीपते! हे सर्वसिद्धिद! इत्यादीनि. तथा मोक्षे हे मुकुन्द! हे योगेश्वर! हे ज्ञाननिधे! इत्यादीनि. धर्मार्थमोक्षार्थिभिः उच्यन्ते. एवम् अस्माभिरपि सुरतनाथ! इति उच्यते. सुरतं सम्भोगः जगति यावान् अस्ति तस्य भवान् नाथः. त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते. अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रवृत्त्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिकाः दत्ताः. शुल्कं मार्गनिर्वाहकं द्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम्. सुरतं चेद् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत् तदा लोके रसो न भविष्यतीति अस्मद्द्वारा त्वत्तः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयम् आगताः."
>
> (सुबो.१०।२८।२) इति.

एवं वदद्भिः सुबोधिनीकारैः भगवतोहि आत्मरत्यात्मक-सुरतरसिकेन्द्र-शेखरत्वमेव स्फुटीकृतम्.

(तुर्यकारिकाविवृतिः)

अथ "नहि साधनसम्पत्त्या हरिः तुष्यति कस्यचिद् भक्तानां दैन्यमेव

एकं हरितोषणसाधनम्'' (सुबो.कारि.१०।२९।१।२) इति स्वप्रार्थनान्ते स्वदैन्यम् आविष्कर्तुम् आहु :

संविधाय दशने तृणं विभो!
प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनन्दन!।।
अस्तु मोहन! तवातिवल्लभा
जन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया।।४।।

दशने तृणं संविधाय प्रार्थये (अहम् इति अध्याहार्यः) यद् **जन्मजन्मनि तव अतिवल्लभा मत् प्रिया ईश्वरी अस्तु!** इति अन्वयः. अस्मिन् जन्मनितु सैव मान्या भवत्यपि; तथापि मोक्षाकांक्षोद्यमराहित्येन बहुजन्मसम्भवात् तेषु यस्मिन् कस्मिन्नपि जन्मनि राधाकैंकर्यरहितं जीवनं मा भूद् इति आशयः. तत्रापि दैन्यस्य आविश्चिकीर्षित्वेन सम्बोधनत्रयं **विभो व्रजमहेन्द्रनन्दन मोहन** इति. तदेतद् दैन्यं तावत् स्वाभाविकम् औपाधिकञ्चेति द्वेधा. औपाधिकमपि पुनः वर्ज्यावर्ज्यभेदेन द्विविधम् उपलक्ष्यते. तथाहि : तत्र आद्यन्तु जीवात्मनि ब्रह्मानन्दांशतिरोभावकृतं स्वाभाविकषड्गुणलोपाद् जायमानम्.

तदुक्तं :

''ऐश्वर्यादयः षड्गुणाः मूर्तिमन्तो भगवन्तम् आवेष्ट्य तिष्ठन्ति. तेच ऐश्वर्यादयो भगवदेकनिष्ठाः न अन्यत्र आविष्टाः भवन्ति. इतरत्रच पार्षदादिषु अध्रुवैः चकाराद् राजादिष्वपि. एतावता 'भगवच्'छब्दप्रयोगः सर्वत्र. तथापि ध्रुवाः ऐश्वर्यादयो भगवत्येव अध्रुवास्तु अन्यत्र. तेन तरतमभावेनैव भगवत्त्वम्.''

'''परस्य' भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् भगवदिच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरो-भावः. ऐश्वर्यतिरोभावाद् दीनत्वं पराधीनत्वम्. वीर्यतिरोभावात्

सर्वदु:खसहनम्. यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम्. श्रीतिरोभावात् सर्वापद्विषयत्वम्. ज्ञानतिरोभावाद् देहादिषु अहंबुद्धि:, सर्वविपरीतज्ञानं च अपस्मारसहितस्य. वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्ति:. बन्ध: चतुर्णां कार्यं विपर्ययो द्वयो:... आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभाव:.''

(सुबो.२।९।१६, अणुभा.३।२।५) इत्यत्र.

एवं भगवल्लीलासंकल्पितस्य दैन्यस्य कृत्रिमत्वेऽपि जीवसृष्टौ सहजमिति स्वाभाविकम्. औपाधिकन्तु कामलोभमोहमात्सर्यप्रयुक्तं तद् वर्ज्यम्. श्रद्धाविवेकभक्त्याद्युपाधिप्रयुक्तस्य दैन्यस्य कृत्रिमत्वेऽपि अवर्ज्यत्वमेव. ननु एतेषु दैन्येषु कतमद् एतदिह आविश्चिकीर्षितं दैन्यं? भक्तिभावातिशयौपाधिकम् इति गृहाण.

विभो इति, तत्त्वन्तु यद्यपि ''*परममहत्परिमाणत्वं-मूर्तेतरद्रव्यत्वं-सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्*'' इत्येवमादिरूपै: परिभाष्यते परन्तु औपनिषदं विभुत्वन्तु **''सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्'', ''अनादिमत् त्वं विभूत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा''** (श्वेता.उप.३।२१, ४।४) इति उपनिषद्येव प्रतिपादितत्वेन तदेव अभिधया संग्राह्यम्. व्यञ्जनयातु अन्यदपि किञ्चित् सर्वात्मभाववतीभि: गोपिकाभि: यथा **''मैवं विभो अर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ता: भजस्व दुरवग्रह मा त्यज अस्मान्(इत्यस्य व्याख्यायां) सर्वमेव कर्तुं समर्थ: समर्थ: चेद् अन्यथा वदेद् नृशंसमेव भवति, दयायां विद्यमानायां न वदेद् इति... अस्मदर्थम् आविर्भूय स्वानन्देन वयं योजनीयाइति एतत् कर्तव्यम्. एतेन प्रार्थनया सकृद् अंगीकृत्य तूष्णींभावपक्षो निरस्त:''** (भाग.सुबो..१०।२९।३१) इति प्रार्थितो भगवान् तथा एतत्प्रार्थनाकृद्भिरपि स्मार्यते भगवान्.

व्रजमहेन्द्रनन्दन इति, **''तस्माद् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित: (इत्यस्य व्याख्यायां) अहमेव**

शरणं यस्य नापि ज्ञानं नापि भक्ति: अन्यथा अवतारप्रयोजनं न स्यात् पुष्टिमार्गश्च न भवेत्... तस्मात् स्वव्रतं पालनीयमिति स्वधर्मनिर्वाहार्थमेव'' (भाग.सुबो.१०।२२।१८) इति भगवत्प्रतिज्ञां भगवन्तं स्मारयन्निव सम्बोधितो.

अथ सर्वथा स्वहृदयाधिरूढमनोरथप्रकाशकं मोहन इति नाम्ना सम्बोध्य प्रार्थयन्ति. तत्र अन्तर्निगूढो भाव: :

''मनसो वृत्तयो न: स्यु: कृष्णपादाम्बुजाश्रया: वाचो अभिधायिनी: नाम्नां काय: तत्प्रह्वणादिषु कर्मभि: भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापि ईश्वरेच्छया मंगलाचरितै: दानै: रति: न: कृष्णे ईश्वरे : (इत्यस्य व्याख्यायां) अस्माकं कायवाङ्मनांसि कृष्णसम्बन्धिकार्यपराण्येव भवन्तु अयमेव उत्कर्षो नतु लोके प्रसिद्धो अन्य: कोऽपि उत्कर्ष: प्रार्थनीय: इति... द्वयं प्रार्थितं संघातस्य भगवति विनियोग: आत्मनश्च भगवति स्नेह: इति. 'मनसो'हि एकादशवृत्तय: ता: सर्वा: कृष्णपादाम्बुजमेव आश्रित्य तिष्ठन्तु क्रियया ज्ञानेन अभिमत्या च... 'आश्रय'पदेन प्रसंगात् करणं निवारितम्. वाचोऽपि नाम्नामेव अभिधायिन्यो. नामतु तत्रैव पर्यवसितसर्वशक्तियुक्तं भवति.''

(भाग.सुबो.१०।४४।६७-६८).

इत्येवंजातीयक:. सतु सर्वात्मभावात्मको भगवति आसक्त्यतिशयएव तत्स्वरूपलावण्यमाधुर्यसौष्ठवादिभि: सर्वात्मना स्वीयात्मान्त:करणादीनां व्यामोहनं विना न सम्भवति इति आशयेनैव **मोहन** नाम्ना सम्बोधनं युज्यते.

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता राधा(कैंकर्य)प्रार्थनाचतु:श्लोकी

राधाप्रियंकरस्याग्रे राधाकैंकर्यप्रार्थना ।।

चतु:श्लोक्यास्तु विवृति: पूर्णा तत्कृपयैव हि॥१॥
निराबाधागाधा हरिरतिरसास्वादसरिता
सुधाधाराकारा मृदुमुरलिकानादमुदिता॥
सदा 'राधा-राधा' रटति रसना चेत् सुरुचिता
तदाराध्य: शौरि: किमु हृदि निरुद्धो न भविता!॥२॥
श्रीराधाया: कृपातो मे गृहे सेव्यो व्रजाधिप:॥
प्रसादोऽयं कतरयो: स्तोत्रभावार्थचिन्तने!॥३॥
आकैशौर्याज्जपन्नासं चतु:श्लोकीमिमामहम्॥
स्तोत्रकृत्कृपया नूनं वार्धक्ये भावलेखनम्॥४॥

इति श्रीमद्गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
राधाकैंकर्यप्रार्थनाचतु:श्लोकीविवृति:
सम्पूर्णा

जयतु जयतु श्रीराधा श्रीराधा॥
रावलग्रामजातरससरिता कृतगोकुलरससिन्ध्वगाधा॥
कर्मज्ञानसाधनमर्यादा भक्तिवर्त्महृताखिलबाधा॥१॥
पूर्णपुरुषपरमार्धबृगलिता परिपूरितरतिमधुरिमता॥
वृन्दावनरासेन्दुविलसिता शारदराकाकौमुदिता॥२॥

(पाठभेद:)

क. स्वप्रियाचरणकिंकरीम् इति मुद्रितपाठे.

ख. श्रीमुखाम्बुजरसलोलषट्पद इति मुद्रितपाठे.



।। श्रीस्वामिन्यष्टकम् ।।

रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परं ।।
प्रदोषे दृङ्मोषे पुलिनगमनायातिमधुरं
चलत्तस्याश्चञ्चच्चरणयुगमास्तां मनसि मे ।।१।।

अमन्दप्रेमार्द्रप्रियकरतलं कुङ्कुममिषात् [२०]
कुचद्वन्द्वे वक्षस्यपि च दधती चारु सततम् ।।
कृपां कुर्याद् राधा मयि रुचिरहेमाद्रिशिखरो-
दितप्रावृण्मेघ स्मयहरहरिं चूचुकमिषात् ।।२।।

निमन्त्र्य प्रातर्या निजहृदयनाथं निरुपमा
समाकार्यैकाकिन्यतिघनवनादात्मभवने ।।
विधायोन्मर्दादि/विधायान्नं स्वादु स्वयमतिमुदा भोजयति सा
मयि प्रीता राधा भवतु हरिसङ्गार्पितमनाः ।।३।।

निधाय श्यामांसे निजभुजलतामिन्दुवदनं
कटाक्षैः पश्यन्ती कुवलयदलाक्षी मधुपतेः ।।
मुदा गायन्ती तन्मधुरमुरलीजातनिनदा-
नुसारं तारं सा फलतु मम राधानयनयोः [५३] ।।४।।

अमन्दप्रेमार्द्रात् किशलयमयात् केलिशयना-
दुषस्युत्थायाब्जारुणतरकपोलातिरुचिरा ।।
गृहं यान्ति श्रान्तिस्थगितगतिरास्याम्बुजगतम्
घनीभूतं राधा रसमनुदिनं मे वितरतु ।।५।।

प्रियेणाक्ष्णा संसूचितनवनिकुञ्जेषु विविध-

प्रसूनैर्निर्माया‌तिशयरुचिरं केलिशयनम्।।
दिवाप्येषा गुञ्जन् मधुपमुखरे धीरपवना-
श्रिते क्रीडन्ती मे निजचरणदास्यं वितरतु।।६।।

कदम्बारूढं या निजपतिमजानन्त्यहनि तत्-
तले कुर्वन्ती स्वप्रियतमसखीभिः सहकथाम्।।
अकस्माद् उद्वीक्ष्य स्फुटतरलहारोरसमिति
स्मितस्मेरव्रीडाननमुदितदृक् सा मम गतिः।।७।।

न मे भूयान् मोक्षो न पुनरमराधीशसदनम्
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम्।।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तवपदजलं पेयमपि तद्-
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम्।।८।।

इति श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगा-
[१०१]नुगत्वानन्दाम्भोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा।।
मयेदं प्रादुर्भावितमतिसुखं 'विट्ठल' पदा-
[१०२]भिधेये मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम्।।९।।

इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितं स्वामिन्यष्टकं सम्पूर्णम्।।

॥ श्रीस्वामिन्यष्टकम् ॥
(श्रीहरिदासविरचिता विवृतिः)

नत्वा श्रीवल्लभाधीशसुतं भावयुतं सदा।
[१]विवृणोमि कृपातोऽहं स्वामिन्यष्टकमुत्तमम् ॥१॥

अथ अस्मत्प्रभुचरणाः सर्वांशेन स्वस्य [२]मुख्यस्वामिनी - सम्बन्धित्वसिध्यर्थं भगवतः पुष्टिमार्गीयाष्टविधैश्वर्यम् अत्रैव प्रभुणा स्थापितम् अस्ति इति बोधयितुम् अष्टभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तां स्तुवन्ति **रहस्यम्** इति. :

रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परं॥
प्रदोषे दृङ्गमोषे पुलिनगमनायातिमधुरं
चलत्तस्याश्चञ्चच्चरणयुगमास्तां मनसि मे॥१॥

मद्वाणी 'राधा' इति अर्थात् नाम **सततं जपतु** इति सम्बन्धः. ननु भगवन्नामजपम् अप्रार्थ्य केवल एतत्प्रार्थने को हेतुः? तत्र आहुः **'राधे'**इति. अयम् अर्थः : सा हि भगवतः सिद्धिरूपा, तथैव धात्वर्थात्. यथा योगिनां योगसिद्धिः यथा वा मन्त्रिणां मन्त्रसिद्धिः तथा भगवतः सा. ते यथा तयैव सर्वं [३]साधयन्ति तथा भगवान् एतयेति तन्नामापि भगवन्नाममन्त्राणां सिद्धिरूपमिति तत्प्रार्थना इति अर्थः. एतेन भगवन्नाममन्त्राणामपि निरन्तरं गृहीतानां स्वसिद्ध्या फलसाधकत्वं बीजाक्षरसाहित्येनेव स्वामिनीनामसाहित्येन इति बोधितम्. तथाच बीजाक्षरवद् एतन्नाम्नोऽपि अतिगोप्यत्वम् इति भावः. ननु गोप्यत्वे को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः **अखिलनिगमानामिव धनम्** इति. **अखिलानां** सर्वेषामेव भगवन्नामरूपाणां **निगमानां** वेदानां [४]सकलस्वामिनीजप्यत्वेन श्रुतिरूपाणां वा **धनम्** अप्रकाश्यम् इति अर्थः. अतएव वेदादिषु स्वामिनीगुणगानेषुच

एतन्नाम क्वचिदपि न प्रकाशितम् इति भावः. ननु धनत्वेतु क्वचित् प्रकाश्यमेव व्यवह्रियमाणस्यैव तस्य वृद्धिहेतुत्वाद् इति चेत् तत्र आहुः **रहस्यम्** इति. रहसि एकान्ते प्रकाश्यं **रहस्यं** मूलधनम् इति यावत्. नहि मूलधनं क्वचिदपि प्रकाश्यं भवति. तथा सति सर्वनाशसम्भवाद् इति भावः. ननु यथा लक्ष्म्यादिनाम श्रीधरस्य यथा [५]"**श्रिया**" इत्यादिश्रुतिप्रकाशितम् अस्ति तद्वद् एतत्प्रकाशोऽपि तत्र कथं न कृतम्? इति आशङ्क्य आहुः **श्रीराधा** इति. श्रियोऽपि सिद्धिरूपा इति अर्थः. लक्ष्म्यापि मुख्यरसप्राप्तौ सैव सिद्धिरूपा तदंशभूतव्रजसुन्दरीषु आवेश्यैव लक्ष्म्या भजनानन्ददानात् '**रेमे रमेश**'' (भाग.पुरा.१०।३०।१७) इति वाक्यात् इति भावः. एतेन लक्ष्म्यादीनामपि आश्रयत्वेन तन्नामतोऽपि एतन्नाम्नः अतिगोप्यत्वं सूचितम्. ननु मास्तु श्रुत्यादिषु प्रकाशः कृपया भवद्भिरेव [६]भगवन्नामैव तन्नाम कथं न प्रकाश्यत इति चेत् तत्र आहुः **निगूढम्** इति. वेदैः **नितरां गूढं** संवृतम् इति अर्थः. भगवता सर्ववेदवक्त्रा रासे अन्यदर्शनाभावाय स्वभुजैः तत्स्वरूपमिव [७]एतन्नामं स्वनामरूपैः वेदैः संवृतम् इति भावः. [८]एतेन यथा रासे स्वामिनीदर्शनं तत्स्थानामेव न अन्येषां तथा वेदादिरूपभगवन्नामाच्छादितस्वामिनीनामदर्शनं प्रभूणामेव इति बोधितम्. यद्वा **निगूढं** यथा स्यात् तथा **जपतु** इति अर्थः. अतएव उपदेशादिषु भगवन्नाम्नएव कथनं न एतन्नाम्नः स्वाचार्याणाम् इति सूचितम्. अथवा '**निगूढम्**'इति स्वामिनीभिः भगवता च स्वहृदयएव स्थापनात् नितरां गूढमिति तत्प्रकाशने तदनिङ्गितकरणाद् दोषोऽपि उदेति इति भावः. अन्येषाम् एतज्जपे तथाविधभावाभावाद् अयोग्यतां सूचयन्त आहुः **मद्वाणी** इति. '**अस्मत्**'शब्देन स्वसम्बन्धात् समासात् च वाण्याम् आधिदैविकत्वम् असाधारण्यं च उक्तम् इति अर्थः. ननु नाम्नः [९]कीर्तनम् अप्रार्थ्य जपप्रार्थने किं तात्पर्यम्? इति आशङ्क्य आहुः **जपतु** इति. जपो हि रहसि स्थित्वा सर्वेन्द्रियाणि च मुद्रयित्वा मनश्च तत्रैव विलाप्य उपांशुप्रकारेण मन्त्राणां कीर्तनम्. तथा च श्रोतारम् उपस्थाप्य कीर्तने गोप्यप्रकटनात् दोषः स्याद् इति भावः. ननु जपे सर्वत्र कालः परिच्छिन्नएव उक्तः. "**जपन्नासीत सावित्रीम्**" (गरुड.पुरा.९४।११) इत्यादिवाक्यैः इति अत्रापि

तथात्वम् आयास्यति इति आशङ्क्य आहु: **सततम्** इति. अतएव सर्वदा तत्सिद्ध्यर्थं जपान्तरनिषेधम् आहु: **न परम्** इति. एतद्व्यतिरिक्तम् इति अर्थ:. तथाच अन्तर्गतैतन्नाम भगवन्नामजप: कार्य इति बोधितम्. एतेन यथा स्वरूपयो: ऐक्यं रसात्मकत्वात् तथा नाम्नोरपि इति [१०]वेदितव्यम् इति भाव:. ननु कालभेदेन भिन्नतया एतन्नामभगवन्नाम्नो: जपो विधेय इति चेत् तत्र आहु: **जातु** इति. कदाचिदपि तथा मा अस्तु इति अर्थ:. एवं वचसि नामजपद्वारा तत्सम्बन्धं प्रार्थयित्वा मनसि प्रार्थयन्ते "**प्रदोषे...**" इत्यादिना. अत्र तस्या: **चरणयुगं मे मनसि आस्ताम्** इति सम्बन्ध:. चरणयुगस्य गतिरूपस्वधर्मसहितस्य स्थितिनिरूपणार्थं समयविशेषम् आहु: **प्रदोषे** इति. स्वामिन्या: स्वतो भावेन वा तदन्तिकगतावेव चरणगति: अन्यथा विप्रयोगेण अवस्थानम् इति. **प्रदोषे** **प्रकृष्टो दोषो** यस्मिन् रजनीमुखे [११]तस्य कालस्य सकलजनजागरणसमयत्वात्. तेन प्रियनिकटगतौ स्वामिन्या लोकातिक्रम: सूचित:. वेदातिक्रममपि आहु: **दृङ्मोषे** इति. दृशां दृष्टीनां मोषो यत्र इति. एतेन ज्ञानतिरोधायककाले एकाकिनो बहि: निर्गति: वेदविरुद्धेति तदतिक्रमोऽपि सूचित:. अतएव श्रुतौ वर्षासु रात्रौ च न्यासिनाम् एकत्र स्थिति: उक्ता. अन्यथा तु "**कीटवत् पर्यटेत् महीम्**" (   ) इति वाक्यात् परिभ्रमणमेव. स्मृत्यतिक्रममपि आहु: **पुलिनगमनाय**इति. [१२]तोयमध्योत्थिता भूमि: पुलिनम्. तथा च रात्रौ जलप्रवेशस्य स्मृतिविरुद्धत्वात् तदतिक्रम: इति भाव:. एवं च सर्वातिक्रमं विधाय तत्र गमने अन्याज्ञानसम्पादनं "**परोक्षं च (हरे:)/मम प्रियम्**" (भाग.पुरा.११।२१।३५) "**अनाविष्कुर्वन्नन्वयाद्**" (ब्र.सू.३।४।४९) इत्यादिस्मृतिसूत्रै: उदितम् उचिततरञ्चेति तथोपायकर्तृत्वम् आहु: **अतिमधुरम्** इति. [१३]चरणयुगस्य माधुर्यं हि तथा [१४]नूपुरनादेन शनै: - शनै: गमने भवति, पवनचलनादौ तथा दृष्टत्वात्. [१५]तथाच यथा शनै: स्थापितस्य चरणयुगस्य भुवि सम्यक्प्रतिफलनेन सततस्थिति: तथा अस्मन्मनसि स्वप्रतिफलनेन तद्युगं निरन्तरं तिष्ठतु इति भाव:. यद्वा **अतिमधुरम्** इति नूपुरमध्यमनादेन गुञ्जन् मधुपमुखरितनीरजयुगमिव तथा इति अर्थ:. तथाच तादृशस्य तस्य सततं हृदयस्थितौ तत्तापनिवृत्ति: इति भाव:. अतएव

रसेषु मधुरस्य कुसुमेषु कमलस्य शब्देषु नादस्य च तापापहारकत्वं सर्वत्र उक्तम्. तदेतत् त्रितयमपि चरणारविन्दे अस्तीति किं वाच्यं तापनिवृत्तौ इति भावः. अथवा **मधु** मकरन्दं राति ददातीति तथा. तथाच एतादृशस्य हृदयस्थितौ तत्रापि मकरन्दसम्भवेन तत्पातुः भ्रमरस्येव प्रभोरपि वशीभूय तत्र स्थितिः इति बोधितम्. **चलत्** इति. गतियुतत्वेन चरणस्य स्वधर्मसाहित्यं निरूपितम्. तथाच हृदये विद्यमानं पदयुगमपि न एकदेशे तिष्ठतु किन्तु स्फुरदिव क्रमेण समस्तमनोवृत्तिषु समायातु इति भावः. [१६]एतेन स्वामिनीचरणयुगएव मनसो निरोधप्रार्थनम् इति सूचितम्. **चञ्चद्** इति कान्तियुक्तम् इति अर्थः. सर्वाङ्गाच्छादनेऽपि वसनादिना गतौ तदनाच्छादनात् व्रजभूमेः सम्बन्धार्थं तदावरणापरिधानात् च स्वरूपाभरणालक्तकादिभिः अतिशोभावत्त्वेन तथात्वम् इति भावः. तथाच हृदयदेशे ईदृक्कान्तियुक्तस्य मार्गस्थस्य गतियुक्तस्य तस्य स्थितौ भावप्रकाशः पुष्टिमार्गस्थितिः तद्गतिश्च भवति इति [१७]निरूपितम्. **'तस्या'** इति पूर्वोक्तगतियुक्तायाः प्रसिद्धाया वा सकलस्वामिनीषु. अनेन अत्रैव पुष्टिगतिदातृत्वं सकलस्वामिनीमान्यत्वं सूचितम्. यथा भगवान् प्रसिद्धोऽपि लोकवेदयोः स्वामिनीष्वेव तद्भावरूपेण प्रसिद्धः तथाप्रसिद्धिः अत्रापि बोध्या. ननु चरणयोः युगनिरूपणे किं तात्पर्यम् इत्यत आहुः **युगम्** इति. यथा वाहकस्कन्धे [१८]युगसंगतौ तद्युक्तरथरथिनोः आगतिः तथा मनसि स्वामिनीचरणयुगागतौ तत्सम्बद्धस्वा-मिन्याः [१९]तद्हृदयस्थभावरूपस्य भगवतश्च अत्र आगतिः इति बोध्यम्. **'आस्ताम्'** इति अनेन चरणयुगस्य उपवेशनम् उक्तम्. तेन अन्यत्रगतिरूपक्रियाराहित्येन अत्रैव स्थैर्येण स्थितिः अस्तु इति भावः. **मनसि** इति. "**'म्ना'**अभ्यासे" (   ). **मन**ति गुणगानभावना-दिभिः सर्वदा एतत्पदम् अभ्यसतीति निरन्तरभावनापरं मन इति योग्यता तत्स्थितेः उक्ता. **मे** इति स्वसम्बन्धनिरूपणेन वाणीवद् असाधारणत्वम् आधिदैविकत्वं च मनसः उक्तम्. ॥१॥

एवं नामस्वरूपयोः औत्सुक्यवशेन पूर्वमेव स्वसम्बन्धं प्रार्थ्ययित्वा पश्चात् स्फूर्तिम् उपागतां सर्वमूलभूतां दासीत्ववरणरूपां कृपां प्रार्थयन्ते

अमन्द इति.

अमन्दप्रेमार्द्रप्रियकरतलं कुङ्कुम[२०] मिषात्
कुचद्वन्द्वे वक्षस्यपि च दधती चारु सततम्॥
कृपां कुर्याद् राधा मयि रुचिरहेमाद्रिशिखरो-
दितप्रावृण्मेघ स्मयहरहरिं चूचुकमिषात्॥२॥

तत्र विप्रयोगावस्थायामेव प्रियान्तिकप्रेषणं शीतलोपायकरणाद् दासीनाम् उपयोगेन कदाचित् [२१]कृपाकरणसम्भवात् सैवावस्था निरूप्यते पूर्णेन पद्येन **अमन्द** इत्यादिना. हृदये भगवद्धस्ततत्स्वरूपस्थापनोत्कटविरहभावने [२२] कुङ्कुमम् अमन्दभावार्द्रप्रियकरतलतुल्यवर्णमिति तदेव सततं [२३]लिम्पन्ती तद्भावनयैव किञ्चित् तत्तापशान्तिं करोतीति तदा [२४]लापनाद्यर्थं मयि कृपां कुर्याद् इति प्रार्थना इति भावः. **अमन्द** इत्यनेन स्वस्मिन् प्रियप्रेम्णो [२५]मन्दत्वाभावएव उक्तो नतु इयत्ता. तेन निरतिशयत्वं द्योतितम्. तथा च स्वामिन्यामपि यादृशं प्रेम प्रियस्य न तादृशम् अन्यास्वपि इति ज्ञानं सर्वदा अस्ति इति बोधितं भवति इति भावः. अतएव जयदेवोऽपि प्राह ''**कंसारिरपि संसारवासना**'' (गीत.गो.३।७।१) इत्यादि. तदर्थस्तु मुख्यस्वामिन्या अन्यासु व्रजसुन्दरीत्वेन परकीयात्वस्फूर्त्या स्वस्मिन् अनन्यत्वस्फुरणेन ''विशेषतो अहं भगवदीया भगवांश्च मम'' इति अहन्ताममताशृङ्खलाबद्धत्वात् तथाज्ञानम्. बन्धोक्तिस्तु सर्वत्रैव वस्तुतो अनन्यता अस्तीति [२६]अन्यथाज्ञानात्. तथापि भगवतः '**कंसारि**' पदेन मर्यादाविरुद्धकार्यकर्तृत्वोक्त्या पुष्टिमार्गीयप्रभुत्वेन मुक्तान् अपहाय तादृश्याअपि स्वामिन्या हृदये आधानम् उक्तम्. व्रजसुन्दरीत्यागस्तु यथा संसारिसङ्गाद् अन्यस्य संसारित्वं तथा तादृश्याः स्वामिन्या [२७]हृदयाधाने भगवतोऽपि तथाभाव उत्पन्नः इति बोधनार्थः. यद्वा हृदये [२८]आधानं सखीभ्यः स्वामिनीभावम् अनन्यतारूपम् आकर्ण्य भावनया तथाच हृदयागतायाः कोपो [२९]अन्यविज्ञानं वा मा भवत्विति व्रजसुन्दरीत्याग इति भावः. ननु करतले अङ्गरागभावना कथम् उपपद्यत इति चेत् तत्र आहुः **आर्द्र**इति. आर्द्रत्वं सात्त्विकभावेन करुणया वा. तथा च तादृक् [३०]करतलस्थापनभावनया स्वाभिमतरीत्यैव हृद्गततापनिवृत्तिः

भविष्यति इति भावेन तथाकरणम् इति भावः. [३१]सात्त्विकभावेन करुणायां च हेतुम् आहुः **प्रिय** इति. प्रियत्वात् तदुभयम् आवश्यकम् इति भावः. ननु चरणधारणम् अविभाव्य करधारणभावनायां को विशेषः इति चेत् तत्र आहुः **कर** इति. करोति इति व्युत्पत्त्या सर्वकरणसामर्थ्यवत्त्वेन सम्भोगेनेव भावनया आनन्ददायकत्वं निरूपितम्. चरणस्यतु तापमात्रनिवर्तकत्वम् इति भावः. [३२]आर्द्रत्वात् कारुण्यादिस्थलनिरूपणाय आहुः **तलम्** इति. स्वेदोद्गमः तेन च आर्द्रत्वम् अनुरागबोधोऽपि च तत्रैव भवतीति शीतलतमत्वाभिमत्या तस्यैव हृदये कुचद्वन्द्वे च धारणम् इति भावः. भावनायां प्राथमिकस्फूर्तिम् आदाय आहुः **कुङ्कुममिषात्** इति. अग्रे तु करतलस्फूर्तिरेव न कुङ्कुमस्फूर्तिरपि इति भावः. **कुचद्वन्द्व**इति काठिन्यादिना तत्र [३३]पर्वतत्वभानेन तापाधिक्यभावनया प्रागेव शान्त्यर्थं प्रथमतो धारणम् इति अर्थः. यद्वा, वर्णसाम्येन चूचुकरूपेण संयोगवियोगोभयरसात्मकप्रियस्थितिं मत्वा तत्र तापसम्बन्धभवनभिया पूर्वं तत्रैव करतलधारणं भावनया इति अर्थः. **द्वन्द्व**इति तद्हृदये उभयविधरसस्य [३४]सततस्थितिबोधनार्थम् उक्तम्. तेन भगवतोऽपि रसात्मकत्वेन तत्र निरन्तरं स्थितिः उचिता इति भावः. एवं बहिःप्रियस्थितिज्ञानेन तथाकरणम् उक्तान्तःस्फूर्त्यापि तथा कृतिम् आहुः **वक्षस्यपि** इति. हृदये अन्तःप्रियस्थितिरिति तत्र तापकार्याभावाय तथाकृतिः इति अर्थः. '**च**'कारात् प्रियस्थितिस्थलत्वेन नेत्रयोरपि तथाकरणम् उक्तम्. ननु किं वर्णमात्रभावनैव करतलीया इति आशङ्क्य आहुः **चारु** इति मनोहरं सौन्दर्यनिधानत्वाद् इति अर्थः. तथाच कुङ्कुमीयवर्णसादृश्यमात्रेण करतलस्फूर्तौ तदुत्तरं करतलीयसौन्दर्याद्यखिलधर्मभावना इति भावः. **सततम्** इति गाढविरहभावः सूचितः. तेन क्षणमात्रमपि ईदृगुपायाकरणे तापः को वेद? किंवा कुर्याद्? इति भावो अत्र विज्ञेयः इति भावः. ननु विनैव साधनं केवल वरणमात्रेण किं भविष्यति? इति आशङ्क्य आहुः **कृपाम्** इति. "'**कृपू**'सामर्थ्ये" (पाणि.धा.पा.भ्वा.७६३) इति धातोः स्वतएव फलदाने समर्थेति तस्यां सत्यां न साधनापेक्षा इति अर्थः. '**कुर्याद्**' इति प्रार्थनायां लिङ्. तथाच प्रार्थनामात्रं क्रियते सिद्धिस्तु तदधीनेति कृपायां स्वान्तन्त्र्यं सूचितम्. ननु भगवत्कृपयैव सर्वं भविष्यतीति सैव प्रार्थ्यतां किम् एतत्कृपया इति चेत् तत्र आहुः **राधा** इति. भगवतोऽपि

सिद्धिरूपा इति अर्थः. तथाच यदर्थं भगवतोऽपि चित्तनैयत्येन निरन्तरं प्रयत्नः तत्कृपायां किं-किं न सिद्ध्यति इति भावः. 'मयि' इति एकवचनेन स्वस्य दैन्यभावो निरूपितो. यतो दैन्यभावेन कृतायाएव प्रार्थनायाः सफलत्वाद् इति भावः. एवं [३५]हृदयस्थापितावयवभावनां निरूप्य स्वरूपभावनाम् आहुः **चूचुकमिषाद्** इति. चूचुकद्वयम् अवलोक्य प्रभुरेव मद्धृदयतापातिशयं दृष्ट्वा तन्निवर्त्तनाय द्विगुणरूपेण समागतइति तथाभावना इति अर्थः. भावनायां प्राथमिकस्फूर्तिम् आदाय **मिषाद्** इत्युक्तम्. स्वामिन्याः स्वहृदये वक्षोजयोः पर्वतभावना तत्तापो विना नीरदं न निवर्ततइति तथाविशेषणेन भगवति मेघरूपत्वम्. ततोऽपि आधिक्यं च आहुः **रुचिर** इति. **रुचिरो** यो **हेमाद्रिः** सुवर्णपर्वतः सुमेरुः तस्य **शिखरयोः उदितौ** यौ **प्रावृण्मेघौ तयोः स्मयो** गर्वः तापहारकत्वादिरूपः तं हरति तादृशं **हरिम् इति अर्थः**. **रुचिर** इति दार्ष्टान्तिके ततोपि आधिक्यसूचनार्थम्. न हि हेमाद्रौ ईदृशी शोभा रसात्मकत्वं च. काठिन्यमात्रं किञ्चिद्वर्णसाम्यं च आदाय दृष्टान्तोक्तेः. सर्वोपरिस्थितस्य मेघस्य स्ववर्षणेन पर्वततद्भूमिव्यापिशैत्यहेतुत्वम् इति आशयेन आहुः **शिखर** इति. ननु वर्षणाभावे [३६]मेघादिवत् कथं भगवतोऽपि सङ्गमाभावात् तापनिवृत्तिः इति चेत् तत्र आहुः **उदित** इति. उदितस्यापि मेघस्य अग्रे वर्षणसम्भवाद् आशाहेतुत्वेन छायादिना च किञ्चिद् बाह्यतापनिवर्तकत्वमिति अत्रापि तथा इति अर्थः. अतएव उक्तं "**मेघागमोत्सवा दृष्ट्वा प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः**" (भाग.पुरा.१०।१७।२०) इति. ननु मेघो वर्षत्येवेति न नियमः, तस्य अनियतवृत्तित्वाद् घनवदिति कथम् आशाहेतुत्वम् इति चेत् तत्र आहुः **प्रावृड्** इति वर्षाकालोक्तः. दार्ष्टान्तिकेऽपि तापाधिक्यसर्वाङ्गशोषणादिना दैन्यदर्शनेन अतिदयालोः वर्षणसमयो ज्ञेयः इति भावः. तेन अत्र भगवतो न स्थितिमात्रम् अपितु भावनौत्कट्ये सति अग्रे साक्षादिव स्वरसवर्षुकत्वम् इति सूचितम्. ननु मेघस्य तापनिवर्तकत्वम् असाधारणं [३७]तन्निवर्त्य तापस्य अन्येन अनिवृत्तेः [३८]तद्दृष्टान्तः प्रकृते कथम् उपपद्यते? इति चेत्, तत्र आहुः [३९]**स्मयहर** इति. मेघस्य एतावत्कालपर्यन्तं गर्वः स्थितो मयैव तापनिवृतिः क्रियतइति वर्षाकालेऽपि [४०]विरहिण्याः अतितापदर्शनेन भगवद्भावनामात्रेण च तन्निवृत्तिदर्शनात् [४१]स

हृतः इति भावः. अतएव वैलक्षण्यं च भगवति सूचितम्. मेघस्य न वर्षणीयस्थले स्थितिः न स्थैर्यं न असाधारण्येन तापनिवर्तकता भगवति तु तद्वैपरीत्यम् इति भावः. अन्यदपि वैलक्षण्यम् आहुः **हरिम्** इति. मेघस्य वर्षणेनैव स्वधर्मेण तापहारकता न स्वरूपतो भगवतितु स्वरूपेणैव तापहर्तृत्वम् इति भावः.

एवं कृपां प्रार्थयित्वा प्रसादे सति सा भवतीति तद्धेतुभूतं प्रसादं प्रार्थयितुं स च प्रसादः स्वामिन्याः स्वमनोरथपूर्तौ, उत्साहवशेन अन्यत्र भवति विवाहपुत्रोत्सवादिसिद्धौ तथा दर्शनाद्. अतएव तत्र सर्वेभ्यो अविचार्यापि प्रसन्नतावशेन बहु दीयतइति तथा स्वस्मिन्नपि प्रसाददानसिध्यर्थं स्वामिन्याः तादृशीम् अवस्थाम् आहुः **निमन्त्र्य** इति.

निमन्त्र्य प्रातर्या निजहृदयनाथं निरुपमा
समाकार्यैकाकिन्यतिघनवनादात्मभवने॥
विधायोन्मर्दादि/विधायान्नं स्वादु स्वयमतिमुदा भोजयति सा
मयि प्रीता राधा भवतु हरिसङ्गार्पितमनाः॥३॥

निमन्त्रणम् अन्यगृहे गमनाभावाय. रात्रौ निबिडनिकुञ्जमन्दिरे विविधक्रीडां विधाय ततः [४२]स्वगृहगमनसमये भगवद्विरहम् असहमाना प्रभोः निमन्त्रणं कृत्वा "मद्गृहएव आद्यस्नानाद्यर्थम् आगन्तव्यम्" इति [४३]अभिधाय अग्रे भगवदागतिं मनसि विभावयन्ती शनैः-शनैः समायाति इति अर्थः. [४४]ननु नन्दभवने गत्वा समाजनिमन्त्रणवदेव कुतो न तत्कृतवति? इति आशङ्क्य आहुः **अतिघनवनाद्** इति. एतन्निमन्त्रणस्य गूढतया चौर्यलीलायामिव स्वामिसमागतिहेतुत्वाद् इति भावः. ननु निमन्त्रणं रात्रावेव कुतो न कृतं प्रसन्नतासमयस्य स्वीकृतिहेतुत्वाद् इति आशङ्क्य तदानीं स्वगृहस्फूर्तिः न स्थिता इति बोधयितुम् आहुः **प्रातः** इति. ननु एवं विरहसहनाक्षमतायां को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः **निजहृदयनाथम्** इति. **निजाः** स्वकीयाः तेषां **हृदयमेव नाथते** याचते उपतापयति वा, न त्वदन्यद् अपेक्षतइति

तादृशस्य हृदयग्राहकस्य युक्तं विरहासहनम् इति भाव:. ननु एवम् अत्रैव भावाधिक्येन मनोरथोदये को हेतु: ? इति चेत् तत्र आहु: **या** इति. प्रसिद्धा इति अर्थ:. सकलस्वामिनीषु भगवदर्धत्वेन अतिप्रीतिपात्रत्वेन प्रसिद्धत्वात् तत्र ईदृशो भाव: क्षणमात्रवियोगासहिष्णुतासम्पादको युक्ततर इति भाव:. अतएव उल्लासे प्रथमे शृङ्गाररसमण्डनीये प्रभुभि: उक्तं **''परं राधायां सख्यतिशयितराग: समजनि''** (शृङ्गा.मण्ड.१उल्लास.३) इति. ननु एवं लक्ष्म्यामपि ब्रह्मानन्दरूपायाम् [४५]अस्तीति को विशेष: ? इति चेत् तत्र आहु: **निरुपमा** इति. तत्र हि वैवाहिकसम्बन्धेन सर्वसमक्षं वैदिकविधिना स्वीकारात् सोपाधिका प्रीति: भवति, **''अर्धो वा एष आत्मन:''** (तैत्ति.ब्रा.२।९।४।७) इति श्रुते:. [४६]**''यत्र आनुकूल्यं दम्पत्यो:''** (याज्ञ.स्मृ.आचाराध्याय.१।७४) इत्यादिवाक्यै: अत्र तु तदभावात् सहजानुरागइति [४७]न तदुपमासम्भव: इति भाव:. एवं निमन्त्रणम् उक्त्वा सहैव आकारणमपि कृतवति भावेन अधीरचित्तत्वादिति आहु: **समाकार्या** इति. सम्यक्प्रार्थनारूपेण [४८]स्वहृदयतापज्ञापनेन आगमनप्रकारव्याजशिक्षापूर्वकम् आकारणं कृत्वा इति अर्थ:. निमन्त्रणेऽपि अन्याज्ञानार्थम् आहु: **एकाकिनि** इति. सख्यन्तरसाहित्ये सङ्कोचेन कथने सकलस्वाशयोद्घाटनासम्भवाद् इति भाव:. यद्वा **एकाकिनि** इति आगमनसमयेपि [४९]अन्यसाहित्याकथनेऽपि मुखप्रसादादिना अनुमानसम्भवाद् अन्यज्ञानोत्पत्ते: तथासमागमनम् इति भाव:. एवं स्वामिन्या गूढगतिम् उक्त्वा भगवतोऽपि गूढागमनाय तदुपदेशप्रकारम् आहु: **अतिघनवनाद्** इति. स्वगेहम् अगत्वा ततएव वनाद् अस्मद्गृहे समागन्तव्यम् इति भाव:. तत्रापि आगमने अन्याज्ञानं सम्पादनीयम् इति आशयेन आहु: **अतिघन** इति. यथा अतिघनत्वाद् वनस्य तत्र स्थिते: [५०]अन्याज्ञानं तथा मार्गेऽपि सम्पादनीयम् इति भाव:. गृहेऽपि गूढतया स्थित्यर्थम् आहु: **आत्मभवन** इति. पितृगृहेऽपि स्वस्थिति गृह इति अर्थ:. एतेन तत्र अन्यागमनाभावेन गूढतया बहुकालं स्थिति: भविष्यति इति सूचितम्. एवम् आकारणान्तम् अखिलम् उक्त्वा भगवदागमनोत्तरकर्तव्यम् आहु: **विधाय** इति. आदौ सुरतश्रमापनोदनाय अङ्गमर्दनम्. ततो वसनोत्तारणम्. तत: तैललापनम्. तत: उद्वर्तनम्. ततो अल्पस्नानम्. तत: काश्मीरकुङ्कुमकुसुमोदक-

लापनम्. ततः कोष्णनीरेण स्नानम्. ततः सूक्ष्मांशुकेन स्वोत्तरीयवसनेन वा हस्तलाघवेन सकलाङ्गप्रोञ्छनम्. ततः सुगन्धलापनम्. ततः कच्छपट्टपरिधापनम्. ततः कञ्चुकपाद-कञ्चुककटिबन्धनोष्णीषोत्तरीयादिसमस्तवसनपरिधापनम्. ततो नूपुरकिङ्किणी - कङ्कणाङ्गद - कण्ठाभरण - पदक - हार - गुञ्जामाला - तिलकालकावलीचिबुक नासाभूषण - शिरोभूषणादिसकलाभरणपरिधापनम्. ततः कुटिलोष्णीषदक्षिण-दिशि चन्द्रिकाधारणम्. ततो नयनयोः अञ्जनपरिधापनम्. ततः कपोलयोः भाले च कस्तूरिकाचित्रकचित्रादिकृतिः. ततो हस्ते मुरलिकाधारणम्. ततः त्रिभङ्गललिताकृतिसन्दर्शनम्. ततः स्वोत्तरीयवसनास्तरणम्. ततो भगवतः उपवेशनम्. ततो विविधमनोरथनिष्पादिताखिलरसमयसामग्रीसमानयनम्. ततः प्रियस्य स्वाङ्के स्थापनम् एवम् आदि सकलं विधाय भोजनं सर्वप्रकारेण स्वात्मनः स्वीयपदार्थानाञ्च कारयतीति आहुः **भोजयति** इति. भोजने अखिलमनोरथसिद्धिः जातेति ज्ञापयितुम् आहुः **अतिमुदा** इति. दास्यभोगोभयरससिद्धेः इति भावः. पूर्वोक्तसकलधर्मपरामर्शाय **सा** इति. ननु एतत्प्रसादे किम् असाधारण्यं यद् भगवत्प्रसादमपि [५१]अप्रार्थ्य एतत्प्रार्थना ? इति आशङ्क्य आहुः **राधा** इति. भगवतोऽपि सिद्धिरूपेति तत्र सर्वं सम्भवति इति भावः. ननु एवं स्वामिन्याः प्रियसेवा सर्वभावैः किं फलाभिप्रायेण क्रियते ? रसभोगस्तु निकुञ्जादिषु प्रत्यहं जायतएव इति आशङ्क्य आहुः **हरिसङ्ग**...इति. यथाकथञ्चित् निरन्तरं सङ्गएव अपेक्षितो नतु भोगापेक्षा नवा तदुपाधिकः स्नेहइति सततसान्निध्येन सेवैव फलं न फलान्तराभिलाषः इति अर्थः. दुःखनिवृत्तिरपि भगवतएव स्वतः प्रसन्नात् नतु तन्निबन्धना सेवा इति ज्ञापयितुं **हरि** इति.

एवं कृपाकारणीभूतं प्रसादं प्रार्थयित्वा तत्फलत्वेन स्वामिन्याः समर्पित स्वक्रिया-ज्ञानशक्तेः स्वरूपेण नाम्ना च प्रियैक्यं प्राप्तायाः [५२]सततं स्वामिसंयुक्ताया निरन्तरं तद्दर्शनं प्रार्थयन्ते **निधाय** इति.

निधाय श्यामांसे निजभुजलतामिन्दुवदनं

कटाक्षैः पश्यन्ती कुवलयदलाक्षी मधुपतेः ।।
मुदा गायन्ती तन्मधुरमुरलीजातनिनदा-
नुसारं तारं सा फलतु मम राधा[५३] **नयनयोः ।।४।।**

श्यामस्य तमालनीलस्य शृङ्गाररसात्मनो **अंसे** स्कन्धे अखिलभारोद्वहनसमर्थे **निजभुजलतां** गौरत्वेन शोभाधायिकां भुजत्वेन किञ्चित् स्थूलां लतात्वेन आलिङ्गनयोग्यां निधाय इति अर्थः. एतेन स्वक्रिया [५४] सर्वा सर्वोऽपि स्वभारो भगवति समर्पितइति सर्वात्मभावो निरूपितः. एतेन लतालिङ्गनेन भगवतो वृक्षरूपत्वं बोधितम्. तेन भगवतः स्थिरीभूय यथैव सा करोति तथा कर्तुं ददातीति स्वामिनीपरत्वं सूचितं भवति इति भावः. एवं भगवति क्रियाशक्तिसमर्पणम् उक्त्वा ज्ञानशक्तिसमर्पणम् आहुः **इन्दुवदनं कटाक्षैः पश्यन्ती** इति. इन्दुत्वेन तापहारकत्वं वदनत्वेन वह्निरूपतया तद्धेतुत्वमिति भगवन्मुखे संयोग-वियोगोभयरसात्मकत्वं सूचितम्. तथाच तादृशस्य दर्शनं न समदृष्ट्या भवति, तस्याः रसानाधायकत्वात्. अतएव सर्वत्र समदृष्टयो ज्ञानिनः उच्यन्ते न भक्ताः इति [५५] दर्शने विशेषम् आहुः **कटाक्षैः** इति. भावान् सर्वान् हृदिस्थितान् **कटन्ति** वर्षन्ति आवरयन्ति इति वा **कटास्ते** च ते **अक्षाश्च** तैः इति अर्थः. तथाच यथा वायुसङ्कुचितानामेव मेघानां वर्षुकत्वं तथा त्रपासङ्कुचितानामेव दृष्टिप्रान्तानां भाववर्षुकत्वम् इति भावः. एतेन सर्वतः एकीकृत्य ज्ञानं दृष्टिसङ्कोचेन भगवति समर्पितम् इति उक्तम्. ननु एवं क्रिया-ज्ञानसमर्पणं योग्यताभावे कथं घटते? इति आशङ्क्य आहुः **कुवलयदलाक्षी** इति. **कुवलयदल**वद् अक्षिणी यस्या इति. प्रियमुखस्य इन्दुत्वेन [५६] कुवलयत्वेन दर्शनयोग्यता इति अर्थः. क्रियासमर्पणयोग्यतामपि आहुः **दल** इति. पत्रेष्वेव हि चाञ्चल्यरूपा क्रिया भवतीति तत्सादृश्येन क्रियासमर्पणयोग्यता इति अर्थः. एतेन ज्ञान-क्रिययोः एकाश्रयत्वेन एकरूपत्वं रसात्मकत्वेन निरूपितम्. ननु एवं सर्वसमर्पणे ज्ञान-क्रियाराहित्यं स्वामिन्यां स्याद् इति आशङ्क्य आहुः **मधुपतेः** इति. भगवतो वसन्ताधिपतित्वेन यथा वसन्तस्य सर्वत्र वृक्षादिषु नूतनरसोपयोगि-सरसतासम्पादकत्वं नूतनपत्राद्युत्पादकत्वं तथा नूतनरसोपयोगिज्ञान-क्रियासम्पादकत्वमिति न

पूर्वोक्तानुपपत्तिः इति भावः. एवं स्वरूपतो धर्मतश्च स्वामिन्या ऐक्यप्राप्तिं निरूप्य शब्दतोऽपि ताम् आहुः **मुदा गायन्ती** इति. भगवत्स्पर्शेन भावोदयात् तद्वशेन गानम्. गुणगानाद् वियोगकालिकाद् वैलक्षण्याय आहुः **मुदा** इति. तत्र हि परमार्त्या [५७]स्वास्थ्याय गानम्. अतएव उक्तं "**निन्युर्दुःखेन वासरान्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१) इति. अत्रतु केवलानन्देन गानम् इति वैलक्षण्यम् इति अर्थः. ननु गाने कथम् ऐक्यं? स्वामिनी-स्वामिस्वरयोः भेदेन ऐक्यासम्भवात् इति आशङ्क्य ऐक्यप्रकारम् आहुः **तन्मधुरमुरलीजातनि-नादानुसारम्** इति. भगवता हि स्वामिनीस्वरसजातीयस्वरोद्गमार्थं मुरलिकया नादः कृतः तत्राऽपि स्वरदायकवन् मधुरएव कृतः अन्यथा उभयोः स्वरस्य तारत्वेन स्वातन्त्र्ये भेदः स्याद् अतो न वैलक्षण्यं किन्तु सर्वथा ऐक्यम् इति अर्थः. भगवतः स्वामिनीमुखारविन्ददर्शन - तद्वदननिर्गतस्वरानुसन्धानपरत्वं बोधयितुं नादस्य स्वतएव उत्पत्तिं मुरलिकात आहुः **जात** इति. स्वतएव मुरलिकातो जातो भगवतः प्रेरकत्वेऽपि तदानीं तद्दर्शनादिना स्वाननुसन्धानाद् इति भावः. स्वामिन्याः स्वीयसकलहार्दवेदकत्वं बोधयितुं भगवन्नादे विशेषम् आहुः निनद इति. नितरां नद्यते व्यक्ततया उच्यते भावादिः हृद्गतो येन इति अर्थः. एतेन नादमात्रेणैव स्वामिन्याः सकलहृद्गतप्रभुभावज्ञानात् [५८]तद्विचारितानुपूर्व्यायुतगानकरणं युक्तम् इति भावः. तत्राऽपि विचार्य भगवतः स्वरं गृहीत्वैव यथा मिलतः स्वरौ तथा गायति इति वक्तुम् आहुः **अनुसारम्** इति. भगवतः स्वामिन्यधीनत्वं वक्तुं स्वामिन्या गाने मुख्यत्वम् आहुः **तारम्** इति. तारस्वरेण स्वामिनी मुख्यतया गायति. तत्र मधुरस्वरं प्रियः पूरयति इति अर्थः. निरन्तरं दर्शनम् ईदृश्याएव स्वामिन्या भवतु इति ज्ञापयितुम् आहुः **सा** इति. या पूर्वं सर्वप्रकारेण प्रियैक्यं प्राप्ता सा इति अर्थः. दर्शनमात्रेणैव सकलसिद्धिः इति ज्ञापयितुं तथा नाम आहुः **राधा** इति. भगवतोऽपि सिद्धिरूपा इति अर्थः. एतेन एतद्दर्शनं [५९]पुष्टिमार्गीयसिद्धेरेव मूर्तिमत्याः साक्षात्कारः इति निरूपितम्. स्वान्यस्य अयोग्यतां दर्शने वक्तुम् आहुः **मम** इति. ज्ञानशक्तेः सर्वांशेन सैव अस्मत् स्वामिनीविषयताम् आयात्विति एतदर्थं द्विवचनेन आहुः **नयनयोः** इति.

एवं प्रसादफलत्वेन निरन्तरदर्शनं प्रार्थयित्वा दास्योपयोगिदेहादिनिष्पत्त्यर्थं दासीभावस्थैर्यसिद्ध्यर्थं च प्रतिदिनं स्वामिन्या मुखारविन्दस्थितभक्तिरसं ताम्बूलचर्विताख्यं प्रार्थयन्ते **अमन्द...** इति. :

अमन्दप्रेमार्द्रात् किशलयमयात् केलिशयना-
दुषस्युत्थायाब्जारुणतरकपोलातिरुचिरा ॥
गृहं यान्ति श्रान्तिस्थगितगतिरास्याम्बुजगतम्
घनीभूतं राधा रसमनुदिनं मे वितरतु ॥५॥

अत्र हि स्वामिन्याः सम्पूर्णरात्रौ प्रियेण सह क्रीडां विधाय स्वगृहं समायान्त्याः स्वरूपम् उच्यते प्रसन्नतार्थं प्रसन्नतायाएव महारसदातृत्वसम्भवात्. यतो रात्रौ विविधक्रीडायां [६०]परमरसानन्दभरेण ताम्बूलचर्वितप्रक्षेपो विस्मृतः तथैव मुखे संस्थाप्य शयनं कृतम्. ततः प्रकाशे अरुणीये सम्भवति जनतावगतिभयाद् उत्थाय शीघ्रमेव प्रचलतीति तदा मार्गे अवश्यमेव ताम्बूलदानं भवतीति स समयः सर्वथा ताम्बूलप्राप्तियोग्यइति तमेव आहुः **अमन्दप्रेमार्द्रात्** इति. **अमन्दो** यः स्वामिनी - भगवतोः **प्रेमा** महासौरतसामयिकश्रमाननुसन्धान-हेतुः न सात्त्विकभावरूपो यत्र व्यजनादिनाऽपि न शुष्कता भवति तादृशप्रेम्णा एकीभूतेन उत्पन्नो यः श्रमः स्वेदो येन अग्रे जलक्रीडा-वनविचरणादिः तेन **आर्द्रात् केलिशयनाद्** इति अर्थः. एतेन सम्पूर्णायां निशि कृतेऽपि सौरतजागरे पश्चिमरात्रे किञ्चित् निद्रायाम् आगतायामपि केलिशयनार्द्रतया शीतलतानुसन्धानेन **उषस्येव** जागरणम् इति भावः. तथाच भगवतस्तु किञ्चित्कालं पुनः जागरान्तेऽपि शयनम् उक्तम्. अतएव प्रबोधे प्रभुचरणाः "**जय! जय! पुनरतिनिर्वृतिविहितनिद्र! जागृहि जागृहि**" (प्रबोध.६) इति. ननु एवं तूलिकाया युगलस्वरूपाधिष्ठितायाः कथं शीतलता इति आशङ्क्य आहुः **किशलयमयाद्** इति. न इदं तूलिकाशयनम् अपितु **किशलयमयं** नवमृदुलपल्लवैरेव निर्मितमिति भवत्येव शीतलता इति भावः. ननु एवं शैत्यानुसन्धानेऽपि कथं ततः शीघ्रम् उत्थानं भगवत्सङ्गस्य त्यक्तुम् अशक्यत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **केलिशयनाद्** इति लीलाशयनाद्

इति अर्थः. तेन त्रपया सखीजनज्ञानभिया भगवतः सुखश्रमानुसन्धानेन निष्प्रत्यूहं निद्रासम्पत्तिमत्या च शनैः शीघ्रमेव ततः उत्थानम् इति भावः. **उषसि** इति न सूर्योदयः तत्रापि अन्यबुद्धेः तदुदयात् पूर्वमेव ततः उत्थानम् इति भावः. ननु एवं समनुभूतरससमूहा तत्रैव कुतो न स्थिता? इति आशङ्क्य गृहानागमने तत्रत्यानां प्रातरन्वेषणपरत्वेन अग्रिमसुखप्रतिबन्धो व्याज प्रस्फुटीभवने रसाभासश्च स्यादिति एतदर्थम् आहुः **गृहं यान्ति** इति. [६१]तदानीन्तनीं स्वामिनीशोभां वर्णयितुं विशेषणम् आहुः **अब्जारुणतरकपोलरुचिरा** इति. अब्जात् कमलादपि **अरुणतरौ** अतिशयेन अरुणौ यौ **कपोलौ** ताभ्याम् अत्यन्तं **रुचिरा** इति अर्थः. अथवा, **'अब्ज'** पदेन भगवतो मुखकमलं करकमलं वा उच्यते. तथाच, ताभ्यां दशनक्षत-नखक्षतादिना [६२]**अरुणौ कपोलौ** यस्या इति. एतेन अखिललीलासूचकचिह्नवत्त्वेन कपोलयोः पुष्टिभक्तिरूपत्वं सूचितम्. यद्वा, चुम्बने ताम्बूललेपेन वा तथा. एतेन लौकिककमलतो वैलक्षण्यञ्च सूचितम्. तत्र आन्तरे च तथा आरुण्यं न बहिः अत्र बाह्याभ्यन्तरभेदेन इति भावः. यद्वा, [६३]मुखान्तःस्थित-ताम्बूलेन अतिस्वच्छतमगौरगल्लप्रतिबिम्बेन **अरुणतरकपोलौ** यस्या इति. तेन अस्याः तादृशमुखारविन्ददर्शनेन आन्तरः तद्हृदयस्थितो भक्तिरसो [६४]भक्तावेव स्फुटः साक्षात् दृष्टो भवति इति ज्ञेयम्. एवं शोभां वर्णयित्वा मार्गे अन्यजनदर्शनभीत्या तस्मिन् समये शीघ्रगतिसम्भवे क्व ताम्बूलचर्वितदानावसरइति व्यर्थं तदा प्रार्थनम् इति आशङ्क्य आहुः [६५]**श्रान्तिस्थगितगतिः** इति. **श्रान्त्या** विविधबन्धजरतिश्रमेण **स्थगिता** स्थिरीभूता **गतिः** यस्या इति. एतेन श्रमवशेन मध्ये [६६]मार्गे स्थित्वा स्थित्वा व्रजतीति तदानीं तद्दानावसरइति सार्थकं प्रार्थनम् इति भावः. ननु एवं स्वामिनीसम्बन्धिरसस्य केवलभगवदुपभोग्यस्य प्रार्थनं दासीनां न घटत इति आशङ्क्य आहुः **आस्याम्बुजगतम्** इति. स्वामिन्या **आस्यमेव अम्बुजं** कमलं [६७]तद्रसाधारं तस्मिन् आनने **गतं** प्राप्तं भगवद्वदनाद् इति अर्थः. एतेन पुष्टिभक्तिरूपस्वामिनीवदनगतत्वेन भगवद्रसस्य तस्यैव एतत्सम्बन्धिनः प्रार्थनं नतु केवलैतद्वदनगतरसस्येति न दोषः इति बोध्यम्. ननु **''लोकेऽपि यत् प्रभुर् भुंक्ते तन्न यच्छति**

कर्हिचित्" (बालबोध.१४) इति न्यायेन स्वामिनीभोग्यस्य प्रार्थनम् अयुक्तम्, अयोग्यत्वाद्. "**अयोग्यम् इच्छन् पुरुषः पतत्येव**" ( ) इति वाक्यात् प्रत्युत अनिष्टमपि इति आशङ्क्य आहुः **घनीभूतम्** इति. [६८]भगवन्मुखारविन्दे हि भक्तिरूपे द्विविधो रसो भगवतो [६९]भक्तिरूपो घनीभूतो द्रवीभूतश्च. तत्र आद्यो भक्तिरसरूपः केवलो भक्तेः भावरूपायाः स्वरूपात्मकत्वात्, तच्च घनीभूतम्. कामरसयुक्तस्तु सएव द्रवीभूतः स्वमुखेन स्वभक्त्या [७०]पेपीयमानत्वात्. स तु स्वामिन्या हृदये प्रविष्टः तद्रसस्य तस्य मनोजत्वेन स्वामिनीहृदयाधारत्वात्. केवलस्तु प्रभुस्वरूपात्मको भक्तावेव स्थितइति तस्य प्रार्थनं न अयुक्तम् इति अर्थः. तथाच पुष्टिभक्तिरेव भावात्मकभगवदात्मिका दास्ययोग्यतासम्पादकत्वेन ताम्बूलचर्वितप्रार्थनव्याजेन प्रार्थिता इति भावः. ननु एवं ताम्बूलचर्विते गृहीतरसे रसाभावेन तत्प्रार्थने भक्तिरसेऽपि भावात्मके संयोगभिन्ने न सरसत्वं प्राप्येत इति आशङ्क्य आहुः **रसम्** इति. घनीभूतस्यापि तस्य रसत्वमेव रसघनत्वात् नवनीतवद् इति अर्थः. नहि रसघनं न रसः. तापसम्बन्धेन घृतस्येव तस्याऽपि वियोगाग्निना द्रवीभूय रसपूररूपत्वसम्पत्त्या भावपुष्टिहेतुत्वाद् इति. तथाच न तथाशङ्कोदय इति भावः. **राधा** इति. सिद्धिरूपत्वेन प्रभोः सर्वेषां फलसाधकत्वं निरूपितम्. तथाच एतद्दत्तमेव एतत्फलं प्राप्यं न भगवद्दत्तमपि इति भावः. **मे** इति तद्भाववत्त्वेन योग्यता स्वस्य अन्येषाम् अयोग्यता च निरूपिता. तथाच [७१]प्रभुभिरेव तत्प्रार्थनं विधेयं [७२]योग्यत्वात् न अयोग्यैः अन्यैः इति भावः. ननु एवं दुर्लभतमस्य अस्य रसस्य सकृत्प्राप्तावपि कार्यसिद्धौ [७३]भावात्मकप्रभुस्वरूपे प्राप्ते किमिति प्रत्यहं तत्प्रार्थनम् इति आशङ्क्य तदर्थम् आहुः **अनुदिनम्** इति प्रतिदिनम् इति अर्थः. तथाच सत्सङ्गस्येव निरन्तरं क्रियमाणस्य भावपोषकत्वम् अस्येति तदर्थं प्रत्यहम् एतत् प्रार्थना इति भावः. **वितरतु** इति. स्ववितरणगुणेनैव दाने तत्प्राप्तिः न प्रार्थनादिसाधनैः न वा स्वपात्रतयेति तात्पर्यं बोध्यम्.

एवं दास्योपयोगिभावात्मकभक्तिरसं प्रार्थयित्वा सेवारूपं तद्रसम्

अग्रिमश्लोकेन प्रार्थयन्ते **प्रियेण** इति. :

प्रियेणाक्ष्णा संसूचितनवनिकुञ्जेषु विविध-
प्रसूनैर्निर्माय्यातिशयरुचिरं केलिशयनम्॥
दिवाप्येषा गुञ्जन् मधुपमुखरे धीरपवना-
श्रिते क्रीडन्ती मे निजचरणदास्यं वितरतु॥६॥

दास्यं हि सेवा, सा एकान्तएव स्वामिन्याः [७४]प्रियसम्बन्धेन. तत्रापि व्याजेन रमणार्थं गमने तत्र अन्यतो गोपनाय स्वस्यैव तत्र स्थितौ विशिष्टा भवति. गृहे प्रकटरमणे वा दासीभूयस्त्वसम्भवात् न तथा सेवासमयइति स्वामिन्याः तादृशमिलनेन दिवारमणम् अत्र उच्यते. **प्रियेण** इति अत्यन्तं प्रीतिविषयइति स्वामिन्याः स्वागमनाशाजनने किञ्चित् स्वास्थ्यं [७५]भवति आगमनपर्यन्तं प्रभोः अन्यथा व्याकुलतैव स्यादिति ताम् असहमानेन प्रभुणैव निकुञ्जसूचनम् अन्यगोपनार्थं न सखिभिः इति अर्थः. ननु एवं सूचनमात्रेण प्रभुवदनावलोकनपरायणाया भक्त्यभिनिविष्टचित्तायाः कथं निकुञ्जादिविज्ञानोद-यः? इति आशङ्क्य आहुः **अक्ष्णा** इति. ज्ञानशक्तिः स्वीया प्रभुणा तत्रैव स्थापिता. तयैव सर्वविज्ञानोदयो [७६]वदनारविन्ददर्शनेऽपि इति अर्थः. तत्राऽपि एकैव रसात्मिका न अन्या ज्ञानशक्तिरिति एकवचनम्. अन्यथा सर्वज्ञता स्यात्. [७७]ततश्च अखिलप्रपञ्चस्फूर्तौ निरोधासम्भवइति तथा इति भावः. **सम्यग्** इति न निकुञ्जमात्रसूचनम् अपितु तत्राऽपि अतिगुप्तस्थलविशेषस्थितिप्रकारसमयविशेषशयनादिनिर्माणसूचनमिति तथा इति अर्थः. ननु निकुञ्जानां स्वीयत्वेन प्रतिस्वामिनीपरिगृहीतानां तत्तत्सखीजनसाहित्येन कथम् अतिगूढतया स्थितिः? इति आशङ्क्य आहुः **नव** इति. स्वामिन्यर्थम् अधुनैव प्रभुणा निर्मितानि नतु पूर्वं गृहीतानि तानि इति अर्थः. एतेन प्रमेयमार्गे प्रभोरेव स्वस्वामिनीसम्बन्धि - लीलोपयोगि - सकलसामग्री - सम्पादकत्वम् इति बोधितम्. [७८]अतिकाङ्क्षया सहस्रलोचनावलोकनभावइव स्वामिन्या भगवतोऽपि स्वामिनीसम्बन्धो अनेकरूपैः विधेय इति भाव इति बोधनार्थं **निकुञ्जेषु** इति बहुवचनम्. एवं भगवत्सूचनेन हृदये निर्द्धारात्

प्रियागमनाशासम्पत्तिं निरूप्य सेवोपयोगिस्थानालङ्करणम् आहुः **विविधप्रसूनैः** इति. प्रसूनानाम् अनेकविधवर्णत्वं सूचितम्. तथाच चित्रप्रकारेण शयने पुष्पाणाम् आस्तरणम् इति भावः. ननु एतत्सखीजनकृत्यं स्वयं स्वामिनी कुतः शिक्षितवति? इति आशङ्क्य आहुः **निर्माय** इति. स्वबुद्ध्यैव स्वतः केलिशयनविधानं नतु अन्यशिक्षया इति अर्थः. एतेन तदाश्रयस्य शयनस्य नूतनत्वे लीलानामपि तदाधेयानाम् अतिनवीनत्वं सूचितम्. अतएव शोभातिशयोऽपि तत्र भवतीति आहुः अन्यवैलक्षण्याय **अतिशयरुचिरम्** इति. सखीजननिर्मितादपि **अतिशयेन** आधिक्येन **रुचिरं** मनोहरम् इति अर्थः. एतेन दासीभावोऽपि तत्र अस्ति भोग्यत्वेऽपि सर्वात्मभाववत्त्वाद् इति बोधितम्. तत्राऽपि लीलाभावेनैव तन्निर्माणं नतु शयनभावेन इति वक्तुम् आहुः **केलिशयनम्** इति लीलाशयनम् इति अर्थः. एतेन लीलास्वपि मुख्यैव सा सूचिता जाता इति भावः. स्वामिन्याः तत्र निकुञ्जे सर्वाज्ञाततया स्थितिनिरूपणार्थम् आहुः **दिवाऽपि** इति. एतेन निकुञ्जप्रदेशस्य अतिनिबिडत्वेन न तत्र दिवसेऽपि अन्यदर्शनं भवति इति भावः सूचितः. ननु अतिनिभृतनिकुञ्जे दर्शनाभावेऽपि स्वामिन्याः केलिशयननिर्माणाद्यर्थं चलनादिना नूपुरादिशब्दश्रवणेन अन्येषां ज्ञानं भविष्यति इति आशङ्क्य निकुञ्जेष्वपि तद्विशेषम् आहुः **गुञ्जन्मधुपमुखर** इति. **गुञ्जन्तो** गुञ्जारवं कुर्वन्तो ये **मधुपा मधुपानोन्मत्तभ्रमराः तैः मुखरिते** सशब्दे निकुञ्जे [७९] इति अर्थः. एतेन बहवो मत्तभ्रमरा **निकुञ्जेषु** भगवदागमनाय अन्येषां शब्दश्रवणाभावाय गुञ्जन्तीति न अन्येषाम् एतज्ज्ञानम् इति सूचितम्. ननु स्वामिनीप्रत्यङ्गपङ्केरुहामोदभरभरि [८०] तपवनागमे सखीनां तत्स्थित्युन्नयनं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **धीरपवनाश्रित** इति. **धीरो** धैर्यवान् इति मन्दः ततो बहिर्गमनाक्षमः **पवनो** वायुः तेन **आश्रितः** इति अर्थः. एतेन प्रकृतिचञ्चलोऽपि पवनः प्रभुलीलोपयोगित्वाद् धैर्यम् अवलम्ब्य निकुञ्जमात्रम् आश्रित्य स्वामिवत् प्रभ्वागमनप्रतीक्षया तत्रैव तिष्ठति इति बोधितम्. अथवा, **धीरः** पण्डितो अतिचतुरः लीलामात्रएव वहति अन्यदा नेति सखीजनवत् प्रभ्वागमनपर्यन्तं तस्याऽपि तूर्ष्णीभावइति न बहिः निर्गतिः इति भावः. एवं योग्यस्थले शय्यादिनिर्माणम् उक्त्वा भगवदागमनोत्तरं तत्र दिवा कर्तव्यम् आहुः **क्रीडन्ती**

इति. एतेन स्वामिन्याः कर्तृत्वेन मुख्यत्वनिरूपणाद् एतावत्कालपर्यन्तं भावनाया ये-ये प्रकारा भाविताः तैः-तैरेव स्वयं विगतलज्जा रमते न तु भगवदभिमतप्रकारैः, प्रभोस्तु तदधीनत्वाद् इति ज्ञापितम्. एवं रमणं न [८१]अन्यस्वामिनीनां सम्भवति. [८२]दिवा गृहकार्यस्य प्रतिबन्धकत्वात्. अग्निकुमाराणामपि श्रीनन्दभवनसम्बन्धिभगवत्कार्यस्य तथात्वाद् अत्रैव एतत्सम्भव इति बोधयन्त आहुः **एषा** इति. एषैव न अन्य इति अर्थः. मुख्यस्वामिन्याः स्वपरगेहकार्यस्य अप्रतिबन्धकत्वाद् व्याजेन निष्प्रत्यूहागमन-सिद्धिः इति भावः. अतएव तासां दिवा गुणगानेन दिननयनं सायम् आगमनाशया **"निन्युर् दुःखेन वासरान्"** (भाग.पुरा.१०।३२।१) इति वाक्याद् इति उक्तम्. एवम् अतिगुप्तलीलाश्रयस्थल-समयाद्युक्ता तत्र स्वकर्तृकस्वामिनीचरणदास्यरूपफलप्रार्थनम् आहुः **निजचरणदास्यम्** इति. **निजचरणदास्यं** मार्गागतिसंलग्नव्रजभूरजो-निवारणं-प्रक्षालनप्रोञ्छन-नखभूषणवृश्चिकाभरणनूपुरादिपरिधापन-आलक्तकादिविलेखन-विलम्बाभावाय[८३]-स्वोत्तरीयव्यजनवायुविहितालक्तककुङ्कुमादिविशोषण-श्रमापनोदनाद्यर्थ-विहितस्वाङ्कविधृत-पदकमलसंवाहनादिरूपं स्ववितरणगुणेनैव नतु अस्माकं योग्यतया **वितरतु** इति अर्थः. यद्वा, **'एषा'** इति भाववशेन बहिः प्रकटं पुरःस्थितं तद्रूपम् उच्यते. तथाऽपि न साक्षाद् वक्तुं शक्यते "त्वं वितर" इति. स्वेच्छामात्रप्रदेयत्वाद् अस्य फलस्य न [८४]नियोगयोग्यता इति ज्ञापयितुं परोक्षइव प्रथमपुरुषप्रयोगएव कृतो न मध्यमपुरुषप्रयोगः इति अर्थः. ननु स्वामिनीं प्रति भगवच्चरणदास्यं कुतो न प्रार्थितं? तस्य तत्फलरूपत्वेन ततोऽपि उत्कृष्टत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **निज** इति. इतराकाङ्क्षायां फलरूपदास्यभावात् च्युतिः भवेत्. स्वामिनीमात्रसम्बन्धित्वेन [८५]विशिष्टप्रियकृपाया अभावश्च स्याद् इति अर्थः. एतेन स्वसेवातोऽपि प्रभोः तत्सेवा अतिप्रिया इति सूचितम्. अतएव उक्तम् अस्मदाचार्यवर्यैः यमुनाष्टके **"प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर् यथा गोपिका"** (यमुना.६) इति. **मे** इति पूर्ववत्.

एवं भक्तिमार्गप्रकारेण नामजपम् (श्लो.१) आरभ्य [८६]दास्यान्तपुष्टिपु-

ष्टिफलं (श्लो.६) प्रार्थयित्वा केवलम् आश्रयं सर्वपरित्यागेन तन्मात्रावलम्बनरूपं स्वतन्त्रफलात्मकं प्रार्थयन्ते **कदम्बारूढम्** इति. :

कदम्बारूढं या निजपतिमजानन्त्यहनि तत् -
तले कुर्वन्ती स्वप्रियतमसखीभिः सहकथाम्।।
अकस्माद् उद्वीक्ष्य स्फुटतरलहारोरसमिति
स्मितस्मेरव्रीडाननमुदितदृक् सा मम गतिः।।७।।

सा पूर्वोदितस्वरूपा स्वामिनी **मम गतिः** आश्रयो अस्तु इति अर्थः. तत्र [८७]आश्रयकृतियोग्यस्वरूपनिरूपणार्थं स्वाश्रितपरिपालकत्वं स्वहार्दविनिवेदनेन स्वकौटिल्यस्फूर्तिरूपतद्दोषविनिवर्तकत्वं च वक्तुं स्वामिन्याः काञ्चिद् अवस्थाम् आहुः **कुर्वन्ती कथाम्** इति. प्रीतिविषयत्वेन प्रभोः तत्पारोक्ष्ये तत्कथयैव कालनिर्वाहः इति अर्थः. यद्वा, **कथां** [८८]स्वाभिलषितप्रकारेण यत् प्रिय [८९]स्वरूपानुभावादि तत्सम्बन्धिनीं **कथाम्** इति अर्थः. एतेन यद् अनुभूतं निशि निकुञ्जे प्रियतमप्रसङ्गेन तत्सर्वम् आसक्तिभरानुभावेन स्थातुम् अशक्ता भगवत्सम्बन्धिनीभिः **सखीभिः सह** अन्यतो गोपनाय क्वचिद् वने वृक्षच्छाये निषद्य निवेदनानुसन्धानवद् अभ्यसन्ती कथयति इति अर्थः. ननु स्वसखीभिः सह ताम् अनुक्त्वा भगवत्सखीभिरेव सह तत्कथने को हेतुः ? इति चेत् तत्र आहुः **स्वप्रियतम** इति. **स्वस्य प्रियतमो** देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेभ्योऽपि अतिप्रीतिविषयः तस्य **सखीभिः** इति. कथनीया च प्रियवार्ता न स्वस्येति [९०]स्वसखीभ्यः अनुक्त्वा भगवत्सखीभ्यएव अधिकप्रियाभ्यः प्रियसम्बन्धित्वेन ताभ्यएव कथयति इति अर्थः. एतेन स्वसख्यः प्रियान्तिकप्रेषणादौ अतिप्रियाः, कथायां प्रियसख्य इति सूचितम्. ननु कथा हि परोक्षे वाच्या न प्रियसन्निधौ तस्याः परोक्षएव कालनिर्वाहहेतुत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **अजानन्ति** इति. कथावेशेन सर्वेन्द्रियनिरोधेन कथनाद् भगवता वा निश्चलतयास्थितेन कदम्बपल्लवकुसुमादिभिः स्वस्वरूपाच्छादनाद् अज्ञानम् इति अर्थः. ननु सन्निधिस्थे प्रिये तद्भाववत्या भावेनैव स्फूर्तिसम्भवेन कथम् अज्ञानम् ?

इति आशङ्क्य आहु: **कदम्बारूढम्** इति. कदम्बो हि नीपत्वाद् व्रतचर्याध्याये कामरक्षकत्वेन उक्त:. प्रभो: तदारूढत्वेन कामसहितएव प्रभु: स्वामिनीहृदये समायातीति पूर्वानुभूतलीलाविशिष्टप्रभोरेव स्वसंयुक्तस्य स्फूर्ति: नतु पृथक् स्थितस्येति नि:कामत्वाभावात् न ज्ञानम् इति भाव:. यद्वा, **कदम्ब:** स्त्रीणां समूह: तत्र **आरूढम्** इति अन्यसम्बन्धी प्रभु: उक्त: तथाच [९१]भावेन स्वयं भावात्मकस्यैव स्वसम्बन्धिनो ज्ञानं सम्भवति न [९२]अन्यसम्बन्धिन: ज्ञानम् इति भाव:. ननु एवं पश्चात् कथं विज्ञानम् इति चेत् तत्र आहु: **निजपतिम्** इति. **निजपतिम् अकस्माद् उद्वीक्ष्य** इति सम्बन्ध:. यदा भगवान् कथ्यमानलीलासम्बन्धिस्वरूपं दर्शयितुम् इच्छां कृतवान् तदा हृदयात् तिरोभूय कदम्बे स्थित्वा पत्रचालनादिकं ज्ञापनाय कृत्वा स्वात्मानं ज्ञापितवानिति तदा ज्ञानं सम्पन्नम् इति भाव:. स्वप्नोत्थितायाइव तदानीम् अवस्था स्वामिन्या: सम्पन्ना इति वक्तुम् आहु: **अकस्माद्** इति. सहसैव प्रभुं तिरोहितं ज्ञात्वा भयेनेव **उद्वीक्ष्य** इति अर्थ:. सखीवृन्दे भूमौ पूर्वं दृष्टिं प्रसार्य अदृष्ट्वा पत्रचालनादिना उपर्येव प्रभुकृतशब्दम् आकर्ण्य तथैव दृष्टिं कृतवतीति आहु: **उद्वीक्ष्य** इति **(उद्)** ऊर्ध्वं **वीक्ष्य** इति अर्थ:. ननु गृहएव एकान्तं विधाय कुतो न कथा कथिता इति आशङ्क्य आहु: **अहनि** इति. तत्र दिवा व्याजेनापि एकान्तासम्भवाद् इति भाव:. ननु कदम्बसम्मुखे कुतो न स्थिता इति आशङ्क्य आहु: **तत्तले** इति. कामरक्षकत्वात् तं पृष्ठत: कृत्वा तम् आश्रित्येव स्वकामकथां कथयतीति न तथा स्थिति: इति अर्थ:. एवं प्रियस्वरूपदर्शनेन स्वामिन्या मुखे तदानीं भावद्वयम् आविरभूदिति आहु: **व्रीडाननमुदितदृग्** इति. **व्रीडायुक्तम् आननं मुदिता** च **दृक्** दृष्टि: यस्या इति अर्थ:. ननु प्रियदर्शनम् एकान्ते प्रियसखीभि: सह नयनानन्दहेतु: भवत्येव परम् अन्यजनावलोकनाभावेऽपि व्रीडोदये को हेतु: ? इति चेत् तत्र आहु: **स्फुटतरलहारोरसम्** इति. **स्फुटं** प्रकटं यथा स्यात् तथा [९३]**तरलो हारोरसि** यस्य इति अर्थ:. एतेन यदा स्वलीलां स्वसखीभि: सह कथयति तदा [९४]प्रभुरपि तद्भावापन्न: पीताम्बरमुद्धाट्य हारं हैमं मुक्तामयं वा स्वामिनीं विभाव्य तत्तल्लीलाम् अनुकुर्वन् उर:स्थलं तथा चञ्चलं करोतीति तद्दर्शनेन स्वामिन्या लज्जा

स्वभाववशतः सम्पन्ना इति सूचितम्. ननु एवं व्रीडायां प्रभुः अप्रसन्नः स्यात् स्वामिनीवदनावलोकनेच्छयैव स्वात्मानं ज्ञापितवान् इति आशङ्क्य आहुः **अतिस्मितस्मेरम्** इति. **अतिस्मितम्** उत्तरोत्तरम् अनुवर्तमानो मन्दहासः तेन **स्मेरं** सुन्दरम् इति अर्थः. एतने प्रभुरपि सव्रीडवदनारविन्दावलोकनाय हास्यं कृतवानिति न अप्रसन्नताशङ्का इति बोधितम्. **सा** इति पूर्वोक्तसकलश्लोकस्वरूपा इति अर्थः. **मम** इति. पूर्ववत् **गतिः** आश्रय इति अर्थः.

एवं दास्याश्रयौ भक्तिमार्ग - स्वतन्त्रशरणमार्गफले सम्पूर्णग्रन्थेन प्रार्थयित्वा लौकिकालौकिकफलान्तरनिषेधपूर्वकं देहनिर्वाहोऽपि लौकिकफलरूपः स्वामिनी-सम्बन्धिभिः पदार्थैः प्रसादत्वेन प्राप्तैरेव भवतु इति प्रार्थयन्ते :

न मे भूयान् मोक्षो न पुनरमराधीशसदनम्
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम्
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तवपदजलं पेयमपि तद्- ॥
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम् ॥८॥

न मे भूयान् मोक्षः इति आदौ वैदिको निवृत्तिमार्गीयः परमकाष्ठापन्नफलरूपो **मोक्षो** निषिद्धचते. भेदनिवर्तकत्वेन सेवारसानुभवविरुद्ध-त्वात् सर्वथैव अनादरणीयत्वम् इति भावः. एवं मोक्षं निषिद्धच भेदसहिष्णुत्वेन कदाचित् प्रवृत्तिमार्गपरमकाष्ठापन्नफलं स्वर्गं उपादेयो भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **न पुनर् अमराधीशसदनम्** इति. भेदसहिष्णुत्वेपि अमरसम्बन्धित्वाद् अन्यसम्बन्धिफलं न फलम् इति अर्थः. ननु योग - ज्ञानेऽपि साधनत्वेऽपि फलरूपे सिद्धिः सर्वज्ञत्वादिसाधकत्वात् तएव प्रार्थनीये इति आशङ्क्य आहुः **न योगो न ज्ञानम्** इति. योग-ज्ञानयोः अङ्गत्वम् अलौकिकफले, साधकता लौकिकफलइति तत्साधकत्वात् निन्दितत्वम् इति अर्थः. ननु विषयानन्दएव फलम् अस्तु सुलभत्वात् सर्वाभिलषितत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **न विषयसुखं दुःखकदनम्** इति. **विषयसुखं** न लोके अनुभूयमानं केवलं सुखं किन्तु **दुःखेन** विविधप्रकारेण **कदनं** यस्मिन् जराव्याधिलोकभयादिति सुखे [९५] तदधिकदुःखसम्भेदात्. पर्यवसानतस्तु नरके हेतुरिति केवलदुःखरूपमेवेति

न [९६]फलत्वेन गण्यम् इति अर्थः. एवं फलान्तरत्वेन सम्भाव्यमानं [९७]प्रतिषिध्य प्रस्तुतं देहनिर्वाहहेतुभूतं लौकिकसदृशं [९८]निरन्तरानुभवकरणं स्वाभिलषितं फलम् आहुः **त्वदुच्छिष्टम्** इति क्षुन्निवारकत्वेन **भोज्यम्** अपेक्ष्यम् अन्यथा देहस्थितिः न स्यादिति स्वदेहस्थित्या दास्यसिद्धये **त्वदुच्छिष्टं** ताम्बूलचर्वितप्रसादादि तदेव निरन्तरं **भोज्यम्** अस्तु न अन्यद् इति अर्थः. ननु भगवत्प्रसादग्रहणं कुतो न प्रार्थितम् इति चेत् तत्र आहुः **त्वद्** इति. एतेन भगवानपि पुष्टिजनप्रियः स्वामिनीषु स्थितएव वस्तुजातम् अङ्गीकरोति न पृथगिति स्वामिन्युच्छिष्टग्रहणेनैव तदुच्छिष्टग्रहणं सम्पद्यते न अन्यथा इति बोधितम्. अतएव उक्तं श्रीवल्लभाष्टके "**अद्धा तद्गोपिकेश**" (वल्लभाष्टकम्.४) इति. अन्यत्राऽपि "**भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये गोपवधूपतेः त्वन्मुखाम्बुजसुरभिभोज्यं भुङ्क्तेऽधिकं प्रियः**" (सेवा.श्लो.१५) इति. किञ्च, भावात्मकस्य प्रभोः भक्तहृदयएव स्थितिरिति तद्भोगेनैव भगवद्भोगइति तदुच्छिष्टग्रहणेनैव प्रभूच्छिष्टग्रहणसम्पत्तिरिति तथाप्रार्थनम् इति भावः. एवं क्षुन्निवर्तकं प्रसादप्राप्तिं प्रार्थयित्वा तृण्णिवर्तकमपि भिन्नं प्रार्थयन्ते **तवपदजलं पेयम्** इति. तव **पदजलं** पादनिर्णेजनजलं चरणारविन्दमकरन्दरसवत् कमलगन्धं तृष्णिवारकत्वेनाऽपि पेयं न अन्यद् इति अर्थः. '**तव**'इति एकवचनेन प्रभुणा सह एकीभूताया मुख्यस्वामिन्याएव न पृथक् भगवतोऽपि पदजलं पेयम् इति बोधितम्. '**तव**'इति असमासाद् उच्छिष्टइव न साक्षाद् भक्तिरसात्मकस्वरूपसम्बन्धेन अलौकिकस्वामिनी दास्ययोग्यदेहसम्पादकत्वम् अपितु किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुतया जीवनहेतुत्वं न तु तन्मात्रेणैव स्थितिसिद्धिः इति बोधितम्. एवम् एतद्वयं प्रार्थयित्वा लोकवेदविहितभक्तिमार्गादिभ्यो निर्भयतया स्थित्यर्थं स्नानस्थानीयां चरणरजसो मस्तके स्थितिं प्रार्थयन्ते. **अपि तद्रजो मूर्ध्नि** इति. '**अपि**'इति समुच्चये. तद्रजः चरणरजो **मूर्ध्नि** मस्तके अस्तु. तत्र स्थित तद्रजःसम्बन्धस्य स्नानजलसम्बन्धस्येव अखिलाङ्गव्यापित्वसम्भवाद् इति अर्थः. सेवायां स्नानं त्रिषवणम् अपेक्षितमिति रजःसम्बन्धमपि तथा प्रार्थयन्ते **अनुसवनम्** इति त्रिकालम् इति अर्थः. आधिदैविकः कालोऽयं तद्दास्यहेतुः न लौकिक इति [९९]बोधनार्थम् अलौकिकतद्वाचकं '**सवन**'पदम्. अतःपरं [१००]फलस्य एतद्दानमात्रसाध्यत्वं

न साधनसाध्यत्वम् इति ज्ञापयितुं दानयोग्यस्वरूपम् आहुः **स्वामिनि!** इति. सम्बोधनेन दासीनां लौकिकालौकिकाखिलफलसम्पादकत्वं देहनिर्वाहकत्वं स्वामिन्यएव घटते न अन्यासाम् इति सूचितम्. आकाङ्क्षाधिक्येन फलनित्यतां विस्मृति आहुः **प्रतिभवम्** इति. प्रतिजन्मे इति अर्थः. अतएव "**कर्मभिः भ्राम्यमाणानाम्**" (भाग.पुरा.१०।४४।६७) इत्यादि श्रीनन्दवचः "**आसामहो चरणरेणुः**" (भाग.पुरा.१०।४४।६१) इति श्रीमद्उद्धववाक्यञ्च. अस्तु इति प्रार्थनं न साधनसाध्यता एतस्य फलस्य इति बोधनाय.

एवं फलत्रयं सम्प्रार्थ्य स्तोत्रस्य एतद्विषयकतयैव फलसाधकत्वं प्रार्थयन्ते स्वश्रमसाफल्याय **इति** इत्यादि. :

इति श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगा-
१०१ **नुगत्वानन्दाम्भोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा॥**
मयेदं प्रादुर्भावितमतिसुखं 'विट्ठल'पदा-
१०२ **भिधेये मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम्॥९॥**

इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितं स्वामिन्यष्टकं सम्पूर्णम्

इति इति समाप्तौ. अथवा, '**इति**' इत्यनेन प्रकारेण इति अर्थः. ननु स्तोत्रस्य पठ्यमानस्य सर्वत्रैव फलसाधकत्वमिति कथं स्वविषयकतयैव तत्प्रार्थनम् इति चेत् तत्र आहुः **मया इदं प्रादुर्भावितम्** इति. भगवतएव तत्स्तोत्रे एतत्फलप्राकट्यस्य अनभीष्टत्वेऽपि **मयैव** स्वभावप्रौढिवशेन स्थातुम् अशक्तेन **इदं प्रादुर्भावितं** स्वामिनीं विज्ञाप्य तत्सखीभिः निरन्तरं पठ्यमानं विद्यमानमेव प्रकटीकारितम्. नतु सर्वोद्धारकेण प्रभुणा प्रेरितेन मयेति न एतस्य सर्वार्थतेति तथाप्रार्थनम् उचितम् इति भावः. ननु एवम् अतिगूढस्य स्तोत्रस्य स्वहृद्येवस्थापनम् उचितम् न तु बहिः प्रकटनम् इति आशङ्क्य आहुः **श्रीमद्** इत्यादि. श्रीमतिलक्ष्मीसमाश्रितत्वेन यानि **गोपीजनानां चरणानि** तान्येव **पङ्के** रुहाणि सुखसेव्यत्वादिना कमलानि तेषां **युगं** द्वयं तस्य **अनुगत्वं** सर्वदा सेवानुकूलसहगतिमद्दासीत्वं तदेव **आनन्दाम्भोधिः** आनन्दसमुद्रः

तस्मिन् **निभृतानि** गुप्ततया स्थितानि वस्तुतो निमग्नानि कायवाङ्मनांसि यस्येति सर्वात्मना निरोधः उक्तः. तथा च न विचार्य एतत्स्तोत्रप्रकटीकरणं किन्तु निरोधवशेन अन्यास्फूर्त्या [१०३]दासीत्वभावप्रौढ्येन एतत्स्तोत्राविर्भावनम् इति भावः. ननु कदाचिद् भगवता अन्येषामपि कृते निरोधे योग्यतासम्पत्तौ तदर्थमपि एतत्स्तोत्राविर्भावो भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **अतिसुखम्** इति. ब्रह्मानन्दतः संयोगप्रकारकभजनानन्दतश्चापि अतिशयितं केवलभावात्मकं सुखं यस्मादिति न अन्येषाम् एतद्रससमूहाधेयहृदयत्वमिति न योग्यता इति भावः. ननु '**मयि**'इति अस्मच्छब्दप्रयोगः श्रुतिष्वपि परार्थत्वेन प्रयुक्तो भगवद्वाक्येऽपि ''**स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पते प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये**'' (पारा.गृ.सू.१५।२०) इत्यादौ तथा ''**कृष्णएव गतिर् मम**'' (कृष्णा.स्तो.१) इत्यादि - निजाचार्यवाक्येषु यथा तथा प्रकृतेपि प्रार्थकजनाभिप्रायं हृदिकृत्वा '**मयि**'इति उक्तिः इति चेत् तत्र आहुः '**विट्ठल**'**पदाभिधेयः** इति. '**विट्ठल**' इति **विशेषेण ठान्** ज्ञानेन साधनैश्च शून्यान् **लाति** अनुग्रह्णातीति यत् **पदम्** असाधारणधर्मविशिष्टधर्मिवाचकं तेन **अभिधेये** अभिधातुं वाग्विषयीकर्तुं योग्यः इति अर्थः. एतेन असाधारणधर्मवाचकनामनिरूपणेन अन्यसम्भावनानिवृत्तिः [१०४]इति बोधितम्. ननु भवतु अन्येषाम् अयोग्यता परं निजाश्रितानां कदाचित् सा भविष्यति इति आशङ्क्य तेषामपि स्वचरणसमाश्रयणमेव फलं साक्षात् परम्परया तु तद् इति बोधनाय अन्ययोगव्यवच्छेदकम् '**एव**'कारम् आहुः **एव**इति. ननु एवमेव तत्फलं सर्वथा प्राप्यमिति विज्ञाने तदीयानाम् आशाभङ्गेन क्लेशः स्यादिति तदभावाय आहुः **प्रतिफलतु** इति. प्रतिबिम्बवत् प्रत्यक्षतया परिदृश्यमानं मयि तिष्ठतु इति अर्थः. एतेन श्रीमत्प्रभुचरणावलोकने साक्षात् तत्र तत्फलदर्शनेन स्वस्य तदाश्रितत्वे फलम् इदं भविष्यति इति आशासमुदयेन न क्लेश इति भावः. ननु प्रतिफलने प्रतिबिम्बवद् एतस्य सर्वदा न स्थितिः स्वस्मिन् आयास्यति इति आशङ्क्य आहुः **सततम्** इति निरन्तरम् इति अर्थः. एतेन बिम्बसाम्मुख्यएव सदा प्रतिबिम्बइति अत्रापि [१०५]स्वामिनीस्वरूपसाम्मुख्यं प्रार्थितम् इति विज्ञापितम्. ननु लीलासृष्टिस्थितौ एतत् सम्भविष्यति. जगदुद्धारार्थं भूलोकप्राकट्ये तु कदाचित् न एतत्फलं भविष्यति इति आशङ्क्य

आहुः **सर्वत्र** इति. अत्रापि भावनया सेवादौ प्रसादादिग्रहणादौ एतदेव फलं भवतु इति प्रभुचरणनिगूढाशयः कृतपुण्यपुञ्जैः भाग्यनिधिभिः निजाचार्यचरणनलिनयुगलसमाश्रितैः दासैः अवधेय इति दिक्.

निजाचार्याः निजकुलप्रसूतं निजसेवकम्॥
निजस्वरूपबलतो निजं कुर्वन्तु मामपि॥१॥
कृपयन्तु कृपापूर्णाः कृपया प्रकटीकृताः॥
[१०६] कृपालुना श्रीप्रभवः प्रकुर्वन्तु कृपां मयि॥२॥
राधैकहृदयाधारो हृदिस्थापितराधिकः॥
स्वरूपेणापि राधैक्यं प्राप्तः कृष्णः प्रसीदताम्॥३॥
श्रीराधिकासमाविष्टगोपीचरणरेणवः॥
निजाचार्यपदाम्भोज दासं कुर्वन्तु मां सदा॥४॥

इति श्रीमन्निजाचार्य - तत्सूनु - दासदास -
हरिदासविरचितं
श्रीस्वामिन्यष्टकविवरणम्

(मातृकासंग्रह)

१. क = माण्डवी.
२. का = कामवन.
३. का.२ = अज्ञात.
४. ख = अज्ञात.
५. ग = श्रीगट्टुलालजी सङ्ग्रह. ("मकनजीसुतगोविन्दभट्टेन लिखितम्")
६. जो = जोधपुरस्थ.
७. मुवि१ = मुम्बई विद्यापीठ - गुजरातीपत्र पुस्तकालय.
८. मुवि२ = मुम्बई विद्यापीठ, सं. १७६४ वर्षे कार्तिक वदि २ भृगुवासरे. ("पुस्तकम् इदं बलरामभट्टानाम्" एवं "रेही गोवर्द्धनस्य इदं पुस्तकम्" इति मुखपृष्ठोपरि लिखितम् अस्ति.)
९. मस १ = ओरियन्टल इन्स्टिट्युट, महाराजा सयाजिराव विश्वविद्यालय, वडोदरा. (सं. १७५३ आषाढ वदि १, रवौ सिंहाडमध्ये

लिखितम्). क्रमांकनंबर-१५१५ रोलनंबर-१.

१०. मस २ = महाराजा सयाजिराव विश्वविद्यालय, वडोदरा. क्रमांकनंबर-१२१९२ रोलनंबर-४.

११. प्र = प्रथमेशसंग्रह, कोटा / जतिपुरा / मुम्बई. सं. १८२० वर्षे, ज्येष्ठशुक्ल ११, सोमे लिखितम् इदं व्यासगोपालेन.

१२. परमा = डॉ.परमानन्द छतपर लिखित. (कराची/मुम्बई).

(पाठभेद)

१. 'विवृणोमि कृपातोऽहं स्वामिन्यष्टकमुत्तमम्' इति मुवि१, ग, प्र, जो, का, मस, मस२ पाठानुसारेण.

२. 'मुख्यस्वामिनीनाम्' इति का, ख, मुवि.१ पाठेषु.

३. 'साधयेयुः' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.

४. 'सकलस्वामिनीजाप्यत्वेन' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण. 'जप्यत्वेन' इति का, मस, प्र, पाठानुसारेण. 'जपत्वेन' ख, जो पाठानुसारेण.

५. 'श्रियेति श्रुतिप्रकाशितमस्ति' इति का, ख पाठयोः.

६. 'भगवन्नामैतन्नाम' इति का, ख पाठानुसारेण. 'भगवन्नामेवैतन्नाम' इति क, जो, प्र, मस पाठानुसारेण.

७. 'एतन्नामरूपैः वेदैः' इति का, ख, मुवि.१ पाठानुसारेण.

८. 'अतएव रासे' इति का, ख पाठानुसारेण.

९. 'कीर्तनम् असम्प्रार्थ्यं' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

१०. 'वेत्तव्यम्' इति का, ख पाठयोः.

११. 'सायं कालस्य' इति मुवि.१ पाठानुसारेण.

१२. 'तोयमध्योत्थिता' इति शेषमातृकापाठे.

१३. 'चरणयुगस्य' इति प्र, मस१, मुवि.१, ग, का२ पाठानुसारेण.

१४. 'नूपुरवादनेन' इति का, मस, मुवि.१ पाठानुसारेण. 'नादनेन' का२, मस पाठानुसारेण.

१५. 'तथा च शनैः-शनैः स्थापितस्य चरणयुगलस्य' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण.

१६. 'अतएव स्वामिनीपदयुग' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.
१७. 'सूचितम्' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.
१८. 'युगागतौ तद्युक्तस्य रथरथिनौ' इति ग; 'स्कन्धेषु युगसङ्गतौ तद्युक्ताश्वरथरथिनोरागतिः' इति मुवि.१, का पाठानुसारेण. 'स्कन्धेषु गतौ तद्युक्तस्य रथथिनोरागतिः' इति ख पाठानुसारेण. 'स्कन्धे युगागतौ तद्युक्तरथरथिनो' इति जो, प्र, मस पाठानुसारेण.
१९. 'तव हृदयस्थभावरूपस्य' इति ख पाठानुसारेण.
२०. 'मिषत्' इति मुद्रितपाठे.
२१. 'कृपाकरणसम्भवात् सैवावस्था निरूप्यते' इति मुवि.१, ग प्र, जो, का, ख पाठेषु. 'संभवावस्यानिरूप्यते' इति क पाठे.
२२. 'सा कुङ्कुमममन्द' इति मुवि.१, का पाठानुसारेण. 'कुङ्कुमामन्द' इति ग, ख पाठानुसारेण. 'भावने कुङ्कुमममन्द' इति जो, मस पाठयोः.
२३. 'लेपयन्ति' इति मुवि.१ पाठानुसारेण. 'लापयन्ति' इति शेषेषु.
२४. 'लापनार्थम्' इति ग, ख 'तद्दास्या लेपनार्थम्' इति मुवि.१ पाठानुसारेण. 'तदा तल्लापनाद्यर्थम्' इति मस, जो, प्र पाठानुसारेण.
२५. 'अमन्दत्वाभावः' इति क पाठानुसारेण.
२६. 'यया ज्ञानात्. तथात्र' इति मुवि.१, का पाठानुसारेण.
२७. 'हृदयाधानेन' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण 'हृदयाधानम्' इति प्र पाठानुसारेण.
२८. 'हृदये आधाय' इति का, ख पाठयोः.
२९. 'परिज्ञानम्' मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण.
३०. 'करतलस्थापनया' इति क, ग, ख पाठानुसारेण.
३१. 'सात्त्विकभावे तत्करुणायाञ्च' इति क, ख, मुवि.१ पाठानुसारेण.
३२. 'आर्द्रत्वात् कारुण्यादि' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण. 'आर्द्रत्वारुण्यारणि' इति क, मस१, प्र पाठानुसारेण.
३३. 'पर्वतत्वभावेन ... द्रागेव' इति मुवि.१, ग, का, ख, प्र पाठानुसारेण.
३४. 'सततं स्थिति' इति का, ख, प्र, जो पाठानुसारेण.
३५. 'हृदयस्थापितावयवानां निरूप्य भावनाम् आहुः' इति मुवि.१, ग,

ख, का पाठानुसारेण.

३६. 'मेघादिवत्' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण. 'भेदादि' इति क, प्र, पाठानुसारेण.

३७. 'तत्तन्निवर्त्त्य' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.

३८. 'तद्दृष्टान्तकथनं कथमुपपद्यत' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण.

३९. 'स्मयहरम् इति' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

४०. 'विरहिण्यापि' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

४१. 'स परिहृत' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.

४२. 'स्वगृहागमनाय' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण. 'स्वगृहागमनसमये' इति क, का, जो, ख पाठानुसारेण.

४३. 'अभिधायेत्यर्थः. ननु नन्दभवने गत्वा' इति ख, जो, मस पाठानुसारेण.

४४. 'ननु' इत्यारभ्य 'समागतिरितिभावः' इत्यन्तः पाठानुसारेण मुवि.१, ग पुस्तके अत्र न उपलभ्यते.

४५. 'अस्तीतिचेत् तत्राहुः' इति ख पाठानुसारेण.

४६. 'यत्रानुकूल्ये' इति मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण.

४७. 'इति तदुपमा' इति का, ग, ख, मुवि.१ पाठानुसारेण.

४८. 'ज्ञापनाय गमनप्रकार' इति मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण.

४९. 'साहित्यकथने' इति मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण.

५०. 'ज्ञानं वा सम्पादनीयम्' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण.

५१. 'प्रार्थ्य तत्प्रार्थना' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण.

५२. 'सततस्वामिसम्प्रयुक्ताया निरन्तरदर्शनम्' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु.

५३. 'वदनयोः' इति मुद्रितपाठे.

५४. 'सर्वाऽपि' इति ख पाठानुसारेण.

५५. 'दर्शने' इति मुवि.१, ग, ख, जो, मस, का पाठानुसारेण. 'दर्शनविशेष' इति प्र पाठानुसारेण.

५६. 'इति अर्थः. पत्रेष्वेव हि चाञ्चल्यरूपा क्रिया भवतीति तत्सादृश्येन क्रियासमर्पणयोग्यता इति अर्थः. एतेन ज्ञानक्रिययोः एकाश्रयत्वेन एकरूपत्वं रसात्मकत्वेन निरूपितम्. ननु एवं सर्वसमर्पणैकज्ञानक्रियाराहित्यं स्वामिन्या

स्याद् इति आशङ्क्य आहुः **मधुपतेः** इति. भगवतो वसन्ताधिपतित्वेन यथा वसन्तस्य सर्वत्र वृक्षादिषु नूतनरसोपयोगिसरसतासम्पादकत्वं नूतनपत्राद्युत्पादकत्वं तथा नूतनरसोपयोगिज्ञानक्रियासम्पादकत्वमिति न पूर्वोक्तानुपपत्तिः इति भावः. एतेन सर्वतः एकीकृत्य ज्ञानं दृष्टिसङ्कोचेन भगवति समर्पितम् इति उक्तम्. एवं स्वरूपतो धर्मतश्च स्वामिन्या ऐक्यप्राप्तिं निरूप्य शब्दतोऽपि ताम् आहुः **मुदा गायन्ति** इति. भगवत्स्पर्शेन भावोदयात् तद्वशेन गानं गुणगानाद् वियोगकालिकाद् वैलक्षण्याय आहुः **मुदा** इति.' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु.

५७. 'स्वास्थ्यै' इति का पाठानुसारेण.

५८. 'तद्विचारितानुपूर्व्यायुत' इति मुवि.१, 'पूर्वायुत' इति ग, ख, जो, मस पाठानुसारेण. 'पूर्वीयुय(?)' इति मस१, प्र पाठानुसारेण.

५९. 'पुष्टिमार्गफलसिद्धिरेव' इति मुवि.१, का पाठानुसारेण.

६०. 'परमरसानन्दभरेण' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण. अन्येषु 'परमानन्दभरेण'.

६१. 'तदानानीन्तनीनाम्' इति का पाठानुसारेण. अन्येषु 'तदानीन्तनाम्'.

६२. 'अरुणौ यौ कपोलौ' इति ग, ख, प्र पाठानुसारेण.

६३. 'मुखान्तस्थितताम्बूलेनातिस्वच्छतमगौरगल्लप्रतिबिम्बेन अरुणौ कपौलौ यस्या' इति मुवि.१, ग, का, प्र पाठानुसारेण.

६४. 'भक्तावेव स्थितः' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठेषु.

६५. 'श्रान्त' इति जो, मस, प्र पाठानुसारेण.

६६. 'मार्गे' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु. अन्येषु 'मार्ग' इति.

६७. 'रसाधारभूतम्' इति प्र पाठानुसारेण. 'तस्मिन् गतम्' इति मुवि.१, का, ग, ख, जो, प्र, मस पाठानुसारेण.

६८. भगवन्मुखारविन्देऽपि हि' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

६९. 'भक्तिरूपो द्रवीभूतश्च इति. तत्र' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

७०. 'पेपीयमानत्वात्' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु. 'पीयमानत्वात्' इति मस, ख, जो पाठानुसारेण.

७१. 'प्रभुभिरेव एतत्' इति मुवि.१, ग, ख, प्र, जो, का, मस पाठानुसारेण.
७२. 'योग्यत्वान्नायोग्यै:' इति मुवि.१,२,ग पाठानुसारेण.
७३. 'प्रभुस्वरूपे' इति प्र पाठानुसारेण. अन्येषु 'प्रभुरूप:'.
७४. 'प्रियसम्बन्धे' इति मस, जो पाठानुसारेण. 'प्रियसम्बन्ध:' इति प्र पाठानुसारेण.
७५. 'भवत्यागमनपूर्वक' इति प्र पाठानुसारेण.
७६. 'वदनारविन्ददर्शनेनैव आयातीत्यर्थ:' इति मुवि.१, ग, का, ख पाठानुसारेण.
७७. 'तत्राखिलप्रपञ्चस्फूर्त्तौ' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु.
७८. 'अतिकाङ्क्षतया' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठेषु.
७९. 'इति भाव:' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठेषु.
८०. 'पवनागमने' इति मस, जो, प्र पाठानुसारेण.
८१. 'नान्यथा स्वामिनीनां सम्भवति. दिवापि' इति ख पाठानुसारेण.
८२. 'दिवापि' इति का, ग मुवि.१ पाठानुसारेण.
८३. 'विलम्बाभावार्थ' इति मुवि.१, ग, मस, जो, प्र, ख पाठेषु.
८४. 'विधिनियोगयोग्यता' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु. 'नियोगयोग्यता' इति ख, मस, जो, प्र पाठानुसारेण.
८५. 'निविष्टप्रियेच्छाया' इति मुवि.१, ग, ख, का इति पाठानुसारेण.
८६. 'दास्यगतं पुष्टिफलम् चार्थयित्वा' इति ख पाठानुसारेण. 'दास्यान्तं पुष्टिपुष्टिफलम्' इति जो, मस, का, पाठेषु. 'दास्यान्तपुष्टिफलम्' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण. 'दास्यान्तपुष्टिफलं प्रार्थ्य' इति प्र पाठानुसारेण.
८७. 'तत्राश्रयमति' इति मवि१ पाठानुसारेण.
८८. 'कथां स्वानुभवकथाम्' इति मस, जो, प्र पाठानुसारेण.
८९. 'स्वरूपानुभवादि' इति मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण.
९०. 'स्वसखीभ्यएवाधिकप्रियाभ्य:' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.
९१. 'भावेन स्वयं भावात्मकस्यैव सम्बन्धिनो ज्ञानं सम्भवति' इति मुवि.१, ग पाठानुसारेण. 'स्वभावात्मकस्यैव सम्बन्धिनोवज्ञानम्' इति ख पाठानुसारेण. 'स्वभावात्मकस्यै स्वसम्बन्धिनोवज्ञानम्' इति जो

पाठानुसारेण.

९२. 'नान्यसम्बन्धिन इति न ज्ञानम् इति भावः' इति ख, मस, का, प्र, जो पाठानुसारेण.

९३. 'तरलो' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण, अन्येषु 'तरले' इति.

९४. 'प्रभुरपि' इति जो, मस, ख, का पाठानुसारेण.

९५. 'दुःखसम्भवात्' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु.

९६. 'फलत्वेन' इति मुवि.१, ग, ख, मस, प्र, जो, का पाठानुसारेण. 'फलत्वे' इति क, मुवि२ पाठयोः.

९७. 'प्रतिषिध्यमस्तु. तद्देहनिर्वाहहेतुभूतम्' इति ख पाठानुसारेण.

९८. 'कारणम्' इति का, ग, मुवि.१ पाठानुसारेण.

९९. 'बोधनार्थम्' इति प्र पाठानुसारेण, अन्येषु 'बोधार्थम्'.

१००. 'फलस्यैतस्य' इति क, ख, मस, प्र, जो, का पाठानुसारेण.

१०१. 'नुगत्या' इति मुद्रितपाठे.

१०२. 'भिधेयं' इति मुद्रितपाठे.

१०३. 'दासीत्वभावप्राकट्येन' इति मुवि.१, ग, ख, का पाठानुसारेण.

१०४. 'निवृत्तिर्बोधिता' इति मुवि.१ पाठानुसारेण.

१०५. 'स्वामिनीस्वरूप' इति मुवि.१, ग, का पाठानुसारेण. 'स्वामिनी सह' इति ख पाठानुसारेण. 'स्वामिनी सततसाम्मुख्यम्' इति जो, मस, मुवि२ पाठानुसारेण.

१०६. 'कृपालवः' इति मुवि.१, ग, का पाठेषु.



॥ श्रीस्वामिन्यष्टकम् ॥

(श्रीवल्लभात्मजेन श्रीमुरलीधरेण विरचिता विवृतिः)

श्रीमदाचार्यपादाब्जं प्रणम्य सततं मुहुः।
श्रीविठ्ठलेशचरणयुगलं च तथैव हि॥१॥
श्रीमत्प्रभुकृतस्वामिन्यष्टकस्य मुदान्वितः।
तत्कृपालेशबलतो व्याख्यां कुर्वे यथामति॥२॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः यथा भगवता अष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तं तथा अत्राऽपि इति आशयेन अष्टविधैश्वर्यरूपं स्वसर्वस्वत्वेन श्रीराधाचरितं निरूपयन्तः तावद्भिः श्लोकैः तां विविधमनोरथप्रकारेण प्रार्थयन्ति **रहस्यम्** इति.

रहस्यं 'श्रीराधे'त्यखिलनिगमानामिव धनम्
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परम्॥
प्रदोषे दृङ्मोषे पुलिनगमनायातिमधुरम्
चलत् तस्याश्चञ्चच्चरणयुगमास्तां मनसि मे॥१॥

'श्रीराधा'इति नाम यस्याः **तस्याः चञ्चच्चरणयुगं मे मनसि आस्ताम्** इति उत्तरार्द्धसम्बन्धः. **'श्रीराधा'इति** नाम **मद्वाणी निगूढं** यथा भवति तथा **सततं जपतु** इति पूर्वार्द्धसम्बन्धः. कथंभूतं चरणयुगं? **दृङ्मोषे प्रदोषे पुलिनगमनाय अतिमधुरं** यथा स्यात् तथा **चलत्. कीदृग्विधं नाम? अखिलनिगमानां धनमिव रहस्यम्.** 'राधा'पदेन **"'राध' - 'साध' संसिद्धौ"** (पाणि.धातु.पा.स्वादि.१२८५-१२८८) इति अनुशासनाद् भगवतः सर्वमनोरथपूरिका परमानन्दात्मिका सकलसिद्धिरूपा काचित् सिद्धिः द्योतिता. तस्याः सिद्धिरूपत्वं तु द्वितीयस्कन्धे **"नमो नमस्तेऽस्तु"** (भाग.पुरा.२।४।१४) इति श्लोकसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः निरूपितम्. **"'राधस्'शब्दवाच्या भगवतः काचित् सिद्धिः"** (सुबो.२।४।१४) इति. तत्रैव निरस्तसाम्यातिशयत्वनिरूपणेन

राधसः सिद्धेः भगवद्रूपत्वं च निरूपितम्. नच ब्रह्मण एकत्वाद् एतत्सिद्धेः निरस्तसाम्यातिशयत्वेन तत्साम्याद् द्वैतापत्तिः. "**एकमेवाद्वयं ब्रह्म**" (गोपालोपनि.२।१५) इति श्रुतेः अद्वयत्वं तस्यैव धर्मो यतः. ननु तथापि व्यक्तिभेदात् कथम् एकत्वम् इति तु यदि विभाव्यते तदा तु "**रसो वै स**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः भगवतो रसात्मकत्वेन तस्य संयोग-विप्रयोगभेदेन द्विदलात्मकत्वाद् एकरूपत्वम् इति गृहाण. "**वल्लव्यो मे मदात्मिका**" (भाग.पुरा.१०।४३।६) इत्यादि च. '**श्री**'साहित्यकथनेन **श्रीश्चासौ राधा** च इति कर्मधारयसमासाद् आधिदैविकपरमानन्दरूपभजनानन्दात्मकत्वं तस्या द्योतितम्. एतेन आधिदैविकलक्ष्मीरूपत्वम् उक्तं भवति इति भावः. सा तु ब्रह्मानन्दात्मिका स्त्रीत्वेन संयोगरसस्यैव अनुभवकर्त्री नतु खण्डितादिभाववत्त्वेन पूर्णरसस्य. यतः परकीयात्वाभावः. "**रसस्तु परकीयायामेव**" इति वात्स्यायनात्. अतः उभयोः महद्वैलक्षण्यम् इति हृदयम्. अथवा, '**श्रीः**' भगवान् तत्सहिता. भगवतः **श्रीः** इति नाम सहस्रनाम्नि "**ब्रह्मादिवन्द्यो हंसः श्रीः**" (श्रीपुरु.नाम.सह.५९) इति श्लोकव्याख्याने श्रीरघुनाथैः निरूपितं श्रीमदाचार्याभिप्रायेण. तथाच "**रसो वै स**" (तैत्ति.उप. पूर्ववत्) इति श्रुतेः '**श्रीराधा**'**इति** दम्पतीभावात्मकस्य वस्तुनः परमकाष्ठापन्नस्य रसात्मकत्वं द्योतितम्. किञ्च रसस्तु शृङ्गारएव. स तु संयोग-विप्रयोगरूपोभयदलात्मकः. उभयदलत्वन्तु तस्य स्त्री-पुम्भावं विना न सम्भवतीति स्पष्टमेव एतद्भावापन्नस्य वस्तुनो रसात्मकत्वम्, संयोग-विप्रयोगयोः उभयनिष्ठत्वात्. अतएव **अखिलनिगमानां** श्रुतिरूपगोपिकानां **धनमिव रहस्यत्वम्** उक्तम्. यथा स्वकीयं धनं सर्वाप्रकाश्यं तथा एतन्नामात्मकं वस्त्वपि तथा इति भावः. '**रहस्य**' पदेन तद् यथा एकान्तएव प्रकाशयोग्यं तथा एतन्नामापि स्वसमानशीलसमाजएव कथनीयम् इति भावः. अतएव श्रीमत्प्रभुचरणैः नवरत्नप्रकाशे निरूपितम् "**अतादृशेषु एतद् गोपनं सूच्यते**" (नव.प्र.२) इति. यद्वा अखिलनिगमानां वेदानां निगूढं दृङ्मनोवागगोचरत्वम् इति अर्थः, "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतेः. तेन एतद्वस्तुनो मर्यादाश्रुतीनां इन्द्रियागोचरत्वं पुष्टिश्रुतीनां तु सकलेन्द्रियविषयत्वेन गोचरत्वम् इति अर्थः. अतएव उक्तं वेणुगीते "**अक्षण्वतां फलम् इदम्**"

(भाग.पुरा.१०।१८।७) इति. एतत्सुबोधिन्यामपि "**भगवतासहसंलाप**" (सुबो.का.१०।१८।८) इत्यादि. अग्रे च "**वयमपि उपनिषद्रूपा**" (भाग.सुबो.१०।१८।७) इति उक्तम् . अन्यथा "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.तत्रैव) "**आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्**" (   ) "**आनन्दमयोऽभ्यासात्**" (ब्रह्मसूत्र.१।१।१२), "**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः**" (   ) इत्यादिधर्मिनिरूपिकाः श्रुत्यादयो न संगच्छन्ते, इदमित्थतया एतावत्पर्यन्तं कस्यापि एतत्फलानुभवाभावात् . अनुभवविरुद्धानुभवापर्यवसायिफलस्य श्रुत्युक्तत्वाभावात्. "**न हि अनुभवविरुद्धम् अनुभवापर्यवसायिफलं श्रुत्युक्तं भवति**" (सुबो.१०।१८।७) इति "**अक्षण्वताम्**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इति एतद्विवरणे उक्तत्वात् . किञ्च **अखिलनिगमानाम्** अन्यपूर्वात्मश्रुतिरूपाणां **धनमिव** इति कथनेन एतद्धने एतासां भोग्यत्वेन स्वत्वं निवारितम् . किन्तु एतद्धनरक्षकत्वेन विविधमनोरथसेवया च स्वत्वं द्योतितम् . एतद्भावसजातीयत्वेन अनन्यपूर्वाणामपि तथा. भोग्यत्वेन स्वत्वं तु भगवतएवेति मुख्यं धनं तस्यैव इति भावः. '**निगूढधन**' पदेन रत्नादिरूपं लक्ष्यते. तेन तद् यथा बहुधनसाध्यत्वेन अमूल्यं हीरकपद्मरागादि हृद्येव स्थापनयोग्यं तथा इदमपि नाम बहुजन्मसञ्चितपुण्यराशिप्राप्तमहापुरुषसेवया प्राप्तं हृद्येव स्थापनीयम् इति भावः. '**मद्वाणी**'इति पदेन ममैव वाणी एतन्नामजपयोग्या न अन्यस्य इति अर्थः. तेन तत्समाजस्थत्वं स्वस्य द्योतितम् . "**न ज्ञास्यति अन्योपि**" (गुप्त.२७) इति गुप्तरसे कथनात् . अतएव सर्वोत्तमेऽपि "**ऋषिर् अग्निकुमारस्तु**" (सर्वो.स्तो.५) इति स्वैः उक्तम् . '**वाणी**'इति पदेन स्त्रीभावयुक्तानामेव एतज्जपाधिकारः सूचितः. यद्वा **मद्वाणी** मत्सम्बन्धिनी '**विट्ठले**'ति नामाङ्किता या सा **जपतु** इति अर्थः. एतेन तदीयानाम् अत्यन्तरङ्गभक्तानां गूढतया एतत्कथनाधिकार इति भावः. **सततम्** इति नैरन्तर्येण स्ववाङ्निरोधः उक्तः. **जातु** कदाचिदपि **न परं** अन्यद्वाणीविषयं मा भूद् इति अर्थः. **प्रदोष** इति. "**प्रदोषो रजनीमुखम्**" (अम.को.१।४।६) इति कोशात् सन्ध्यायां न सर्वेषां बहिःस्थितिः सम्भवति किन्तु गृहादौ दीपप्रकटनार्थं भोजनार्थं गोसेवार्थं च तत्रैव स्थितिरिति यथेच्छं गमनं भवति इति भावः. अथवा, **प्रकृष्टो दोषो** अन्धकारभूतादिसञ्चाररूपो

यस्मिन् तादृशे **प्रदोषे** रजनीमुखे. सन्ध्यायां भूतादिसंचारदोषस्तु दितिं प्रति तृतीयस्कन्धे कश्यपेन उक्तः. तथाच एतादृशसमये न कोऽपि बहिर्गन्तुं शक्नोतीति सुखेन अभिसरणम् इति भावः. अथवा **प्रदोषे** पूर्वोक्त प्रकृष्टदोषरूपे काले इति अर्थः. न सन्ध्यात्मकः. तथाच तमिस्रायां यथा-यथा रात्रिः गच्छति तथा-तथा भयदा भवतीति कृष्णाभिसरणम् उक्तम्. "**तमिस्रा तामसी रात्रिः**" (अम.को.१।४।५) इति. अतएव **दृङ्मोषे** दृक् दृशां **मोषः** चौर्यं यस्मिन्. अतएव प्रकृष्टदोषरूपः. अन्धकारेण सर्वप्राणिमात्राणां दृष्टिमोषात्. तथाच एतादृशसमयएव अभिसारकर्त्रीणां नायकानां सुखरूप इति भावः, गमनप्रतिबन्धकाभावात्. भयादिकं तु तासां नास्तीति केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन "**एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहाय**" (सुभा.) इत्यत्र तासां तदभावो निरूपितः. यत्र लौकिकीनां तद्रसावेशमत्तत्वेन भयाभावः तत्र अलौकिकीनां भगवद्रसमत्तानान्तु कैमुतिकन्यायेन भयाभावः सिद्धः इति भावः. **पुलिन...** इति. शृङ्गाररसमण्डनप्रथमोल्लाससमाप्तौ "**विलसति सरसे कलिन्दकन्योपवन**" (शृंगा.मण्ड.१उल्ला.११) इति श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेः "**रमते यमुनापुलिनवने**", "**वसति वने वनमालि**" (गीत.गो.११।१,१५।१) इत्यादि जयदेवोक्तेश्च श्रीयमुनापुलिनमेव भगवद्रमणयोग्यम्, पुष्पपल्लवजलादेः क्रीडायाम् उपयोगात्. "**ताः समादाय कालिन्द्या**" इत्यारभ्य "**चितकोमलवालुकम्**" (श्रीभाग.पुरा.-१०।२९।११-१२) इत्यन्तेन पुलिनस्वरूपं निरूपितं दशमे पञ्चाध्याय्यां चतुर्थाध्याये. तत्र गमनार्थम् अतिमधुरं शनैः-शनैः यथा भवति तथा **चलत्**. मधुरत्वं तु चरणाङ्गुल्याभरणशब्दैः नूपुरसिञ्जितेन च. किञ्च, यदैव तच्छब्दं प्रियः शृणोति तदैव स्वप्रियानिकटागमननिश्चयो भवति इतोऽपि मधुरत्वम्. '**चञ्चत्**'शब्देन यावकाभरणादिभिः चमत्कृतम् अलङ्कृतम् इति अर्थः. एतादृशं चरणयुगं **मे** मम मनसि **आस्तां** वसतात्. अनेन मनो निरोधेन सर्वेषाम् इन्द्रियाणां निरोध उक्तो भवति, अन्तर्विषयीभूतपदार्थे मनसः तन्नियामकत्वात्. एतेन यत्र श्रीमत्प्रभुकृपा तस्यैव मनसि एतच्चरणयुगलस्थितियोग्यत्वमपि सूचितम्. भगवत्समानधर्मत्वेन ऐश्वर्यरूपं

निरूपितम् एतच्छ्लोके '**जपतु**' इत्यनेन '**आस्ताम्**' इत्यनेन च आशीर्वादात्मकं मङ्गलमपि सूचितम्.

अतः परं श्रीराधाया अनिर्वचनीयात्यलौकिकस्वरूपसौन्दर्यरूपमहिमानं वीर्यत्वेन निरूपयन्तः स्वस्मिन् कृपां प्रार्थयन्ति :

अमन्दप्रेमार्द्रप्रियकरतलं कुंकुममिषात्
कुचद्वन्द्वे वक्षस्यपि विदधती चारु सततम्[१]**॥**
कृपां कुर्याद् राधा मयि रुचिरहेमाद्रिशिखरो -
दितप्रावृण्मेघ - स्मयहरहरी चूचुकमिषात्॥२॥

अमन्द... इति एतादृशी **राधा मयि कृपां कुर्याद्** इति सम्बन्धः. कथंभूता? **अमन्दं** यत् **प्रेम** तेन **आर्द्रं** यत् **प्रियस्य करतलं** तत् **कुङ्कुममिषात्** काश्मीरजपङ्कव्याजेन वक्षसि **विदधती**. पुनः कथंभूता? **रुचिरं** यद् **हेम** सुवर्णं तद्रूपो यो **अद्रिः** सुवर्णगिरिः मेरुरिति यावत् तस्य **शिखरे** उच्चदेशाग्रभागे **उदितः** प्रादुर्भूतो यः **प्रावृण्मेघो** वर्षाकालसम्बन्धी सजलनीलमेघः तस्य यः **स्मयो** गर्वः तं हरतीति **हरः** स चाऽसौ **हरिश्च** तं **चूचुकमिषात्** "**चूचुकं तु कुचाग्रं स्याद्**" (अम.कोश.२।६।७७) इति कोशात् कुचाग्रव्याजेन **कुचद्वन्द्वे** कुचयुगोपरि अपि **विदधती** विशेषेण धारितवती. '**अमन्द - प्रेम्णा**'इति पदेन भगवत्स्नेहस्य अमितत्वं प्रियाविषयकत्वञ्च सूचितम्. भगवत्करतलस्य '**आर्द्र**'त्वकथनेन रसाभिनिवेशे सात्त्विकभावापन्नत्वं दर्शितम्. करतलस्यैव सर्वकार्यक्षमत्वमिति **करतलम्** उक्तम्. '**कुङ्कुम**'पदात् द्विविधसुगन्ध - चन्दनागरु - कस्तूरी - कर्पूर - काश्मीरस्थलकमलजलैः घर्षितो यो अङ्गरागः तेन वक्षसो लिप्तत्वं सूचितम्. '**मिष**'पदेन कुङ्कुमपङ्कव्याजमात्रं किन्तु प्रियपरोक्षदशायां तद्विरहजतापशान्त्यर्थं तत्करकमलमेव सहजारक्तं कुङ्कुमलिप्तवत्परिदृश्यमानं धारयति इति भावः. भगवद्धस्तस्य तापनिवारकत्वं "**पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम्**" (भाग.पुरा.१०।३०।१४) इत्यस्य सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः उक्तं वैराग्यरूपत्वेन. अथवा रसावेशे प्रियस्य स्ववेषधारणे प्रियहस्तं प्रियया कुङ्कुमाक्तं

भवति. यद्वा कुचस्पर्शे प्रियकरं तथा. अथवा प्रियायां स्वहस्तेन मकरिकापत्रधारणे हस्तं तथा भवति इति. अथवा मानापनोदनार्थं प्रियाचरणसंवाहने करस्य तथात्वम्. पुनः समयान्तरे कौतुकेन प्रियकरकमलं कुङ्कुमव्याजेन वक्षसि स्थापयति यथा तत्स्थं कुङ्कुमं तत्र संलग्नं भवतु इति **'कुङ्कुममिष'** पदस्य भावः. तेन कुङ्कुमस्थापनद्वारा भगवता स्वहस्तमेव तत्र स्थापितम् इति हृदयम्. अतएव **'चारु'विशेषणं दत्तं करतलस्य.** परोक्षदशायामपि मनोहरणैकस्वभावं तेनैव तदा जीवनम् इति भावः. **सततम्** इति स्वहृदि सार्वदिकी स्थितिः उक्ता. अन्यच्च **प्रियकरतल**धारणेन प्रियस्वरूपमेवधारितम् इति **'वि'**इति उपसर्गार्थः. ननु हस्तमात्रधारणेन कथं सकलरूपधारणं भवति इत्यत्र अयम् आशयः. तथाहि. **''सर्वतःपाणिपादान्तम्''** (भग.गीता.१३।१४) इति वाक्याद् भगवतः एकैकाङ्गं सर्वाङ्गरूपम् इति सिद्धान्तः इति ज्ञेयम्. अतएव श्रीमन्ममहाप्रभुस्थापितं श्रीगोवर्द्धनधरचरणारविन्दचिह्नं तद्रूपत्वेन स्वीयानां गृहेषु तत्र भोगादिकमपि सङ्गच्छते, तेषां तत्र तथैव अनुभवात्. **'कृपा'**पदेन **''‘क्लृपु’ सामर्थ्ये''** (पाणि.धातु.भ्वा.) इति धात्वर्थाद् यथा त्वयि सामर्थ्यं तथा मय्यपि सा त्वं **कुर्याद्** इति भावः. **'कुर्याद्'**इति आशीर्वादात्मकप्रयोगेण इदं सामर्थ्यं त्वदधीनम् इति ज्ञापितम्. **'राधा'**इति पदेन पूर्ववत्. **मयि** इति अस्मच्छब्देन स्वस्मिन् एतस्या अन्तरङ्गसखित्वं दर्शितम्. **'रुचिरहेम'**पदेन तस्य यथा दर्शनमात्रतो मनस आह्लादकत्वं मोहकत्वमपि. इदंतु लोकप्रसिद्धं तथा इदमपि एतद्वन्द्वं भगवतोऽपि तथा भवति इति भावः. **'अद्रिशिखर'**पदेन यथा कनकाद्रेः शिखराणि तन्मयानि नानारत्नमयानि च तथा इदमपि स्वर्णाभं नानारत्नखचितहारादियुक्तम् इति सूचितम्. तत्र **उदित** इति. एतादृगद्रिशिखरोपरि प्रावृण्मेघस्य उदितत्वकथनेन स यथा नानारत्नखचितकनकसिंहासने विराजमानइव प्रादुर्भूतः सन् अधिकशोभां प्राप्नोति तथा अत्रापि नानारत्नखचितहारादिकयुक्त - तद्रूपसिंहासने चूचुकश्यामतामिषेण यो रसात्मकः कृष्णः सएव विराजमानः सन् अत्यलौकिकानिर्वचनीयशोभां प्राप्नोति इति अर्थः. **स्मय** इति **स्मयो** गर्वः मेघस्य कनकसिंहासनस्थ इति अभिमानजः तं हरतीति **हरः**. अथवा **स्मय** आश्चर्यं, मेघस्य एतादृशशोभारूपं तद् हरति इति अर्थः. तादृशो **हरिः** सर्वदुःखहर्ता

परोक्षदशायामपि स्ववक्षसि तद्दर्शनेन विरहजदुःखं दूरीकरोतीति चूचुकव्याजेन तमेव धारयति इति अर्थः. यथा कनकाद्रिशिखरस्थमेघशोभा इलावृतखण्डस्थजन-विषयत्वेन तत्र पार्वती शापान् महादेवव्यतिरिक्तपुरुषान्तराभावात् स्त्रीणामेव दर्शनयोग्या तथा इयमपि शोभा तदीयान्तरङ्गसखीनामेव तद्योग्या भवतीति **'हेमाद्रि'**पदेन ध्वनितो अर्थः सूचितः. इलावृते पुरुषस्तु महादेवएव तथा अत्र भगवानेव इति भावः. **''रूपमेव अस्य एतन्महिमानं व्याचष्ट''** (तैत्ति.ब्रा. ३।३।४।४) इति श्रुतेः एतादृक्स्वरूपसौन्दर्यमहिमारूपं वीर्यं निरूपितम्.

अतः परं यशो निरूपयन्तः स्वस्मिन् प्रसादं प्रार्थयन्ति **निमन्त्र्य** इति. :

निमन्त्र्य प्रातर्या निजहृदयनाथं निरुपमा।
समाकार्यैकाकिन्यतिघनवनदाप्तभवने/वनदात्मभवने[२] ।।
विधायोन्मर्दादि स्वयमतिमुदा भोजयति सा।
मयि प्रीता राधा भवतु हरिसङ्गार्पितमनाः ।।३।।

या निजहृदयनाथं प्रातः निमन्त्र्य अतिघनवनाद् आप्तभवने समाकार्य मुदा उन्मर्दादि स्वयं विधाय भोजयति सा राधा मयि प्रीता भवतु इति सम्बन्धः. कथं भूता? **निरुपमा.** पुनः कीदृशी? एकाकिनी अथच **हरिसङ्गार्पितमनाः.** **'प्रातर्निमन्त्र्य'** इति कथनात् सम्पूर्णरात्रौ प्रियेण सह क्रीडां कृत्वा गृहगमनसमये पुनः दिवाक्रीडार्थं प्रियया प्रियस्य निमन्त्रणं कृतम् इति ज्ञायते. अतएव **हरिसङ्गार्पितमना** इति विशेषणम्. **'समाकार्य'**इतिपदेन प्रियगमनसमये अत्यन्तविरहव्याकुलत्वेन चाटुवचन-शपथादिभिः प्रियस्य वाग्बन्धनं कृतम् इति ज्ञापितम्. अतएव **निजहृदयनाथम्.** तद्विना क्षणमपि स्थातुम् अशक्ता सती तावत्कालपर्यन्तं नेत्रकमलद्वारा तं निजहृदयकमले स्थापितम् इति भावः. यतः तस्यैव नाथो अयम् इति. भगवतो हृदयनाथत्वं तु सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः उक्तं **''सोन्तःकरणसम्बन्धी''** (सुबो.कारि.१०।२६।९) इति फलप्रकरणे. **'निरुपम'**-इति पदात् स्वरूपवयःसौन्दर्यादिभिः लक्ष्म्यपेक्षयापि अत्युत्तमत्वम् उक्तम्.

अतएव दामोदरलीलायां "**नेमं विरञ्चिर् न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात्**" (भाग.पुरा.१०।९।२०) इति निरूपणात् यत्र एतत्समानशीलसखीनां श्रीगोपीनां रमापेक्षया उत्तमत्वं तत्र अस्या उत्तमत्वे किं वाच्यम्! इति भाव:. अतएव रसात्मकस्य भगवत आलम्बनविभावरूपत्वम् अस्या एतदालम्बनविभावरूपत्वं तस्य इति निगूढाशय:. **निरुपमत्वन्तु** द्वितीयस्कन्धे "**निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा**" (भाग.पुरा.२।४।१४) इति पद्ये निरूपितम्. अथवा **प्रातर्निमन्त्रणस्य** अयमपि आशय:. तथाहि प्रात: स्वसखीभि: सह श्रीमातृचरणयशोदागृहं भगवद्दर्शनमिषेण गत्वा वाक्चातुरीकटाक्षादिभिश्च स्वसङ्केताभ्यङ्गादिमनोरथं सूचयति इति भाव:. अतएव श्रीमन्महाप्रभुसेवकै: परमानन्ददासादिभि: कृत प्राकृतभाषागीतेषु आसां भावो निरूपित:. अथवा श्रीकीर्त्तिमातृप्रेषिता सती श्रीयशोदागृहम् आगत्य तत्समक्षएव भगवतो निमन्त्रणम् आकारणं च कृतम् "अस्मद्गृहे भोजनार्थम् आगन्तव्यम्" इति. अथवा मातृप्रेषिता सती श्रीनन्दादियशोदाप्रभृतीनाञ्च निमन्त्र्य बाल्यस्वभावमिषेण भगवन्तं हस्ते गृहीत्वा वचनादिभिश्च आकार्य प्रियेण सह स्वगृहं प्रति चलितवती इति भाव:. '**अतिघनवन**'पदेन वनस्य वृक्षगुल्मपुष्पलतादिभि: निबिडत्वं सूचितं यथा तत्र स्थितं भगवन्तं न कोऽपि पश्येद् इति. भगवानपि गृहात् शीघ्रमेव गोचारणमिषेण तत्र आगत: प्रियां प्रतीक्षमाण: "कदा वा आगमिष्यति" इति स्थित: सन् तस्मिन्नेव क्षणे तत्र आगता प्रिया **एकाकिनी** असहायशूरा स्वयमेव सर्वसेवां कर्तुं समर्था प्रियं तादृशवनाद् **आप्तभवने** रमणयोग्यनिकुञ्जादिप्रदेशे मन्दहास्यपूर्वक-वचनकटाक्षादिभि: सम्यग् आकार्य स्वहस्तोपरि हस्तं धृत्वा आनीतवती इति अर्थ:. '**समाकार्य**'पदस्य उभयत्र अन्वयो निमन्त्रणे **आप्तभवने** च. यद्वा **अतिघनवनाद् आप्तभवने** इत्यस्य अन्यदपि आकूतम्. स्वगृहगमनपक्षे एतादृशवनात् सकाशाद् इदं स्वगृहम् **आत्मभवनं** प्रियं भवनं भवति. तथाच नानारत्नखचितम् इत्यादिषु सुरतसम्बन्धादिचित्रलेखनेन विविधशैयोपबर्हण आस्तरणादिभिश्च रमणयोग्यत्वेन प्रीतिविषयम् इति भाव:. रात्रौ दिवा च निकुञ्जादिस्थितिस्तु उष्णकालद्योतिका गृहस्थितिस्तु वर्षाशीतकालद्योतिका इति भाव:. तत्र '**भवने**' '**उन्मर्दादि विधाय**'इति पदेन च प्रथमत:

पुष्पतैलं प्रियसर्वाङ्गे उन्मर्द्य पश्चाद् अनेकविधसुगन्धद्रव्ययुक्तम् आमलकं च लेप्य पश्चात् मलयजघर्षितकाश्मीरजाङ्गरागञ्च लेप्य उष्णजलेन स्नापयित्वा सर्वाङ्गं प्रोञ्छ्य स्वमनोरञ्जकं शृङ्गारं करोति इति भावः प्रकाशितः. अथवा **'एकाकिनी'**इति पदेन **'उन्मर्दादि'**पदेन च यथा निरावरणे प्रिये उन्मर्दादिसर्वम् अनया कृतं तथा प्रियेणापि स्वप्रियात्वेन एतत्सर्वम् एतस्यां कृतम् इत्यपि भावो ज्ञाप्यते. तत्रापि **मुदा** प्रीत्या प्रसन्नमनसा इति यावत् नतु क्लेशेन इति भावः, उभयोः परस्परं प्रीतिविषयत्वात्. **'मुदा'**इति उभयत्र लापनीयम्. स्वामिनीपक्षे भगवत्पक्षे च. आनन्तर्यन्तु ल्यबा बोध्यत इति स्नानशृङ्गाराद्यनन्तरं हृदयेशं भोजनं कारयति प्रियाग्रहेण स्वयमपि भोजनं करोति इति स्वार्थेऽपि **'णिज'**न्तप्रयोगेण लक्ष्यते. **'मुदा'**इति भोजनेऽपि लापनीयम्. **''अद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति''** (श्रीवल्लभाष्टक.४) इति श्रीवल्लभाष्टके श्रीमत्प्रभुचरणैः निरूपितो अयम् आशयः. अतएव **''राधाधरसुधापातुः किम् अन्यन्मधुरायितम्! यन्निवेद्यं तदप्येतन् नामसम्बन्धतो भवेद्''** (सेवा.श्लो.१६) इति श्रीप्रभुचरणैः निरूपितमिति एतत्सम्बन्धं विना किमपि वस्तुमात्रं भगवान् न अङ्गीकरोति इति भावः. **हरिसङ्गार्पितमनाः** इत्यनेन भोजनानन्तरं भगवता सह रमणे मनः कृतवती. अथवा एतावत्पर्यन्तं प्रियसेवामनाः स्थिता अतःपरं प्रियेण साकं रमणे मनः स्थापित इति रमणमेव करोति इति भावः. अतएव केनचिद् उक्तं **''सुरते च समाधौ च मनो यत्र न लीयते, किं तेन सुरतेनैव किं तेन च समाधिना''** इति सुरतस्वरूपम् एतादृशमेव इति. **मयि प्रीता भवतु** इत्यनेन या एतादृशमनोरथयुक्ता सा मयि **प्रीता** प्रसन्ना भवतु इति अर्थः. एतेन एतादृशमनोरथं मह्यं प्रयच्छतु इति प्रार्थना. **अतएव श्रीमन्महाप्रभु-विट्ठलनाथचरणैः एतद्भावानुसारेण स्वगृहएव एतदुत्सवः षट्पञ्चाशद्भोगाख्यः प्रकटीकृत इति ज्ञायते.** यदेव भगवत्सेवां स्वयमेव करोतीति भक्त्या तस्यैव भक्तिमार्गे कीर्तिरिति स्वस्य भगवत्प्रियात्वाभिमानत्वेऽपि दासोचितं धर्मं स्वयमेव करोति इति यशो निरूपितम्.

अतःपरं श्रियं निरूपयन्तः स्वामिन्याः दृग्गोचरत्वं स्वस्मिन् प्रार्थयन्ति **निधाय** इति.

निधाय श्यामांसे निजभुजलतामिन्दुवदनम्
कटाक्षैः पश्यन्ती कुवलयदलाक्षी मधुपतेः ।।
मुदा गायन्ती तन्मधुरमुरलीजातनिनदा -
नुसारं तारं सा फलतु मम राधानयनयोः[४] ।।४।।

सा राधा मम नयनयोः फलतु इति सम्बन्धः या **श्यामांसे निजभुजलतां निधाय मधुपतेः इन्दुवदनं कटाक्षैः पश्यन्ती**. कीदृग्विधा ? **कुवलयदलाक्षी**. पुनः कीदृशी ? **तारं मुदा** गायन्ती. कथंभूतम् ? **तन्मधुरमुरलीजातनिनदानुसारम्**. **श्याम** रूपो यो **अंसः** अर्थात् भगवतः स्कन्धप्रदेशः, **श्यामस्य** वा भगवतः रसात्मकस्य इति यावत्, "**श्यामो भवति शृङ्गारः स्मितो हासः प्रकीर्तितः**" (भर.ना.६।४४) इति वचनात्. तस्मिन् **निजभुजलता**स्थापनेन यथा स्वर्णलतिका रत्नमयपुष्पादियुक्ता इन्द्रनीलमण्यात्मकं तमालवृक्षम् आलिङ्ग्य तिष्ठती सती अधिकशोभां प्राप्नोति तथा इयमपि स्वबाहुलतिका गौराङ्गत्वेन स्वर्णाभा विविधरत्नखचिता अङ्गद - वलय - कङ्कण - मुद्रिकादिपुष्पयुक्ता मरकतश्यामवर्णाभं प्रियस्कन्धप्रदेशम् आलिङ्ग्य तिष्ठति सती अलौकिकशोभां प्राप्नोति इति भावः. '**अंस**'इति एकवचनेन '**भुजलताम्**'इति एकवचनेन च उभयोः समानस्थितिः सूचिता. अथवा उभयत्र एकवचनं जात्यभिप्रायेण. तेन अंसयोः निजभुजलते निधाय इति अर्थः. एतेन **मधुपतेः इन्दुवदनं** प्रियसङ्गतनिजभुजलतामपि वा चन्द्रपरिधिमिव पश्यतीति सम्मुखस्थितिः सूचिता इति अर्थः. **मधुपतित्व**कथनेन भगवतः शृङ्गाररसात्मकत्वं सूचितम्. "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू**" (तैत्ति.संहि.४।४।११।१) इति श्रुतेः मधुः वसन्तर्तुः कुसुमाकरत्वेन रसात्मकः. कुसुमानां शृङ्गाररसोद्बोधकत्वात्. भगवांस्तु तस्यापि पतिः सर्वांशेन रक्षकः कथं न रसात्मकः ? इति भावः. किञ्च, "**ऋतूनां कुसुमाकरः**" (भग.गीता.१०।५६) इति भगवद्वाक्यात् विभूतिरूपवसन्तस्य रसात्मकत्वं यत्र तत्र आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः भगवतः तथात्वे किं वाच्यम्! अतएव गीतगोविन्दे "**शृङ्गारः सखि मूर्तिमान् इह मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति**" (गीत.गो.५।१) इति. '**निधाय**'इति पदेन यथा स्वबाहुभारः

प्रियस्य गाने प्रतिबन्धको न स्यात् तथा लाघवेन धारितवति इति भावः. प्रियस्य तु तद्बाहुलता स्वांसे पुष्पलतावद् भासत इति अर्थः पुष्पमालावद् वा. इन्दुवदन कथनेन भगवन्मुखारविन्दस्य तापनिवारकत्वम् आह्लादकत्वं च इति ज्ञेयम्. तदुक्तं दशमस्कन्धे मुञ्जाटवीप्रसङ्गे **"गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने, क्षणं युगशतमिव यासां येन विना अभवद्"** (भाग.पुरा.१०।१९।१६) इति. धेनुकवधानन्तरं सायं गोकुलप्रवेशसमये **"पीत्वा मुकुन्दमुखसारघम् अक्षिभृङ्गैस् तापं जहुर् विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्"** (भाग.पुरा.१०।१२-।४३) इत्यत्रापि भगवन्मुखस्य तापनिवारकत्वं कटाक्षमोक्षैः परमानन्ददायकत्वं च निरूपितम्. **कटाक्षैः** भावोद्गारिदृष्टिभिः इति अर्थः. एतेन कटाक्षानां श्यामरूपत्वेन तत्सम्मुखभगवन्मुखचन्द्रस्यापि तत्प्रतिफलनेन श्यामत्वम् इति भावः. रसात्मकस्य ब्रह्मणः स्वच्छस्फटिकस्येव अतिनिर्मलत्वात्. अतएव स्त्रीरत्नहासप्रभया अखिलाङ्गे तच्चुम्बनैः तत्प्रतिबिम्बितैश्च. **"तासां कटाक्षैश्च चतुर्युगीयरूपाणि धत्से क्षणशो व्रजेश"** (   ) इति श्रीमत्प्रभुचरणैः निरूपितम्. प्रेमामृतेऽपि भगवन्मुखारविन्दस्य श्यामेन्दुत्वम् उक्तम् **"कृष्णः कृष्णेन्दुः"** (प्रेमामृतम्.२) इति. **कुवलयदलाक्षि** इति. **कुवलयम्** इन्दीवरं नीलकमलम् इति यावत्. तद्दलवत् पत्रवद् **अक्षिणी** नेत्रे यस्या इति. तेन यथा तत्र श्यामरूपत्वम् आरक्तरेखावत्त्वं सुगन्धवत्त्वं च तथा अत्रापि इति भावः. पद्मिनीनां उत्तमनायिकानां सर्वाङ्गेषु कमलगन्धस्य निरूपितत्वात्. अथवा, प्रियमुखसम्मुखत्वेन तत्स्मरणेन वा भ्रमरकीटवन् नेत्रयोः तत्सारूप्यं दर्शितं '**कुवलय**'पदेन. **तन्मधुर** इति **तस्य** भगवतो **मधुरो** यो **मुरल्यां जातो निनदः** गीतात्मकः शब्दः तस्य **अनुसारो** अनुकरणं यस्मिन् तादृशं **तारं** उच्चस्वरं गायति इति अर्थः. अनेन **"काचित् समं मुकुन्देन"** (भाग.पुरा.३०।१०।१०) इतिवत् प्रियेण सह गानं करोति इति लक्ष्यते. किञ्च, प्रियामुखावलोकनजनिताह्लादभरेण रसपरवशः सन् यथा स्वगानेन प्रियागानं पराजितं न स्यात् तथा भगवान् गायति इति '**मधुर**'पदेन द्योतितम्. अथवा, भगवद्गानश्रवणानन्तरं तद्वदेव स्वचातुरीद्योतनार्थं प्रियसन्तोषार्थं च गायति इति अर्थः. '**तार**'पदेन यत् तारस्वरं तद् ध्रुवस्वरं

कृत्वा गायति इति स्वस्यां प्रियकृतबहुसम्माननं '**मुदा**' इति पदेन द्योतितम्. तदेव उक्तं पञ्चाध्याय्यां पञ्चमाध्याये "**तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदाद्**" (भाग.पुरा.१०।३०।१०) इति. ध्रुवस्वरः स्थायी स्वरः. "**यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते**" (   ) इति ध्रुवस्वरलक्षणं "**तदेव ध्रुवमुन्निन्ये**" (यथापूर्वम्) इत्यस्य व्याख्याने श्रीमदाचार्यैः सङ्गीतशास्त्रोक्तम् उक्तम्. **सा** इति 'तत्' शब्देन एतल्लीलाविशिष्टा इति अर्थः. **फलतु** इत्यनेन सर्वदा मम नेत्रगोचरा भवतु इति अर्थः. "**ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायतः. श्रिया वा एतद्रूपम् यद् वीणा. यदा खलु वै पुरुषः श्रियम् अश्नुते वीणास्मै वाद्यते**" (तैत्ति.ब्रा.३।९।१४) इति श्रुतिन्यायेन भगवदीयां श्रियं श्रीराधा प्राप्नोति इति अर्थः. अयम् अर्थस्तु वेणुगीते पक्षिणां भावनिरूपकश्लोकसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः उक्तः. किञ्च तारस्वरस्य वेणुनादानुसारत्वं निरूपणेन प्रियागानस्य तत्तुल्यत्वाद् भगवानपि तदीयां श्रियं भुंक्ते इति भावः.

एवम् अत्यलौकिकीं श्रियं निरूप्य ज्ञानं निरूपयन्तः तद्रूपचर्विततताम्बूलदानं स्वस्मै प्रार्थयन्ति :

अमन्दप्रेमार्द्रा[५] किसलयमयात् केलिशयनाद्
उषस्युत्थायाब्जारुणतरकपोलातिरुचिरा ।।
गृहं यान्ती श्रान्ति - स्थगितगतिरास्याम्बुजगतम्
घनीभूतं राधा रसमनुदिनं मे वितरतु ।।५।।

अमन्द... इति एतादृशी **राधा मे अनुदिनं आस्याम्बुजगतं घनीभूतं रसं वितरतु** इति सम्बन्धः. कथंभूता? **अमन्दप्रेमार्द्रा.** पुनः कीदृशी? **किसलयमयात् केलिशयनाद् उषसि उत्थाय गृहं यान्ती.** पुनः कथंभूता? **अब्जारुणतरकपोलातिरुचिरा.** पुनरपि **श्रान्ति - स्थगितगतिः. अमन्दम्** अमितं यत् प्रियविषयकं **प्रेम** पुनः कदा वा समागमो भविष्यतीति तेन **आर्द्रा** सात्त्विकाविर्भावयुक्ता इति अर्थः. **किसलयमयात्** इति. कमलदलैरेव

निर्मितं यत् **केलिशयनं** क्रीडातल्पं तस्मात्. तेन घर्मकालसम्बन्धिरात्रौ निकुञ्जस्थितिः सूचिता. **'उषसि'** इति पदेन स्वागमनरतिचिह्नादिगोपनार्थं तत्समयएव गृहं गतवती इति भावः. अतएव अग्रे तादृशविशेषणानि. एतेन भगवानपि तत्समयएव स्वगृहं गत इति ज्ञायते. अतएव श्रीमत्प्रभुचरणैः भगवत्प्रबोधग्रन्थे निरूपितः अयम् आशयः : **''न यावदेष कुङ्कुम''** (प्रबोध.६) इति पद्येन **''न चेदमी''** (प्रबोध.७) इति पद्येन च. एतेन यथा प्रियस्य सख्यः तत्समये रतिखिन्नं सुखनिद्रावशं प्रियं प्रबोधयन्ति तथा एतत्सख्य एवंविधाम् एतामपि तथा इति भावः. **अब्जारुण** इति. **अब्जवत्** कमलवद् **अरुणतरौ** अत्यन्तारुणौ, **अब्जादपि अरुणतरौ** वा एतादृशौ **कपोलौ** ताभ्याम् **अतिरुचिरा** अनिर्वचनीयशोभायुक्ता. अथवा **'अतिरुचिरा'** इति व्यस्तं पदम्. एतेनापि सएव अर्थः सूचितः. परमसुन्दरी इति यावत्. कपोलयोः अरुणत्वकथनेन कमलवत् सहजारुणत्वं सूचितम्. अथवा रसावेशे प्रियकृतकुङ्कुमकमलपत्रेण तयोः तथात्वम्. तथाच **अब्जं** यद् **अरुणतरं** कुङ्कुममयं तेन तयोः तथात्वम् इति भावः. अथवा तयोः अरुणत्वकथनेन ताम्बूलरागरञ्जितत्वम् उक्तम्. तेन रसावेशे गृहगमनसमये वा प्रियेण चुम्बनं कृतम् इति ज्ञायते. अतएव श्रीमदाचार्यैः उक्तं युगलगीते **''बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन्''** (भाग.पुरा.१०।३२।२४) इत्यस्य सुबोधिन्यां **''गण्डएव रससमाप्तिः''** (सुबो.१०।३२।२४) इति. मृदुत्वं भोगार्थम् उपयुज्यत इति च. अत्र मृदुत्वम् **'अब्ज'** पदेन द्योतितम्. **श्रान्ति** इति. **श्रान्तिः** रतिश्रमं तेन **स्थगिता** निश्चला गतिः यस्याः. तेन गृहागमने सखीम् अवलम्ब्य शनैः चलति इति लक्ष्यते. **आस्याम्बुजगतम्** इति विशेषणेन मुखाम्बुजगतरसस्य प्रियसम्बन्धिचर्वितताम्बूलत्वं द्योतितम्. तेन रसात्मकब्रह्मविद्यारूपं ज्ञानं प्रियेण दत्तम् इति ज्ञायते. अतएव फलप्रकरणे पञ्चमाध्याये **''गण्डं गण्डे सन्दधत्या''** (भाग.पुरा.१०।३०।१३) इत्यस्य व्याख्याने श्रीमदाचार्यैः उक्तम् **''अनेन तस्यै स्वविद्या दत्ता इति ज्ञापितम्''** (सुबो.१०।३०।१३) इति यत्र श्रुतिरूपाणामपि एतादृशी कृपा तत्र एतस्यां तथात्वे किं वाच्यम्! इति भावः. दिवसनयनं तु तेनैव गुणगानरूपेण इति भावः. तदुक्तं युगलगीते **''कृष्णलीलाप्रगायन्त्यो निन्युर् दुःखेन**

वासरान्'' (भाग.पुरा.१०।३२।१) इति. एतत् सुबोधिन्यामपि ''**यतः स्वरूपवियोगे तदतिरिक्तस्य न जीवनहेतुत्वं ततो हीनत्वाद्**'' (सुबो.१०।३२।१) इति. मुखस्य अम्बुजत्वकथनेन रसात्मकएव तस्य स्थितिः उचिता इति. यतः स्वयं रसात्मकम् इति. तस्य घनीभूतत्वकथनेन ''**स यथा सैन्धवनघन**'' (बृह.उप.४।५।१३) इति श्रुतेः भगवत्स्वरूपस्य घनीभूतरसात्मकत्वेन ततो निर्गतमपि रसं तथा भवति इति भावः. **मे वितरतु** मह्यं प्रयच्छतु. तेन स्वस्य तद्योग्यता अतिप्रियत्वं च सूचितम्. नोचेत् स्वस्य अतिप्रियम् अन्यायोग्यं वस्तु केनचित् कस्मै दातुं शक्यते. अतएव बालबोधे श्रीमदाचार्यैः उक्तं ''**लोकेऽपि यत् प्रभुर् भुंक्ते तन्न यच्छति कर्हिचित्, अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि**'' (बा.बो.१४) इति. अनुदिनत्वकथनेन निरन्तरं तत्सङ्गतत्वम् अतीवकृपा च सूचिता.

एवं रसात्मकब्रह्मविद्यारूपं ज्ञानं निरूप्य भगवत्सेवारूपं वैराग्यं निरूपयन्तः चरणारविन्ददास्यं स्वस्मिन् प्रार्थयन्ति **प्रियेण** इति. :

प्रियेणाक्ष्णा संसूचितनवनिकुञ्जेषु विविध-
प्रसूनैर्निर्मायातिशयरुचिरं केलिशयनम्।
दिवाप्येषा गुञ्जन्मधुपमुखरे धीरपवना -
श्रिते क्रीडन्ती मे निजचरणदास्यं वितरतु॥६॥

एषा प्रियेण सह **दिवापि क्रीडन्ती मे निजचरणदास्यं वितरतु** इति अन्वयः. किं कृत्वा? **प्रियेण अक्षणा संसूचितनवनिकुञ्जेषु विविधप्रसूनैः अतिशयरुचिरं केलिशयनं निर्माय.** कथंभूते? **दिवा गुञ्जन्मधुपमुखरे.** पुनः कथंभूते? **धीरपवनाश्रिते.** '**अक्षणा संसूचिता**'इति पदेन प्रियस्य स्वगृहस्थितिः सूचिता. तत्र प्रातः दर्शनार्थम् आगतां प्रियां प्रति मातृसमक्षत्वेन प्रियेण नेत्रकमलद्वारैव सर्वं सङ्केतादिकं सूचितम् इति भावः. अथवा प्रियस्य वनगमनसमये गमनानन्तरं वने वा श्रीबलदेवगोपसाहित्यात् तां नेत्रपल्लव्या भगवता सर्वं सङ्केतादिकं तथा इति भावः. अतएव

'**सम्यक्**'पदम्. '**नवनिकुञ्ज**' इति पदात् वसन्तऋतुः सूचितः. तस्मिन्नेव लतावृक्षादीनां नूतनपल्लवोद्गमत्वात् पुष्पाणामपि च. तेन निकुञ्जानां नवत्वम् उक्तम्. तथाच नवानि नूतनानि यानि निकुञ्जानि अथवा नूतना ये निकुञ्जाः. ''**निकुञ्ज - कुञ्जौ वा क्लीबे**'' (अम.को.२।४।८) इति कोशात् तयोः उभयलिङ्गत्वम्. तत्रैव अग्रे कुञ्ज - निकुञ्जयोः लक्षणमपि अस्ति : ''**लतादिपिहितोदरः**'' (अम.को.२।४।८) इति. तेन '**लता**'आदिशब्देन गुल्मपुष्पाणि च तैः पिहितम् आच्छादितम् **उदरं** मध्यभागो येषां ता निकुञ्जानि इति द्योत्यते. एतादृशेषु **नवनिकुञ्जेषु** लतागुल्मपुष्पैः सङ्कुलेषु **विविधप्रसूनैः** नानारङ्गसुगन्धयुक्तैः **अतिशयरुचिरं** दर्शनमात्रेण मनोहारि उद्भटरसोद्बोधकम् इति यावत्. एतादृशं **केलिशयनं** सुरतक्रीडातल्पं स्वयं **निर्माय** निर्माणं कृत्वा **दिवापि** दिवसेऽपि **एषा** राधा प्रियेण सह **क्रीडन्ती** क्रीडां करोति इति अर्थः. तेन '**प्रिय**'पदस्य आवृत्तिः ज्ञेया. निकुञ्जादिसूचने क्रीडायां च. '**दिवा**'इति सप्तम्यन्तम्, अव्ययानाम् अनेकार्थत्वात्. **निकुञ्जानां** बहुवचनेन **विविधप्रसूनोक्ते**श्च कुत्रचित् स्थलकमलरचितं **केलिशयनं**, कुत्रचित् स्वर्णयूथिकारचितं, क्वचित् जातीपुष्पमयं, क्वचित् चम्पकमयं, कुत्रचिन् मालतीनिर्मितं, क्वचित् मल्लिकारचितम् इति ज्ञायते. अतएव श्रीमत्प्रभुचरणैः उक्तं दानलीलाग्रन्थप्रारम्भश्लोके ''**निकुञ्जेष्वन्योन्यं कृतविविधतल्पेषु**'' (दानलीला.१) इति. एतेन केलीनामपि अनेकविधत्वं सूचितम्. तत् स्वतएव विभावनीयम्. अतएव श्रीमन्महाप्रभुचरणैः श्रीगोवर्द्धने श्रीनवनीतप्रियमन्दिरे च वसन्तर्ताविव राजभोगानन्तरं मध्याह्नसमयएव एतावद्भावानुकरणं पुष्पगृहादिकं कृतम् इति ज्ञायते. एतेन आधुनिकैरपि अस्मदादिभिः कृतं दोलोत्सवात्पूर्वं वसन्तक्रीडायां कुञ्जोत्सवम् उपवनोत्सवं च श्रीमत्प्रभुकृतेः सकाशात् न अत्यन्तं विरोधि इति ज्ञायते. **गुञ्जन्** इति. गुञ्जतः रसाधायकं शब्दं कुर्वन्तो ये मधुपा नानापुष्पेभ्यो मकरन्दात्मकं मधु पिबतीति तथा. **तैः मुखरे** नानाशब्दसङ्कुले. अथ च **धीरपवनाश्रिते** धीरो यः पवनो वायुः तस्य आश्रयो यस्मिन् तादृशैः. '**धीर**' शब्देन वायोः शीतलमन्दसुगन्धवत्त्वं सूचितम्. तेन एतादृग्धर्मयुक्तस्य दिनस्य क्रीडोपयोगित्वं दर्शितम्. **क्रीडन्ती** क्रीडां कुर्वन्ती इति वर्तमानप्रयोगेण सुरतक्रीडाविरतौ प्रियेण साकं संलापादि

क्रीडां करोति इति ज्ञायते. तत्क्रीडायान्तु तृतीयप्रवेशस्य रसाभासजनकत्वात्. तत्र चरणाविन्दसंवाहनरूपदास्यस्य असम्भवात् च. तेन तत्समये उभयो रतिश्रमदूरीकरणार्थं चरणारविन्दसंवाहनरूपं दास्यं मे मह्यं वितरतु प्रयच्छतु इति भाव:. एतत्कथनेन तस्मिन्नपि समये स्वप्रवेशयोग्यता सूचिता. तेन स्वस्य मुख्यान्यपूर्वास्वरूपत्वं सूचितम्. स्वस्मिन् दास्यप्रार्थनया तस्य सर्वोत्कृष्टत्वं दर्शितम्. अतएव श्रुतिरूपाभिरपि तदेव प्राथितम् "**तप्तात्मनां पुरुषभूषण! देहि दास्यम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।३८) इति. "**वक्ष:श्रियैकरमणं च भवाम दास्य**" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इति च. दास्यस्य सर्वोत्कृष्टत्वं तु "**वीक्ष्यालका...**" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इति पद्यसुबोधिन्यां "**लोके हि पुरुषार्थत्रयम् : चतुर्विधो मोक्ष: इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्ति: इहलोके परमालक्ष्मी:...ते सर्वे दास्याग्रे अप्रयोजका**" (सुबो.१०।२६।३९) इति श्रीमदाचार्यै: निरूपितं पुरुषार्थत्रयनिराकरणपूर्वकम्. इदं यथा - तथा एतच्छ्लोकव्याख्यानदर्शनाद् ज्ञातं भविष्यति. तेन दास्यनिरूपणेन वैराग्यं निरूपितं भवति. अत्र अयम् आशय: : प्रियसूचितकार्यं पुष्पावचय - तद्ग्रन्थन - तन्निर्मितनिकुञ्जस्थतल्पादिरूपं श्रमसाध्यमपि सर्वं तदासक्त्या स्वदेहासक्तिं परित्यज्य प्रियस्य गोचारणादिजनितश्रमदूरीकरणार्थं स्वयमेव कृतवति इति स्वधर्मरूपं वैराग्यं दर्शितम्. इदमेव वैराग्यस्वरूपं वेणुगीते मेघभावनिरूपकश्लोक-सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यै: निरूपितम्. "**उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि, भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता**" (सुबो.कारि.१०।१८।२६) इत्येतेन तादृशसमये दम्पत्यो: श्रमदूरीकरणार्थं चरणसंवाहनरूपदास्यकरणेन स्वस्यापि वैराग्यवत्त्वं सूचितम् इति भाव:.

एवं श्रीमत्स्वामिन्या: षट्धर्मान् निरूप्य धर्मिरूपत्वं निरूपयन्त: तस्यां स्वगतिं प्रार्थयन्ति **कदम्बारूढम्** इति :

कदम्बारूढं या निजपतिमजानन्त्यहनि तत् -
तले कुर्वन्ति स्वप्रियतमसखीभि: सह कथाम्।।
अकस्माद् उद्वीक्ष्य स्फुटतरलहारोरसमति-
स्मितस्मेरव्रीडानतमुदितदृक्/व्रीडाननमुदित **सा मम गति:।।७।।**

सा मम **गतिः** भूयाद् इति शेषः. या **कदम्बारूढं निजपतिम् अजानन्ति** सती **तत्तले अहनि स्वप्रियतमसखीभिः सह कथां कुर्वन्ती.** कथंभूतं पतिम्? **स्फुटतरलहारोरसम्.** कथंभूता? **अकस्माद् उद्वीक्ष्य अतिस्मितस्मेरव्रीडानतमुदितदृक्.** एतादृशी कदम्बवृक्षस्य अतिप्रियत्वात् भगवतः तदारूढत्वम् उक्तम्. तदुक्तं प्रेमामृते "**कदम्बवनमन्दिर**" (प्रेमामृतम्.२४) इत्यत्र. अयम् आशयः : काचित् सखी प्रियं प्रति आह "हे प्रिय! यदि तव प्रियावचनमाधुरीश्रवणेच्छा तदा तन्निकुञ्जस्थकदम्बे प्रियाऽगमनात् पूर्वमेव आरूह्य गुप्ततया स्थातव्यम्. अस्माभिरपि तव प्रियया सह तत्रैव आगन्तव्यम्" इति सख्या प्रबोधितेन प्रियेण तथैव कृतम् इति '**आरूढ**'पदेन ज्ञायते. अन्यथा **सखीभिः** इति बहुवचनेन कदाचित् कयाचिद् भगवान् ज्ञापितोऽपि स्यात् रसाभासएव स्यात्. **निजपतित्वेन** स्वकीयत्वं द्योतितम्. तेन मुख्यतया भगवान् अस्याएव पतिः, आधिदैविकपरमानन्दलक्ष्मीरूपत्वात्. अन्यासां लक्ष्म्यादीनाम् अन्यपूर्वाणाम् अनन्यपूर्वाणां महिष्यादीनां च तदंशत्वेन तत्प्रवेशेन वा पतिः इति च '**निजपति**'पदेन ज्ञापितम्. इदं यथा-तथा वेणुगीते "**बर्हापीडम्**" (भाग.पुरा.१०।१८।५) इतिश्लोकविवृतौ श्रीमदाचार्यैः निरूपितम्. **अजानन्ती** इति कथनात् इमं वृत्तान्तं ताभिः प्रियां प्रति न ज्ञापितम् इति ज्ञायते. अन्यथा कथाएव न स्यात्. '**अहनि**' इति पदेन रात्रिसम्बन्धिलीलाकथा सूचिता. 'दिवसा'दिपदम् अनुक्त्वा यत् क्लीबवाचकम् 'अह्नः'पदम् उक्तं तेन एतत्कथाया दिनात्मककालाधारत्वे तस्य क्लीबत्वम् उक्तम् एतल्लीलायाः पुरुषश्रवणायोग्यत्वात्. '**तत्तले**' इति पदेन यत्रैव प्रिय आरूढः तस्य अधो देशे सखीभिः आनीता तन्मूलम् आश्रित्य ताभिः सह तिष्ठति इति भावः. एतेन वैष्णवगृहएव भगवत्कथा कर्तव्या न अन्यत्र इति हृदयम्. "**वैष्णवा वै वनस्पतयः**" (   ) इति श्रुतेः. भगवानपि स्वकीयं ज्ञात्वा तदधिरूढो जात इति ज्ञायते. भगवत्सम्बन्धात् तस्य आधिदैविकं लीलोपयोगिरूपत्वमपि जातम्. तेन तद्रहस्यलीलादर्शनश्रवणयोग्यता जातेति '**कदम्ब**' पदेन सूचिता. सखीनां **स्वप्रियतम**त्वकथनेन समानशीलव्यसनत्वं सूचितम्. तथाच एतादृशीभिः सह रसस्वाभाव्यात् स्वानुभवरूपां बन्धादिलीलां

पुरुषायितलीलां च कथयति इति ज्ञायते, रसावेशे स्वस्या भगवदात्मकत्वात्, तेन धर्मिरूपता निरूपिता. एवं कुर्वन्ती सती **अकस्माद्** भगवदिच्छया वनपुष्पादिशोभादर्शनार्थम् **उद्वीक्ष्य** नवा अन्य: कोपि श्रुणुयादिति ऊर्ध्वप्रदेशं विशेषेण दृष्ट्वा प्रथमत: **स्फुटतरलहारोरसं** प्रियमेव दृष्टवती इति अर्थ:. **स्फुटा:** प्रकटा: **तरला:** चञ्चलाश्च **हारा उरसि** वक्षसि यस्य तम्. तेन प्रियोऽपि प्रियाया: तत्सामयिकशोभादर्शनार्थम् अध:प्रदेशं पश्यति इति ज्ञायते. अन्यथा उर: संलग्नानां हाराणां स्फुटतयादर्शनयोग्यत्वं तरलत्वं च न स्याद् इति भाव:. तदा उभयो: साम्मुख्येन परस्परं मन्दहासो जात:. तेन सा **अतिस्मितस्मेरव्रीडानतमुदितदृग्** जाता. प्रियस्तु अधरएव हासं सङ्कोच्य स्थितइति **'अतिस्मित'** पदेन द्योतितम्. तथाच प्रियकृतेन **अतिस्मितेन** प्रियायां जातो य: **स्मेरो** मन्दहास: तेन **व्रीडया** लज्जया मया किम् उक्तं किं वा कृतम् इति **आनता** नम्रीभूता **मुदिता** प्रियेण दृष्टं श्रुतं वा न तु विजातीयै: इति आनन्दयुक्ता च **दृष्टि:** यस्या इति. **स्मेरं व्रीडानन** इति पाठे **स्मेरं** मन्दहासं यथा स्यात् तथा **व्रीडायुक्तम् आननं मुदिता** च **दृष्टि:** यस्या इति. एतादृशी **सा मम गति:** भूयाद् इति अर्थ:. **"'गम्लृ' गतौ"** (पाणि.धातु.भ्वा.१००७) इति धात्वर्थात् गम्यते प्राप्यते इति **गति:** तेन मम गतिविषया भवतु इति भाव:.

एवं धर्मिरूपतां निरूप्य मोक्षादिनिराकरणपूर्वकं दास्यं कर्तुं देहादिनिर्वाहकं तदुच्छिष्टादिकं स्वस्मिन् विज्ञापयन्ति **न मे भूयाद्** इति.

न मे भूयान् मोक्षो न पुनरमराधीशसदनं
न योगो न ज्ञानं विषयजसुखं दु:खकदनम्॥
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तव पदजलं पेयमपि तद्-
रजोमूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम्॥८॥

हे स्वामिनि! मे मोक्षादि न भूयात्. दु:खकदनं त्वदुच्छिष्टं प्रतिभवम् अनुसवनम् अस्तु इति सम्बन्ध:. **मे** मम **मोक्ष:** इत्यनेन चतुर्विधोऽपि मा भूयात्. ननु **"आत्मलाभात् न परं विद्यते"**

(आप.सू.१।४।२२।२) इति श्रुतेः ब्रह्मानन्दात्मकस्य मोक्षस्य कथं निषेधः क्रियते इति चेत्? तत्र आहुः त्वदुक्तं सत्यमेव यदि मर्यादाभक्तिमार्गीयत्वम् अस्माकं स्यात्. वयन्तु अनुग्रहमार्गस्थानुवर्तिनः प्रमेयपराएव. अतो ये अनुग्रहमार्गस्थाः तेषां ततोऽपि महत्फलयोग्यता इति श्रीकपिलदेवैः उक्तं तृतीयस्कन्धे मातरं प्रति. "**सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सायुज्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः**" (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति. "**विना मत्सेवनम्**" इति कथनेन तेषां तदेव मोक्षः इति ज्ञापितम्. भगवदीयाएव हि भगवत्सेवारूपमोक्षाधिकारिण इति हृदिकृत्वा ऋषभदेवेनापि उक्तं पञ्चमस्कन्धे "**भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था**" (भाग.पुरा.५।६।१७) इति. ब्रह्मसूत्रभाष्ये फलाध्यायस्य चतुर्थपादे प्राकृतदेहपातानन्तरं लीलोपयोगि आनन्दमात्रदेहेन्द्रियादिप्राप्तिरूपः पुष्टिमार्गीयो मोक्षः "**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या श्रीमदाचार्यैः निरूपितः. तथाच अलौकिकं देहं प्राप्य भगवता सह यथाधिकारं लीलां करोति इति ज्ञापितम्. इदं यथा तथा भाष्ये विद्वन्मण्डने च विस्तरेण निरूपितम्. वेणुगीतेऽपि श्रुतिरूपाभिः उक्तम् "**अक्षण्वतां फलम् इदं न परं विदाम**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इति. अस्य विवृतावपि श्रीमदाचार्यैः उक्तम् "**भगवता सह संलाप**" (सुबो.का.१०।१८।७) इत्यारभ्य "**इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा, यथान्धकारे नियता स्थितिर् नाक्ष्णोः फलं भवेद्, एवं मोक्षोऽपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि**" (सुबो.का.१०।१८।१०-११) इत्यन्तम्. अतएव श्रीमत्प्रभुचरणैरपि निरूपितम्. "**भक्तिमार्गे हरेर् दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि, कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्**" (वृत्रा.चतु.स्व.भाग.पुरा.६।११।२४) इति. तेन मर्यादाभक्तिमार्गीयाणां मोक्षः फलं पुष्टिमार्गीयाणान्तु अलौकिकदेहप्राप्त्यनन्तरं भगवत्सेवनमेव फलम् इति भावः. ननु सर्वम् इदं भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वेन परतन्त्रत्वात् यज्ञादिरूपस्वकृतिसाधनासाध्यत्वाभावात् स्वर्गमेव कुतो न अङ्गीकरोतु इति चेत् तत्र आहुः **न पुनर् अमराधीशसदनम्** इति. **अमराधीश**स्य इन्द्रस्य यत् **सदनं** स्वर्गलोकं तदपि क्षयिष्णुत्वेन क्षीणफलकं "**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विषन्ति**" (भग.गीता.९।२१) इति न अङ्गीक्रियत इति भावः. '**पुनः**' पदेन यत्र

अक्षयफलो मोक्षएव न आद्रियते तत्र क्षयिष्णुफलकः स्वर्गः कथम् आदरणीयः ! इति भावः. ननु आस्तां तद्वार्ता. योगस्तु अणिमाद्यष्टविधैश्वर्यसाधकत्वेन भोगादिसर्वसाधकइति आदरणीयो भवतु इति चेत्? तत्र आहुः **न योग** इति. योगेन हि सिद्ध्यादिसम्पत्तिः भवति स्वात्मदर्शनञ्च. "**अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्**" (याज्ञ.स्मृ.१।८) इति. तथाच तत्र परमानन्दानुभवाभावात् स्वेष्टसाधको न भवतीति तस्याऽपि अनङ्गीकारः इति भावः. ननु "**तरति शोकम् आत्मवित्**" (छान्दो.उप.७।१।३) इति श्रुतेः ब्रह्मानन्दप्रापकं ज्ञानमेव कुतो न प्रार्थ्यते? किं दास्येन? इत्यत आहुः **न ज्ञानम्** इति. **ज्ञानमपि** ब्रह्मात्मैक्यं भक्तानां न इष्टसाधकम् अपितु बाधकमेव, "**तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह**" (भाग.पुरा.११।२०।३१) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. ननु अतिश्रमसाधन-साध्यत्वेन दूरफलकत्वेन च एतेषां वार्ता तिष्ठतु. अनायासेनैव किञ्चित्श्रमसाध्यं विषयजसुखमेव अङ्गीक्रियतां तत्राऽपि आहुः **विषयजसुखम्. न** इति अनुवर्तनम्. विषयेभ्यो जातं विषयजम्. **विषयाः** रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दाः श्रोत्रं त्वक्-घ्राण-दृग्-जिह्वा इति पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां तन्मात्ररूपाः तैः **जातं सुखं विषयजसुखम्.** एतादृशस्य सुखस्य अत्यन्तं सेवने देहविघातकत्वं. अतएव केनचित् लौकिकेन भर्तृहर्याख्येन उक्तं "**भोगे रोगभयम्**" (शत.त्र.   ) इति. सर्वदा तदासक्त्या परलोकबाधकत्वञ्च. अतएव गीतायां श्रीभगवता उक्तं "**ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनयएव ते, आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः**" (भग.गीता.५।२२) इति. एतेन इहलोक-परलोकविघातकत्वेन उपेक्षणीयमेव न प्रार्थनीयम् इति भावः. तर्हि अत्युत्कृष्टानां मोक्षादीनां बाधकत्वे सति फलत्वेन भवद्भिः किं प्रार्थनीयम्? इत्यत आहुः **त्वदुच्छिष्टम्** इति. अतएव **दुःखकदनम्** इति विशेषणम् अस्यैव. **दुःखस्य** सांसारिकस्य **कदनं** नाशकम् इति अर्थः. अतएव "**त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि**" (भाग.पुरा.११।६।४६) इति श्रीमदुद्धवेन उक्तम् एकादशे. भगवदुच्छिष्टस्य मायाजेतृत्वकथनेन दुःखनिवर्तकत्वं सूचितम्. उच्छिष्टभागिनो दासाएवेति उच्छिष्टप्रार्थनेन स्वस्मिन् दासत्वमपि

सूचितम्. अतएव दानलीलाग्रन्थसमाप्तौ "**राधाचन्द्रावलीगोपी दासीकथितम् अद्भुतम्**" (दानलीला.२०८) इति स्वैरेव निरूपितम्. तेन त्वदुच्छिष्टं **मे भोज्यं** भोजनयोग्यं भवतु. '**मे**' इति अनुवर्तनीयं सर्वत्र. **भूयाद्** इत्यपि. **पेयमपि** पानयोग्यमपि **तव पदजलं** चरणप्रक्षालनजलम् अस्तु. **तद्रजो मे मूर्ध्नि** मस्तकोपरि तिष्ठतु. '**तत्**' शब्देन तच्चरणारविन्दसम्बन्धित्वं रजसः सूचितम्. तेनैव सर्वपुरुषार्थसिद्धिः. अतएव "**विनामहत्पादरजोभिषेकम्**" (भाग.पुरा.५।१२।१२) इति पञ्चमस्कन्धे निरूपितम्. "**अशेषभक्तसम्प्रार्थ्यचरणाब्जरजोधनः**" (श्रीसर्वो.स्तो.३३) इति सर्वोत्तमे स्वैरपि निरूपितम्. **अनुसवनम्** इति. सवनं सवनम् इति **अनुसवनम्.** सवनः कालः तेन प्रातःसवनः माध्यन्दिनसवनः सायंसवनश्च दर्शितः. तथाच त्रिष्वपि कालेषु मन्दिरमार्जनेन यद् उद्धूतं रजः तन् मम शिरसि तिष्ठतु इति भावः. अतएव तत्त्वार्थदीपे श्रीमदाचार्यैः निरूपितम् "**एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेद्**" (त.दी.नि.२।२३७) इति. पूजनन्तु मन्दिरमार्जनपुरःसरम्. अतएव श्रीमन्महाप्रभुगृहे प्रातः सन्ध्यायां च भगवन्मन्दिरमार्जनं क्रियते. **प्रतिभवम्** इति प्रतिजन्मनि इति अर्थः. ननु एतादृशमहापुरुषाणां भगवत्स्वरूपाणां पुनर्जन्मासम्भवात् कथम् एवं कथनं स्वस्मिन् घटतइति? तत्र अयम् आशयः : "**भवो जन्मनि च प्रोक्तो भवः कामेपि कीर्तितः**" (मेदिनी.   ) इति मेदिनीकोशात् '**भव**' शब्देन अत्र कामः मनोरथ इति यावत्. तेन **प्रतिभवं** प्रतिमनोरथं यदा-यदा भोजनेच्छा जलपानेच्छा च तदा-तदा इदमेव अस्तु इति भावः. अथवा '**प्रतिभव**' शब्देन प्रतिदिनम् उच्यते. अतएव फलप्रकरणप्रथमाध्याये "**कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं**" (भाग.पुरा.१०।२६।३३) इत्यस्य विवरणे "**जन्मवद् दिनस्यापि परिच्छेदकत्वाद्**" (सुबो.१०।२६।३३) इति श्रीमदाचार्यैः निरूपितम्. अथवा यथा रात्रौ सुषुप्त्यवस्थायां जीवस्य ब्रह्मणि लयः. जागरितावस्थायां पुनः तस्य ततः उत्थानं जन्मवद् भवति. तदुक्तम् आचार्यैः निबन्धप्रथमप्रकरणे "**संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित्, कृष्णस्य आत्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः**" (त.दी.नि.१।२४) इत्यस्य व्याख्याने "**जीवानां तदा सुखार्थं प्रलयं करोति यथा रात्रिम्**" (त.दी.नि.प्र.१।२४) इति. तथा अत्रापि

रात्रिलीलायां निमग्नत्वेन रसात्मके परमानन्दे ब्रह्मणि लयः, पुनः तत्कृपया दिवा लीलानुभवार्थं स्वरूपतः पृथक्करणं 'जन्म'शब्दवाच्यमिति 'प्रतिभवम्' उक्तम्.

एवं दासोचितं धर्मं प्रार्थ्य एतद्ग्रन्थोक्तफलं स्वस्मिन्नेव प्रार्थयन्ति **इति श्रीमद्** इति.

इति श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगा-
नुगत्वानन्दाम्भोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा ।।
मयेदं प्रादुर्भावितमतिसुखं 'विट्ठल'पदा-
भिधेये मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम् ।।९।।

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्वामिन्यष्टकं सम्पूर्णम्

मया यद् **अतिसुखम्** **इदं** **प्रादुर्भावितं** तत् **मय्येव** **सततं** **सर्वत्र** **प्रतिफलतु** इति सम्बन्धः. कथंभूते मयि ? **विट्ठलपदाभिधेये**. कथंभूतेन मया ? **श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगानुगत्वानन्दाम्भोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा.** **'इति'** इति समाप्तौ प्रकारे वा. तथाच **इति** एवंप्रकारेण मया यत् **प्रादुर्भावितं** प्रकटीकृतम् **इदम्** एतद्ग्रन्थोक्तं वस्तु **अतिसुखं** भजनानन्दात्मकम् इति यावत्. तत् **मय्येव** इति 'एव'कारेण अन्ययोगव्यवच्छेदपूर्वकं स्वस्मिन्नेव तद्योग्यता न अन्यत्र इति भावः. **'सर्वत्र'** इति पदेन सकलेन्द्रियादिषु इति अर्थः. यत्र कुत्रचिद् देशे काले वा. **सततम्** इति अव्यवधानम्. **'प्रतिफलतु'** इत्यनेन स्वानुभवविषयत्वं सदा स्वदृग्गोचरत्वम् इति भावः. **'विट्ठल'** इति पदं **अभिधेयं** नाम यस्य तस्मिन्. **'विदा'** ज्ञानेन **'ठाः'** शून्याः **'विट्ठाः'** निःसाधनजीवाः तान् **लाति** गृह्णाति, स्वकीयत्वेन अङ्गीकरोतीति **'विट्ठलः'**. तेन लीलासृष्टावपि भगवत्सङ्केतादिज्ञान-शून्यान् मध्यस्थावत् स्वयम् आदाय तत्र प्रापयन्ति इति भावः. तथा च एतद्ग्रन्थोक्तवस्तुप्रतिफलनम् एतेषु युक्तमेव इति भावः. **श्रीमत्य** अनिर्वचनीयालौकिकसौन्दर्यादिमत्यो या **गोपीजनाः** तासां यत् **चरणपङ्केरुहयुगं**

चरणकमलयुगलं तस्य यद् **अनुगत्वं** दासत्वं तद्रूपो यः **आनन्दाम्भोनिधिः** आनन्दसमुद्रः तस्मिन् **निभृतानि वाक्कायमनांसि** यस्य. तेन स्वस्मिन् **श्रीगोपीजनानां चरणकमलयुगलदासत्वकथनेन** तासां पुष्टिमार्गे गुरुत्वं ज्ञापितम्. अतएव श्रीमदाचार्यैः उक्तं सन्न्यासनिर्णये **''कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तद्''** (सं.नि.८) इति. दासस्य भावो दास्यं दासत्वं वा. तेन दासत्वस्य आनन्दसमुद्रत्वकथनेन तद्धर्मयुक्तस्य सर्वदा तन्निमग्नत्वम् उक्तम्. अतएव तन्निभृतवाक्कायमनस्त्वं स्वस्य दर्शितम्. एतेन सर्वदा रसात्मकश्रीमन्नन्दराजकुमारलीलासमुद्रेषु स्वयं विहरन्ति इति ज्ञायते.

श्रीमत्स्वामिन्यष्टकस्य ग्रन्थस्य विवृतिः कृता।
मया तेन प्रसीदन्तु श्रीमद्वल्लभनन्दनाः ॥१॥
व्याख्यापुष्पाञ्जलिः कृष्णराधिकाचरणाम्बुजे।
भक्त्यार्पिता ततो मह्यं दम्पतीमौ प्रसीदताम् ॥२॥
यद्यर्थं भावविद्विष्टं भवेत् स्वाज्ञानतोऽत्र हि।
क्षमन्त्वाचार्यचरणा मयि भृत्ये दयालवः ॥३॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणकमलैकमनसा
श्रीवल्लभात्मजेन श्रीमुरलीधरेण रचिता
श्रीस्वामिन्यष्टकविवृतिः
सम्पूर्णा

(मातृकासंग्रहः)

१. मा = माण्डवी. श्रीमुरलीधरात्मज श्रीपुरुषोत्तमस्य इदं पुस्तकम्.
२. प्र-१ = प्रथमेशसंग्रह. मार्ग.शुक्ल.१४ सं.१८४२ गोपालव्यासेन लिखितम्.
३. प्र-२ = प्रथमेशसंग्रह.

४. ग. = गट्टूलालाजीसंग्रह. सं.१८२२ श्रीरघुनाथात्मज व्रजनाथेन लिखितम्.
५. मु. = मुद्रित.

(पाठभेदः)

१. 'असौ' इति प्र पाठः.
२. 'आप्तभवने' इति प्र.२, ग पाठयोः.
३. 'मुदा गायन्ती या' इति मु.पाठः.
४. 'वदनयोः' इति मु.पाठः.
५. 'प्रेमार्द्रात्' इति मु ग प्र-२ पाठेषु.



।। श्रीकृष्णाय नमः।।

।। श्रीस्वामिन्यष्टकम्।।

(व्रजभाषानुवाद)

अथ श्रीस्वामिन्याष्टककी भाषा लिख्यते. श्रीगुसांईजी या श्लोकन् करि श्रीस्वामिनीजी सों विज्ञप्ति करत हे. तहां कहत हें.

रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धनं
निगूढं मद्वाणी जपतु सततं जातु न परं।।
प्रदोषे दृङ्गमोषे पुलिनगमनायातिमधुरं
चलत्तस्याश्चञ्चच्चरणयुगमास्तां मनसि मे।।१।।

श्रीगुसांईजी कहत हें, हे श्रीराधे! यह सर्वदा उपनिषद्को एकान्तधनकी नांई निगूढ़ हे सर्व श्रुतिन्को यह नाम हे. रहस्यनिगूढ़ धन हें. श्रीगुसांईजी प्रार्थना करत हें जो यह नामको निगूढ़घन हे याहीते मेरी वाणी निरन्तर जपो, कदापि और कछु मति जपो. वाणी तो या नाम ही को जपो. और सायंकाल विषें केसो हे, सायंकाल जो दृष्टिको चुरावत हे सो काउपें जान्यो न परे एतादृश हे ता विषें श्रीयमुनाजीके पुलिन विषें जायवेकों अत्यन्त मधुर हे गमन जिनको तादृश तुम्हारे चरणारविन्द दोउ मेरे मनमें रहें।।१।।

अमन्दप्रेमार्द्रप्रियकरतलं कुङ्कममिषात्
कुचद्वन्द्वे वक्षस्यपि च दधती चारु सततम्।।
कृपां कुर्याद् राधा मयि रुचिरहेमाद्रिशिखरो-
दितप्रावृण्मेघ स्मयहरहरिं चूचुकमिषात्।।२।।

बहु अत्यन्त प्रेम करि आर्द्रार्द्र जो प्राणप्रियको करतल सो कुंकुमको मिष करि पत्रिका लिखन मिष करि कुचद्वंद्व विषे और

वक्षस्थल विषे सुंदर होय तेसे निरन्तर धरत हे. हे राधिके! सरसिज नयन तुम मों विषें कृपा करी केसे हे राधाजू! जेसे सुंदर सुवर्णके पर्वतके शिखरपर उदय भयो जेसे बरसते मेघके गर्वको हरे. एतादृश करि जे श्रीकृष्ण सो चूचुकको मिष करिकें आप ही लपटाय रहे हें।।२।।

निमन्त्र्य प्रातर्या निजहृदयनाथं निरुपमा
समाकार्यैकाकिन्यतिघनवनादात्मभवने ।।
विधायोन्मर्दादि स्वयमतिमुदा भोजयति सा
मयि प्रीता राधा भवतु हरिसङ्गार्पितमना: ।।३।।

प्रात:कालकों अपने हृदयनाथ जे श्रीकृष्ण तिनकों न्योंति करि केसी हे श्रीराधाजू, निरूपमा उपमा देवेको कछु सम नही अकेली बुलाय करि अत्यंतसनाथ जे श्रीकृष्ण तिनको उद्वर्त्तन आदि उबटना करि आपहि नहवाइ करि श्रीराधाजू आनंदसों श्रीठाकुरजीकों जिवावत भई एतादृश जो श्रीराधाजू सो मो विषें प्रसन्न होउ केसे. हे श्रीराधाजू! जिनने श्रीकृष्णजीके संगकों समर्पण कियो हे मनको तिन।।३।।

निधाय श्यामांसे निजभुजलतामिन्दुवदनं
कटाक्षै: पश्यन्ती कुवलयदलाक्षी मधुपते: ।।
मुदा गायन्ती तन्मधुरमुरलीजातनिनदा-
नुसारं तारं सा फलतु मम राधा नयनयो: ।।४।।

कमलदलदीर्घनयन ऐसी जो श्रीराधाजू सो एक श्यामा जो अपनी सखी ताके कंध ऊपर आपनी भुजालता राखि करि श्रीठाकुरजीको मुखचन्द्रमा कटाक्ष करिके देखत हें और आनन्दसो गावत हें, सो केसे गावत हें, ठाकुरजीकी मुरलीते नयो जो मधुर नाद ताके अनुस्वर उच्च स्वर सो गावत हे जो सुन्यो परे ऐसी जो श्रीराधाजी तिनके

दर्शनतें मेरे नेत्रन्को सफल करो॥४॥

अमन्दप्रेमार्द्रात् किशलयमयात् केलिशयना-
दुषस्युत्थायाब्जारुणतरकपोलातिरुचिरा॥
गृहं यान्ति श्रान्तिस्थगितगतिरास्याम्बुजगतम्
घनीभूतं राधा रसमनुदिनं मे वितरतु॥५॥

बहुत प्रेम करि आर्द्रार्द जो पल्लवमय जो केलिशैयाते उषा सो प्रातःकाल उठि करि तब केसे हे आरक्ततम सुंदरतम कपोलकी कान्ति जाकी एक तादृश घरकों जात केलि करि श्रमित स्थगित गति सो मारगमें जात सो घर जात मुखकमल विषें प्राण जो श्रीठाकुरजीकों दीनों चर्वित तांबूल इतररसविस्मरण मुख्यरस दीनताको हे राधा! निरंतर मोको नित्य विस्तार करो बहु ते दान करो॥५॥

प्रियेणाक्ष्णा संसूचितनवनिकुञ्जेषु विविध-
प्रसूनैर्निर्मायातिशयरुचिरं केलिशयनम्॥
दिवाप्येषा गुञ्जन् मधुपमुखरे धीरपवना-
श्रिते क्रीडन्ती मे निजचरणदास्यं वितरतु॥६॥

प्राणप्रिय जे श्रीकृष्ण तिन करि नेत्र सांग करि सम्यक् सूचित कियो. यह जताए जो नौतन कुंज विषें भांतिभांतिके पुष्प करि निर्माण कीनी अत्यन्त अतिशय सुंदर केलिशैयाको दिवस विषें हु श्रीराधाजू केसे हे नवलनिकुंज गुंजार करत हे. भ्रमरशब्दायमान और मंद सुगंध सीतल त्रिविविध वायु वहत हे. एतादृश राधे निकुंजके आश्रित करिके क्रीड़ा करत हें. एतादृश राधे मोकों अपने चरणको दास्य देउ॥६॥

कदम्बारूढं या निजपतिमजानन्त्यहनि तत्-
तले कुर्वन्ती स्वप्रियतमसखीभिः सहकथाम्॥

अकस्माद् उद्वीक्ष्य स्फुटतरलहारोरसमिति
स्मितस्मेरव्रीडाननमुदितदृक् सा मम गतिः ।।७।।

दिनमें आपने ग्रहपति जे श्रीकृष्ण ते कदंबपर चढि रहें हें तिनको नहि जानत ता कदंबके नीचे अपनी प्राणप्रियतम समानशीलव्यसन सखी साथ आपुनी केलिकी वार्ता करत हुती, इतने अकस्मात् ऊंचे श्रीराधाजूने देख्यो तब चंचल हास्यरस प्रकट भयो ता करि श्रीराधाको नेत्र ही में मंदहास्य कछुक गर्व लज्जा आनन्दसों नीची दृष्टि भई सो एसी जो श्रीराधाजूकी दृष्टि सो मेरी गति होउ।।७।।

न मे भूयान् मोक्षो न पुनरमराधीशसदनम्
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखं दुःखकदनम्।।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं तवपदजलं पेयमपि तद्-
रजो मूर्ध्नि स्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम्।।८।।

अब श्रीगुसांईजी कहत हें जो मोकों मोक्ष मति होइ काहेते जो पुष्टिभक्तिमें प्रतिबन्ध होइ और इन्द्रासन होइ मति होइ और मोको विषयज सुख जो दुःखको कदन हे सोउ मति होइ तो कहा होइ? तुम्हारो उच्छिष्ट तो मोको भोजन होइ और तुम्हारे चरणामृतको पान होइ और तुम्हारे चरणकी रज मेरे माथेपर निरन्तर रहो. हे स्वामिनीजी! यह मोको जन्म-जन्म प्रति होइ।।८।।

इति श्रीमद्गोपीजनचरणपङ्केरुहयुगा-
नुगत्वानन्दाम्भोनिधिनिभृतवाक्कायमनसा।।
मयेदं प्रादुर्भावितमतिसुखं 'विट्ठल'पदा-
भिधेये मय्येव प्रतिफलतु सर्वत्र सततम्।।९।।

इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितं स्वामिन्यष्टकं सम्पूर्णम्

अब श्रीगुसांईजी कहत हें जो यह जो शोभासंयुक्त श्रीमद्गोपीजनके दोउ चरणकमलन्में चलत दासत्वप्राप्ति आनन्दजलको समुद्र निभृत हे वचन - शरीर - मन सर्वात्मना करिवेमें यह जो प्रगट कियो अष्टकरूप सो अत्यन्त सुखको 'श्रीविट्ठल'पद नाम हे जाको सो मोही विषे रति फलित होइ सर्वत्र निरन्तर मोही विषे ॥९॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं
स्वामिन्यष्टक
ताकी भाषा सम्पूर्ण



।। श्रीस्वामिनीप्रार्थनाषट्पदी ।।

श्रीराधे! प्रियतमदृक्संगमसञ्जातहासदृक्सलिलैः ।।
भवदीयैः स्नानं मे भूयात् सततं न पाथोभिः ।।१।।

भूयान् मेऽभ्यवहारस् तावकताम्बूलचर्वितेनैव ।।
पानं करुणाकूतस्मितावलोकामृतेनैव ।।२।।

त्रिषवणम् इह भवदंघ्रिप्रणतिः सन्ध्या प्रकृष्टदैन्येन ।।
जापस्तु तापक्लेशैर् विगाढभावेन कीर्तनं नाम्नाम् ।।३।।

अस्तंगच्छत्सूर्यांशुशुक्षणौ दिवसदुःखहोमोऽस्तु ।।
त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं मे ब्रह्मयज्ञोऽस्तु ।।४।।

भवतीनां प्रियसंगम - सञ्जात - मनोमहोत्सवेक्षणतः ।।
तर्पणमिह सर्वेन्द्रियतृप्तिर् भवताद् मनोरथाप्त्या मे ।।५।।

इत्थं जीवनम् अस्तु क्षणमपि भवदंघ्रिविप्रयोगे तु ।।
मरणं भवताद् एवम्भावे शरणं त्वमेव भव ।।६।।

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता
श्रीस्वामिनीप्रार्थनाषट्पदी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीस्वामिनीप्रार्थनाषट्पदी ॥

(श्यामिकावृत्त्युपेता)

सर्वशक्तेः शक्तिरूपा साम्यातिशवर्जिता ॥
'श्री''लक्ष्मी''राधसा'ख्या या ह्यक्षरानन्दरूपिणी ॥१॥
कृष्णानुरागरूपेण गूढा स्रोतस्विनी हृदि ॥
मोक्षानुरक्तिरूपा च विद्याशक्तिसमन्विता ॥२॥
विषयासक्तिरूपापि याऽविद्योपाधिसंयुता ॥
सर्वलीलाविहर्त्रा हि समं लीलाविहारिणी ॥३॥
माधवस्यात्मरन्तुश्च या मा सात्मरतिः स्वयम् ॥
कृष्णमाहात्म्यविज्ञे च कृष्णभक्तिस्वरूपिणी ॥४॥
व्रजे गोपात्मजां राधां प्रियां गोपात्मजस्य वै ॥
मुहुर्मुहुर्मुदा नौमि विठ्ठलेशाभिवन्दिताम् ॥५॥

अथ कलिन्दोद्भूतायाः यमुनायाः तटे रहसि एकाकिनीं वृषभानुजां नवसुभगवक्षोजयुगलां राधाम् अनुचरन्तीं दृष्ट्वा श्रीपरिवृढो नन्दगोपात्मजो यदनुरतो जातः तयोः उभयोः स्वरतिदार्ढ्यैकहेतुना **''न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च, न स्वाध्यायस् तपस् त्यागो न इष्टापूर्तं न दक्षिणा, व्रतानि यज्ञस् छन्दासि तीर्थानि नियमाः यमाः, यथा अवरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि मां... तस्मात् त्वम् उद्धव! उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां, प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः''** (भाग.पुरा.११।१२।-१५) इति वचनात् सर्वात्मभावेन फलनिरोधानुभवैकमना प्रभुचरणाः श्रीराधासंगाभिलाषया तां प्रार्थयन्ति **श्रीराधे** इत्यादिषड्भिः पद्यैः.

ननु सर्वम् इदं वदतोव्याघातमिव आभाति, यतो प्रभुचरणचरित्रे

अडेलस्थस्वगृहे गोकुलस्थस्वगृहेऽपि यमुनातीरयो: निवास: स्नानसन्ध्याद्यात्मकानां द्विजाह्निककर्मणां सौकर्यविचारेणैव कृत: इति श्रूयते. तथा स्वप्रेष्ठभगवत्स्वरूपसेवनायापि तत्र "**गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्**" (भ.व.२) इति श्रीमदाचार्योपदेशात् तथाच "**यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्मा: भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्मा: परधर्मा: वा**" (सुबो.३।२८।२) इति सिद्धान्तविवेकात् च वर्णाश्रमधर्मपरतापि नि:सन्दिग्धा. किञ्च पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकाणामपि प्रभुचरणानां भूलोके कलियुगेऽस्मिन् विद्यमानतादशायां वर्णाश्रमधर्मत्यागेन अलौकिकधर्माचारणं सुतरां न स्वपितृवचनानुकूलं भवेत्. यतोहि "**कृते तु मानवा धर्मा: त्रेतायां गोतमा: स्मृता: द्वापरे शंखलिखिता: कलौ पाराशरा: स्मृता:**" (पारा.स्मृ.२४) इति वचनाद् वर्णाश्रमधर्मरूपाणां स्नानसन्ध्यादिकर्मणां अवश्यकर्तव्यताकत्वमेव न पुन: अन्यादृशानामिति. तत्रच पुन: "**स्नानं सन्ध्या जपो होमो देवतानाञ्च पूजनम् आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट्कर्माणि दिने-दिने**" (पारा.स्मृ.३९) इति वचनोपलम्भाद् नित्यप्राप्तानां कर्माणां त्यागेन श्रीराधासंगप्राप्तानाम् अलौकिकानामपि धर्माणाम् अप्रसक्ततया तत्प्रार्थना अनुचितैव भाति इति चेद् न,

सचैषो दोषस्तावद् असमीक्षिताभिधानकृतएव अवगन्तव्यो न पुन: स्तोत्रे चैतस्मिन् शंकितुमपि शक्य:. तथाहि पूर्वपक्षोदाहृतसुबोधिनीवचनस्य पूर्वोत्तरांशविमर्शे कृते तु तत्रैव "**यदा पुन: आत्मानं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्मा:. यदा पुन: भगवद्भावं प्राप्ता: तदा अलौकिका: धर्माएव, ॠषभादिष्विव गोचर्यादय:, स्वधर्मा: अन्ये परधर्मा:**" (सुबो.३।२८।२) इति श्रीमदाचार्यैरेव व्यवस्थापितत्वाद् विकल्पस्य. नूनं सोऽपि स्वयं भगवतैव भागवते उपोद्बलितोऽपि "**ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वा अनपेक्षक: सलिंगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेद् अविधिगोचर:**" (भाग.पुरा.११।१८।२८) इत्यत्र. एतदेव श्रीमदाचार्यैरपि स्फुटीकृत्वेन न कोऽपि जनकात्मजयो: मिथो विरोधाभाससम्भावनालेशोऽपि. नच सत्यपि एवं स्वाचरणविरुद्धता तु तदवस्थैव प्रतिभाति,

“**श्रीगोकुलकृतावास: कालिन्दीपुलिनप्रिय:**” (नामर.स्तो.१८) इत्येवमादिना-मचरित्राद्यवगाहनेन तस्या: स्पष्टचरत्वाद् इति शंकनीयं, श्रीमत्प्रभुचरणानां पुष्टिमार्गाचार्यरत्न(नामर.स्तो.२३)त्वेन भगवद्भजनानुकूलगृहे स्थितिस्तु आचार्योचितशास्त्रमर्यादानुसारिण्येव अभ्युपगमनीया “**विप्रदारिद्र्यदावाग्नि: भूदेवाग्निप्रपूजको गोब्राह्मणप्राणरक्षापर: सत्यपरायण: प्रिय: श्रुतिपथ: शश्वन्महामखकर:**” (नामर.स्तो.१५-१६) इत्येवमादिभि: नामभि: द्योतित्वाद्. नचैतावता भगवत्सेवानवसरे भगवद्विप्रयोगभावनया श्रीस्वामिन्यादिभि: समं व्यापिवैकुण्ठे अवस्थानं न न सम्भावितम् इति. तत्र आधिदैविकयो: लीलौपयिकदेशकालयो: “**गोपिकाविरहाविष्टो कृष्णात्मा स्वसमर्पक:**” (नामर.स्तो.२६) इति एतादृक्स्वरूपावाप्त्या इतरथाप्रार्थनेऽपि न विरोधाभासशंकालेशोऽपि. तस्माद् “**एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्**” (भाग.पुरा.१०।३३।२१) इतिवद् लीलारसाभिनिवेशेन दिव्यया स्थित्या अन्यथाप्रार्थनेऽपि “**अधिकं तत्र अनुप्रविष्टं न तद्हाने:**” (   ) इति न्यायेन सर्वं सुसमञ्जसमेव. यथाहि गोपगृहेषु भार्यात्वेन स्थिताभिरेव “**यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्ति: स्त्रीणां स्वधर्म:**” (भाग.पुरा.१०।२६।३२) इति भगवदुक्तपक्षे स्वगृहे अवस्थितानां पत्यपत्यसुहृदां परिचरणरूपो धर्मो अवश्यकर्तव्यताको भवति न वा इति विकल्पे प्राप्ते “**यर्हि अम्बुजाक्ष! तव पादतलं रमाया: दत्तक्षणं... अप्राक्ष्म तत्प्रभृति न अन्यसमक्षम् अंग! स्थातुं त्वया अभिरमता बत पारयाम:**” (भाग.पुरा.१०।२९।३६) इति प्रतिवादो श्रुतिरूपाभि: गोपीभि: कृत: तथा प्रभुचरणानामपि एषा प्रतिवादगर्भिता प्रार्थना इति प्रतिभाति.

श्रीराधे! प्रियतमदृक्संगमसञ्जातहासदृक्सलिलै: ।।
भवदीयै: स्नानं मे भूयात् सततं न पाथोभि: ।।१।।

तथाहि **श्रीराधे** इति सम्बोधनं **मे** मम श्रीविट्ठलनाथस्य आद्यं द्विजकृत्यं **स्नानं पाथोभि:** नदीकूपतटाकादिजलै: मा भूत् किमुत श्रीराधाया: **प्रियतमस्य** परब्रह्मण: परमात्मनो भगवतो नन्दात्मजस्य **दृग्भ्यां** नेत्राभ्यां

सह त्वन्नयनयोः यः **संगमः** तेन च **सञ्जातः** त्वयि आर्विर्भूतो यः स्नेहानुभावरूपो **हासो** तादृग्हासेन प्रकटीतानि **दृक्सलिलानि** हर्षाश्रुबिन्दूनि तैः **भवदीयैः** श्रीकृष्णानुरागसिन्धुशीकरोपमैरेव स्नानं भूयाद् इति आशीः स्वस्मै.

एतेन आभीरवामभ्रुवां प्रणयभावावलोकितो हि आभीरनन्दनो यद्यपि नटवरवपुष्ट्वेन फलरूपसंयोगविप्रयोगात्मकतया द्विदलात्मकएव तथापि यथा तासां भावो भ्रमरगीतटिप्पणां ग्रंथकारैः रसभोक्तृभावप्राधान्यपुरस्सरो यथा अभ्युक्तः **''एतासान्तु अधुनैव बहिःसंगमो अभिलषितः''** (सुबो.टि.१०।४४।-३९) इति तथा स्वस्यापि श्रीराधाप्रियतम-दृक्सञ्जातहास-दृक्सलिलैः स्नानम् अभिलाषितं नान्यथा इति ध्वनितम्.

अथ स्नानान्तरम् अशनपानविषयेऽपि निजमनोरथम् आविष्कुर्वन्तो वदन्ति :

भूयान् मेऽभ्यवहारस् तावकताम्बूलचर्वितेनैव ।।
पानं करुणाकूतस्मितावलोकामृतेनैव ।।२।।

स्नानात्प्राक् द्विजानाम् अशनपाने निषिद्धे इति तेऽपि संयोगलीलासामयिके यादृशी सम्भाव्येते तादृशी प्रार्थ्ये **भूयाद्** इति. **मे** मम प्रभुचरणस्य **अभ्यवहारो** अशनकर्म **तावकं** श्रीमद्राधाकृतं यत् **ताम्बूलचर्वणं** तेनैव **भूयात्**. तथा **पानमपि** तस्याः **करुणयाः आकूतं** हृदयाभिलषितं **स्मितपूर्वकम् अवलोकनं** तत्तु अमृतादपि अमृततरं तादृशेन **अमृतेनैव** पानक्रियानिर्वाहः नतु अन्यैः इति.

एवं स्वमनोरथारूढानि स्नानाभ्यवहारपानप्रकाराणि निरूप्य इदानीं प्रातर्मध्याह्नसायंसन्ध्याजपानां स्वाभिलषितप्रकारं प्रार्थयन्ति :

त्रिषवणम् इह भवदंघ्रिप्रणतिः सन्ध्या प्रकृष्टदैन्येन ।।

जापस्तु तापक्लेशैर् विगाढभावेन कीर्तनं नाम्नाम्॥३॥

अथ द्विजाह्निककर्मसु स्नानोत्तरे द्वितीयतृतीये नियते सन्ध्योपासनगायत्री-जपरूपे तयोः अनुष्ठानं प्रातर्मध्यान्हसायमिति त्रिष्वपि कालेषु चिकीर्षिते यद्यपि तथापि "**यदा पुनः भगवद्भावं प्राप्ता तदा अलौकिककर्माएव (स्वधर्माः)**" (सुबो.३।२८।२) इति अन्यविधैव सन्ध्योपासना राधासंगभाव-नाविवशानां प्रभुचरणानां मनोगता ताम् आह **त्रिषवणम्** इति, यद्यपि 'सवन'शब्दः स्नानार्थकः तथापि **त्रिषवणपदे** न स्नानत्रयार्थको पूर्वमेव तदभिधानात्. ततश्च त्रयाणां स्नानानां सन्ध्योपासनार्थकत्वेन तदंगत्वात् "**शेषः परार्थः**" (जैमि.पू.मी.३।१।२२) इत्यत्र अंगभूतकर्मणां निजांगीभूतकर्मा-र्थकतया तथैव ग्रहणमिति **त्रिषवणम्** इह त्रैकालिकसन्ध्याजपार्थकं ज्ञातव्यम्. तं व्याकुर्वन्ति **प्रकृष्टदैन्येन** स्नेहात्मसमर्पणोत्थदैन्येन **भवदंघ्रिप्रणतिः** श्रीमद्राधापदपंकजनमस्कृतिः प्रातर्मध्यान्हसायंकालेषु मदनुष्ठेया भवतु.

अथ सन्ध्याजपोत्तरं प्राप्तयोः सूर्याग्न्योः प्रातःसायंहोमयोः मध्ये "**गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः कृष्णलीलाः प्रगायन्त्योः निन्युः दुःखेन वासरान्**", "**यदुपतिः द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिव एषः दिनान्ते मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।१, २६) इति व्रजलीलाभावविवशतया सायंहोमएव निजभावभरं दर्शयन् स्वाभिप्रेतं प्रकारं निरूपयन्ति :

अस्तंगच्छत्सूर्याशुशुक्षणौ दिवसदुःखहोमोऽस्तु॥
त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं मे ब्रह्मयज्ञोऽस्तु॥४॥

अस्तंगच्छत्सूर्याशुशुक्षणौ इति, अस्तगच्छति सूर्ये सति **आशुशुक्षणौ** अग्नौ इति अर्थः, "आशु=शीघ्रं शु=क्षणोति इति आशुशुक्षणिः" इति व्युत्पत्तेः. **दिवसे** गोचारणार्थं भगवता समं वृन्दावने गन्तुम् असमर्थानां व्रजे च दुःखेन दिनयापनं कुर्वन्तीनां गोपीजनानां यत् सन्तापात्मकं **दुःखं**

तस्य **होमो अस्तु** इति योजना. तद् उद्गीतं श्रीमत्प्रभुचरणहार्दवित्तमेन श्रीगोपालदासेन "**वासरनिर्वाह एम करे सखी सायंकाळे पेखेजी**" (वल्लभा.६।५) इति.

एवं प्रातर्होमस्य उपेक्षणेऽपि निजगेहे प्रत्यूषे "**यत् स्वाध्यायम् अधीयीत एकामपि ऋचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते**" (तैत्ति.आर.२।१०।१) इति यद् अवश्यकर्तव्यताकम् आसीत् अनुष्ठीयमानं च, अकरणे पुनः प्रत्यवायश्रवणाद् "**यस् तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति, यदीं शृणोति अलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्**" (तैत्ति.आर.२।१५) इति. श्रीमत्प्रभुचरणानाम् आचार्यलीलावित्तमेन श्रीगोपाल-दासेनापि "**कमलनैणे ने अमृतवेणे वाक्यमाधुरी रेड़ता, वेदध्वनि मिश हस्तचळणे शोभे सौने तेड़ता**" (वल्लभा.८।१५) इति कीर्तितम्. तदेतत् सर्वं भूमौ भगवद्भजनानुकूले गेहे तदानुकूल्यायैव तथाज्ञानानुरोधाद् अनुष्ठेयस्य **ब्रह्मयज्ञस्य** प्रकारो, लीलायान्तु लीलारसाभिनिवेशेनैव अन्यथा यत्प्रकारके स्वाध्याये मनसो रमणं तद् व्याकुर्वाणाः प्रार्थयन्ति **त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनम्** इति. **त्वया पृष्टायाः प्रियस्य** या वार्ता तस्याः **कथनम्** वर्णनं यथाहि "**तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयं काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्यो अन्ववर्णयन्**" (भाग.पुरा.१०।१८।३) इति न्यायेन. तथा वर्णनमेव **मे** श्रीविठ्ठलेशस्य **ब्रह्मयज्ञो अस्तु** पठनीयः स्वध्यायो भवतु इति आशयः.

एवं होमस्वाध्याययोः मनोरमप्रकारं प्रार्थयित्वा क्रमप्राप्तं तर्पणकर्म निरूपयन्ति :

भवतीनां प्रियसंगम - सञ्जात - मनोमहोत्सवेक्षणतः ॥
तर्पणमिह सर्वेन्द्रियतृप्तिर् भवताद् मनोरथाप्त्या मे ॥५॥

भवतीनाम् इत्यादिना. **प्रियेण** सकलव्रजजनप्राणप्रियेण **संगमः** निरोधलक्षणग्रन्थे "**गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनां यत् सुखं समभूत् तद् मे भगवान् किं विधास्यति**" (निरो.लक्ष.२) इति श्रीमदाचार्यैः

सर्वपुष्टिजीवानां कृते भगवतो निजभक्तेषु जन्मागमनावस्थानलीलाः साधननिरोधात्मना कीर्तिता तेन **संजातो** उच्छलितो **मनसि** इति. मनस्तु सकल - ज्ञानेन्द्रिय - कर्मेन्द्रिय - बुद्ध्यहंकारनियामकत्वेन सर्वोपलक्षणम्. यथा-चोक्तं "**त्रीणि आत्मने अकुरुत मनो वाचं प्राणम्. तानि आत्मने अकुरुत. अन्यत्रमना अभूवं न अदर्शयद्, अन्यत्रमना अभूवं न अश्रौषमिति मनसाहि एव पश्यति मनसा शृणोति. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येत् सर्वं मनएव**" (बृह.उप.१।५।३) इति. यो **महोत्सवः** सर्वविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपः फलात्मकनिरोधरूपः तस्य **ईक्षणतः** तत्तु श्रीमदाचार्यैः "**अक्षण्वतां फलम् इदं परं विदामः**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इत्यस्य सुबोधिन्यां उक्तं तथा "**भगवता सह संलापो दर्शनं मितिस्य च... इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा, यथा अन्धकारे नियता स्थितिः न अक्ष्णोः फलं भवेद् एवं मोक्षोऽपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि**" (सुबो.१०।१८।७) इति निरूपितं तथा **सर्वेन्द्रियतृप्तिः** तदितरौत्कण्ठ्यनिवृत्त्या तदेकपरतत्वरूपा **मनोरथाप्त्या** सकलबाह्याभ्यन्तःकरणेषु आस्वाद्यभगवत्स्वरूपानन्दस्य भोक्तृतया **मे** श्रीमद्वल्लभनन्दनस्य कृते **इह** लीलानुभावे **तर्पणं भूयात्** इतरविस्मारकतृप्तिरूपं भूयात्.

ननु इह तैत्तिरीयारण्यके "**पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्यज्ञो ब्रह्मयज्ञः इति**" (तैत्ति.आर.२।११।१) इत्येतेषु अवश्यकर्तव्यताकत्वेन श्रूयमाणयोः भूतयज्ञ - मनुष्यज्ञयोः निजाभिप्रेतप्रकारः कुतो न प्रार्थितः? किम् अपरित्यागार्हतया उत विस्मृत्या? तत्र न आद्यः, सर्वेषां सह एतयोरपि समानैव योगक्षेमार्हतेति. न द्वितीयः संनियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्ति - निवृत्तिनियमाद् इति चेद् न, उभयोरपि एतयोः याज्यौ लौकिकावेवेति लीलारसाभिनिवेशे तयोः अस्फूर्तेः साहजिकत्वादेव इति ज्ञातव्यम्.

अतः परम् प्रार्थनास्तोत्रम् उपसंहरन्तः आहुः :

इत्थं जीवनम् अस्तु क्षणमपि भवदंघ्रिविप्रयोगे तु ।।
मरणं भवताद् एवम्भावे शरणं त्वमेव भव ।।६।।

इत्थम् इत्यादि. **भवदंघ्रिविप्रयोगे** आत्मरामस्य कृष्णस्य आत्मरतिरूपया राधया वियोगे **तु** इतरावस्थासम्भावनाव्यावर्तकः **क्षणमपि** इति तु गोपीजनानां यथा भगवति स्नेहातिभरः **''त्वयि धृतासवः त्वां विचिन्वते... त्रुटिर्युगायते त्वाम् अपश्यताम्''** (भाग.पुरा.१०।३१।१-१५) इत्यत्र उद्गीतः तथा प्रभुचरणानामपि श्रीराधाकैंकर्ये तथाविधो भावो ध्वन्यते. **इत्थं जीवनम् अस्तु** सावग्रहो हि 'इत्थं'शब्दः इत्थमेव न पुनः अनित्थं जीवनं क्षणमपि कामये. अनित्थम्भावे तु **मरणमेव भवताद्**. ननु लोकस्थितौ तावद् एवंभावो न भवितुं शक्नोति इति चेत् तत्र आहुः **एवं भावे त्वमेव** श्रीराधैव **शरणं** इत्थम्भावजननसंरक्षणयोः नियामिका भव भूयाद् इति स्वस्मै आशीः.

इति श्रीमद्विट्ठलेशविरचिता स्वामिनीप्रार्थनाषट्पदी समाप्ता

इति श्रीस्वामिनीप्रार्थनाषट्पद्याः हि श्यामिका।
विवृतिः प्रार्थनाकर्तुः कृपया पूर्णतामगात् ।।

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण
विरचिता
श्यामिकाविवृतिः सम्पूर्णा



।। श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् ।।

यदैव श्रीराधे! रहसि मिलति त्वां मधुपतिः [१अ]
तदैवाकार्याऽहं निजचरणदास्ये निगदिता ।।
मुदा चन्द्रावल्या शशिमुखि! कृतार्थास्मि भवति
तथा सम्पन्ने मां स्मरसि यदि सम्प्रेषणविधौ ।।१।।

कदाचित् कालिन्द्यामहनि तरलापाङ्गरुचिरा
समाप्लुत्याकण्ठं किमपि परिधायाशुवसनम् ।।
स्मरेन् मां चेदुत्तारितवसनसङ्क्षालनविधौ
[२अ] कृतार्थाऽहं भूयान्निजचरणदासीति भवति ।।२।।

तमिस्रायामश्रावितचरणमंजीरनिनदा
कथञ्चित् संप्राप्ता प्रियतमनिकुञ्जं चरणयोः ।।
मुदा तल्पारोहे कमलमुखि! सम्मार्जनविधौ
कृतार्थैवाहं चेत् स्मरति भवती मां सकृदपि ।।३।।

विविधबन्धरतिश्रमसीकराकुल-
कपोलमुदीक्ष्य हरिं यदि ।।
स्मरसि मां व्यजनार्थमपि क्षणं
सुमुखि धन्यतमास्मि तदा ह्यहम् ।।४।।

यदि स्नानव्याजात् तरणितनयातीरमहनि
प्रयातुं प्राणेशोचितविविधवस्तूनि सुमुखि ।।
गृहीत्वा गुप्तानि स्मरसि परिधेयं स्ववसनम् [२आ]
ग्रहीतुं मां स्वामिन्यहमिह कृतार्थैव हि तदा ।।५।।

कुतूहलाभिनिवेशतः/(?कुतूहलैकशीलतः!) प्रियेण पाणिकर्षणाद्-
इतस्ततो विपाटितां स्वकञ्चुकीम् अतिप्रियाम्।।
प्रदातुम् उन्नताङ्गि मां सकृद्यदि स्मरस्यहो-
तदा मुदास्मि राधिके! कृतार्थतापदंगता।।६।।

चारुप्रसूनमयतल्पगता स्वनाथे
ताम्बूलचर्वितमुदारमुखाम्बुजस्थम्।।
दातुं स्थिते निजमुखाब्जगतं प्रदातुं
मां चेत् स्मरस्यनुचरीं क्व तदा नु मामि[३अ] ।।७।।

निकुञ्जे पुष्पालीरचितशयनात् केलिजनित
श्रमाम्भः सङ्क्रान्ताननकमलशोभाहृतमनाः।।
समुत्थायायान्ती सहजकृपया केलिदलितां
स्रजं दातुं राधे! स्मरसि यदि मां त्वं किमपरैः।।८।।

यदा चलसि मार्गता शयनतापि शेषे[४] मुदा
पदाम्बुजमलङ्करोष्यमलकुङ्कुमं त्वं तदा।।
मुहुः सुमुखि राधिके! किमधिकं नु[५] सम्प्रार्थये
सदा भवतु मे भवच्चरणपङ्कजारक्तता।।९।।

प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावेक्षणोद्यद्-
रसभरजवरासामन्दमोदाकुलानाम्।।
प्रतिपदतलरुग्भिर्गोपसीमन्तिनीनाम्-
अरुणतरहृदम्भोजन्मने मे नमोऽस्तु।।१०।।

यावन्ति पदपद्मानि भवतीनां हरिप्रियाः।
तावद्रूपः सदा दास्यं करवाणि तदा तदा॥११॥

गेहात्[७] निकुञ्जं निशि सङ्गतायाः प्रियेण
तल्पे विनिवेशितायाः॥
स्वकेशवृन्दैस्तवपादपङ्कजे[८] सम्मार्जयिष्यामि
मुदा कदा नु[९]॥१२॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं
श्रीस्वामिनीस्तोत्रं समाप्त

॥ श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् ॥
(श्रीहरिरायविरचितविवृत्युपेतम्)

स्वामिनीभावरूपैकदास्यभावपरायणा: ॥
विराजतां सदा मूर्ध्नि प्रभवो विट्ठलेश्वरा: ॥१॥

अथ अस्मत्प्रभुचरणा: श्रीमदनन्यपूर्वामुख्यस्वामिनीस्तोत्रं स्वस्य तत्सम्बन्धसिद्धये कर्तुम् अभीप्सवो अन्यसम्बन्धत्यागपूर्वकप्रभुसम्बन्धकृतिहेतुक-भाववत्तया प्रकृतिसाम्येन अन्यपूर्वामुख्यस्वामिनीसम्बन्धित्वेन स्वस्य तदाज्ञयैव एतद्दास्यार्थम् आकारणं सेवाविशेषोपयोगित्वाय [१] प्रार्थयित्वा दास्यं प्रार्थयितुं द्वादशाङ्गसार्थकत्वाय द्वादशभि: श्लोकै: प्रार्थयन्ते यदैव इति.

यदैव श्रीराधे! रहसि मिलति त्वां मधुपति: [१अ]
तदैवाकार्याऽहं निजचरणदास्ये निगदिता ॥
मुदा चन्द्रावल्या शशिमुखि! कृतार्थास्मि भवति
तथा सम्पन्ने मां स्मरसि यदि सम्प्रेषणविधौ ॥१॥

हे **श्रीराधे! यदैव त्वां मधुपति: मिलति तदैव चन्द्रावल्या निगदिता** सती **अहम् आकार्य** इति सम्बन्ध:. **यदा** इति दिवारात्रौ वा इति न कालनियम: तेन सेवामात्रमेव स्वामिनीसम्बन्धिस्वाभीष्टं न केवलम् अन्तरङ्गसेवैव इति निरूपितम्. एतेनैव प्रभुप्राप्तेरपि केवल तदिच्छामात्रहेतुकत्वेन कालाद्यनधीनत्वं च ज्ञापितम्. **'एव'**कारेण प्रभुमिलनाभावकालो व्यवच्छिन्न:. तत्सामयिकदास्यस्य स्वामिनीवियोगदु:खद-र्शनस्य दु:सहत्वात् तथानभीष्टत्वम् इति भाव:. ननु सत्यपि अन्यपूर्वामुख्यसम्बन्धित्वे पुन: एतत्सम्बन्धित्वप्रार्थनं किमर्थम् इति आशङ्क्य आहु: **श्रीराधे!** इति. श्रीणाम् आविष्टलक्ष्मीरूपाणां सर्वासामेव स्वामिनीनां सिद्धिरूपेति सर्वोपास्यत्वात् तद्दास्यप्रार्थनम् इति भाव:. ननु बह्वीषु सखीषु विद्यमानासु तत्र किम् आधिक्यं स्वस्य भविष्यति? इति आशङ्क्य आहु:

रहसि इति एकान्ते इति अर्थः. एतेन तदानीं सख्यन्तराभावेन स्वस्य तत्र स्थितौ अत्यन्तरङ्गत्वसिद्धिः भविष्यतीति तथा इति भावः. ननु त्वं यदा प्रियेण मिलसि तदा इति अनुक्त्वा भगवत्कर्तृकमिलनोक्तेः आशयः कः ? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **त्वाम्** इति मानाद्यपनोदनाय उक्तम्. उत्कंठाभरेण विलम्बासहिष्णुतया स्वयमेव आगत्य प्रियः प्रणिपाताद्यर्थम् अतिव्याकुलः सखीभ्यो अनभिधाय एकलएव स्वामिनीं मिलति तादृङ्मिलनम् अत्र उच्यते. तथाच तदा सख्यन्तरासत्त्वेन स्वस्यैव आकारण - समाधानादौ माध्यस्थे च उपयोगो भविष्यति इति भावः. ननु एवं दासीषु प्रभुः कथं करोति ? इति आशङ्क्य आहुः **मधुपतिः** इति. वसन्ताधिपतित्वेन भगवतः शृंगाररसात्मकत्वम् उक्तम्. तेन स्वस्वरूपधर्मनिर्वाहाय परमात्मनः प्रभोः तथाकरणम् उचितम् इति भावः. अतः परं मदाकारणे संकोचः कोऽपि न विधेय इति आशयेन आहुः **तदैव** इति. अत्रापि **'एव'**कारेण विलम्बो न विधेय इति निरूपितम्. एवं समयम् आकारणस्य अभिधाय तत्प्रकारम् आहुः **चन्द्रावल्या निगदिता** इति. **चन्द्रावल्या** अन्यपूर्वामुख्यस्वा-मिन्या **निगदिता** कथिता इति अर्थः. एतेन स्वस्य तत्सम्बन्धित्वेन तद्वंचनेन तदज्ञाने तद्वैमनस्यं स्यादिति यथा तत्सम्बन्धित्वमपि नापयाति भवत्सम्बन्धत्वं च सिद्ध्यति तथा उपायः कर्तव्यइति तद्द्वारैव मदाकारणं विधेयम् इति भावो बोधितः. ननु तिष्ठतु तत्सम्बन्धित्वमेव अत्र आकारणे किं प्रयोजनम् ? इति आशङ्क्य आहुः **निजचरणदास्य** इति. भवच्चरणसेवापि स्वतन्त्रपुमर्थरूपा इति. चरणयोः निकुञ्जगमनागमनाभ्यां विविधबन्धैश्च श्रमे तदपनोदनाय तत्संवाहनादिरूपदास्यसिद्ध्यर्थम् आकरणप्रार्थना इति अर्थः. ननु भगवत्सहित-स्वामिनीचरणदास्यं कुतो न प्रार्थितम् ? इति आशङ्क्य आहुः **निज** इति. एतेन कदाचिद् व्याजेन स्वसाम्यमेव प्रार्थयन्तइति स्वामिनी मनसि आगतौ तद्वैमनस्यं स्यादिति भिया केवलस्वामिनीचरणसेवैव प्रार्थिता इति भावः. ननु तत्सम्बन्धिन्या भवत्याः कथम् अस्मत्सम्बन्धित्वं भविष्यति ? इति आशङ्क्य आहुः **निगदिता** इति. भवत्याः सेवावसरम् अवेक्ष्य सेवार्थं तयैव आकारणीयत्वेन **निगदिता** नितरां मनःपूर्वकं व्यक्तं स्पष्टाक्षरैः **गदिता** नतु मन्मनोरथवाक्यकथनेन भवत्या कथिता इति अर्थः. एतेन

तत्सम्बन्धित्वेन स्वस्य किञ्चित् तद्भयम् अतः उभयसम्बन्धित्वनिर्वाहोपायकृतिः विधेया इति निरूपितम्. ननु एवम् उक्तौ आकारणं निर्बन्धेन भवेद् इत्यतः आहुः **मुदा** इति. निजप्रसन्नतयैव आकारणं कार्यं न मत्प्रार्थनया इति अर्थः. एतेन दास्येऽपि तत्तोषएव फलम् इति भावो बोधितः. एवम् आकारणेन चरणदास्यं प्रार्थयित्वा तत्रापि पर्यवसितं फलं प्रार्थयितुं तद्दुर्लभत्वमपि आहुः **यदि सम्प्रेषणविधौ** इति. **यदि** इत्यनेन अतिदुर्लभत्वं द्योतितम्. **सम्प्रेषणं** सम्यक् प्रसन्नतया **प्रेषणं तद्विधौ** इति अर्थः. तेन उभयोः एकत्र स्थितौ लीलायां तदुपयोगिताम्बूलतूलोपधानव्यजनाद्यानयनार्थं तथा इति भावो बोध्यः. अथवा, कदाचित् प्रियस्य अन्यत्रगतो ततो तदाकारणाय किञ्चित् कथनाय च भगवन्निकटगतौ स्वसहायत्वेन मार्गप्रदर्शनाद्यर्थं सार्थनयने सति स्वामिन्या यत्प्रियान्तिकप्रेषणं तद् विधाय इति अर्थः. एतेन स्वामिन्याः प्रियस्य च सन्तोषसाधकत्वेन दास्येऽपि एतन्मुख्यं फलम् इति बोधितम्. ननु सम्प्रेषणे सखीसहग्रसत्त्वेन तत्र स्मृतौ को विशेषः? इति चेत् तत्र आहुः **तथा सम्पन्ने** इति. **तथा** एकान्तमिलनप्रकारेण **सम्पन्ने** सम्प्राप्त इति अर्थः. एतेन तत्र अन्याभावेन स्वमात्रस्थितौ सकलकार्योपयोगित्वेन अन्तरंगतमत्वं सेत्स्यति इति भावः. ननु पूर्वम् आकारणम् उक्त्वा अत्र स्मरणोक्तेः कः अभिप्रायः? इति चेत् तत्र आहुः **स्मरसि** इति. सेवार्थम् आज्ञैव हेतुः अन्यथा अन्यथाकरणसम्भवे अपराधः स्यात्. अतएव उक्तं "**सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा**" (नवरत्नम्.७) इति. अभिप्रायपरिज्ञानं तु अतिसेवायां कृपाविशेषेण भवतीति पूर्वम् आकारणमेव प्रार्थितम् ततो अभिप्रायपरिज्ञाने स्मरणमात्रेणैव सेवासम्भवइति तथोक्तिः इति भावः. ननु भगवत्सम्बन्धाभिलाषः केवल एतद्दास्यमात्रेण कथं पूर्यतइति तदभावे कथं कृतार्थता? इति आशङ्क्य आहुः **कृतार्थास्मि** इति. **कृतः** पूर्णः एतावतैव सर्वोऽपि **अर्थः** पुरोषार्थो यस्या इति अर्थः. एतेन भगवत्सम्बन्धः केवलो अन्येषां फलत्वेन अभिलषितो नतु स्वामिनीचरणनलिनयुगलदासिकानाम् अस्माकम् इति ज्ञापितम्. स्वस्य अनन्यतां दास्येऽपि बोधयितुम् आहुः **भवति** इति. एतेन भगवतोऽपि तथाकार्यार्थिं स्मरणे न अस्माकं भवदस्मरणे तथा तोषविशेषो भवत्सम्बन्धित्वाद् इति बोधितम्. ननु एवं प्रार्थनेऽपि सिद्धौ किं साधनम्

इति चेत् तत्र आहुः **शशिमुखि!** इति. चन्द्रसदृशवदनवत्त्वेन सकलतापहारकत्वस्य सहजधर्मत्वात् किरणैरिव कृपाकटाक्षैः अस्माकं सखीनां/दासीनां[२] तापं हरिष्यतीति तदीयः सहजधर्मएव साधनम् इति अर्थः. एतेन अस्य फलस्य जीवकृतसाधनासाध्यत्वं प्रदर्शितम्.

एवं दास्यार्थम् आकारणं प्रार्थयित्वा तत्रापि पर्यवसितफलम् अभिधाय मनोरथरूपेण अतःपरम् एकादशश्लोकैः एकादशेन्द्रियसार्थकत्वाय दास्यमेव प्रार्थनारूपेण विवृण्वन्ति **कदाचिद्** इति.

कदाचित् कालिन्द्यामहनि तरलापाङ्गरुचिरा
समाप्लुत्याकण्ठं किमपि परिधायाशुवसनम्॥
स्मरेन् मां चेदुत्तारितवसनसङ्क्षालनविधौ
[२अ] **कृतार्थाऽहं भूयान्निजचरणदासीति भवति॥२॥**

यदा तत्रैव प्रियागमनसंकेतः तदा इति अर्थः. यद्वा, यदा मानभावोदितकोपवशेन प्रियवियोगेन वा परितापाधिक्येन स्थातुम् अशक्तिः तदा इति अर्थः. अथवा, यदा मानभावोत्तरं पश्चात्तापो वृथैव अयं विहितः तदा, पूर्वमपि कालिन्दीतीरएव प्रियप्राप्तिः अभूद् अधुनापि भविष्यतीति धिया स्नानार्थ तत्र गमनम् इति अर्थः. अतएव नद्यन्तरम् अनभिधाय कालिन्दीमेव आहुः **कालिन्द्याम्** इति. साहि प्रियसरूपा तत्सनाम्नी सर्वथा तदैक्यं वा प्राप्ता लीलाशताधिकरणरूपा क्रीडाविशेषजनिता श्रमखेदकणाम्भःसम्भृता **कलिं** दोषं कलहं वा प्रियेण सह **द्यति** खण्डयति तत्सम्बन्धिनीत्वेन मानादिनिखिलदोषनिवर्तकत्वेन तत्र स्नाने तापनिवृत्तिः वियोगवियोगो मानादिदोषसमूहनिवृत्तिः प्रियप्रादुर्भावो भविष्यति इति भावेन तत्र स्नानार्थगमनम् इति भावः. रात्रौ व्याजेन स्नानाद्यर्थं कालिन्द्यां गमनं न सम्भवतीति आहुः **अहनि** इति. दिवाव्याजानन्त्यसम्भवाद् इति भावः. यद्वा, रात्रौ स्वप्नादिष्वपि प्रियसङ्गेन किञ्चित् स्वास्थ्यसम्पत्त्या कालनिर्वाहो दिवातु जाग्रद्दशायां वियोगाधिक्येन स्थातुम् अशक्तिरिति तथा इति भावः. ननु

एवं तापमानादिदोषनिवृत्त्यर्थं कालिन्दीस्नाने स्वास्थ्येन भगवदाविर्भावहेत्वभावात् कथम् आविर्भविष्यति प्रभुः? इति आशङ्कायाम् आहुः **तरलापाङ्गरुचिरा** इति. **तरला** इतस्ततो भगवदागमनावलोकनायां चञ्चला ये **अपाङ्गाः** कटाक्षाः तैः अत्यन्तं **रुचिरा** शोभासहिता इति अर्थः. एतेन इतस्ततो भगवतएव प्रादुर्भावभावनाद् रसभावनावलोकनमिति न मनसः स्वास्थ्यलेशोऽपि इति भावः. अतएव उक्तं गीतगोविन्दे जयदेवेन "**पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्**" (गीत.गो.६।१) इति. ननु एवम् अस्वास्थ्येन मनसः कथं स्नानस्फूर्तिः? इति चेत् तत्र आहुः **समाप्लुत्य** इति. न इदं स्नानं विधिना क्रीडेच्छाया वा किन्तु प्रियभावनया विरहपरितापोदये स्थातुम् अशक्त्या कालिन्दीं भगवत्स्वरूपां विभाव्य तत्र निजाङ्गसङ्गं स्वतः सम्पादयन्ती तथा करोति इति अर्थः. अतएव सर्वाङ्गसम्बन्धार्थं सम्यग् आप्लवनम् उक्तम् इति भावः. यद्वा, भगवदागमनम् अवलोकयन्ती तद् दृष्ट्वा विलम्बेन किञ्चित् तया च निजाङ्गम् आच्छादयन्ती सर्वतः इतरावलोकनाभावाय यमुनां सखीमिव मत्वा तदुत्सङ्गोपवेशनमिव तद्वसनाच्छादनेन करोतीति तथा अर्थः. एतेन अस्वास्थ्येऽपि प्रियसम्बन्धभावना प्रचुरा इति सूचितम्. ननु एवम् आच्छादने कदाचिद् भगवानपि आगत्य अनवलोक्य परावृत्त्य गमिष्यति इति आशङ्क्य आहुः **आकण्ठम्** इति. कण्ठपर्यन्तम् इति अर्थः. एतेन नलिनीव सूर्योदयावलोकनम् उपासिकेव तदुपस्थानम् इदं स्नानं करोति इति सूचितम्. अतएव भक्तेः अनाच्छादनम्. यद्दर्शनेन क्वचिदपि गतो भगवान् तद्वशीभूतः समायातीति भावेन मुखारविन्दस्य उद्वारि स्थापनम् इति भावः. एवं कृते भावात्मनो भगवतः समागमनभावनया ततो बहिरागतिः इति आहुः **परिधाय आशुवसनम्** इति. पूर्वं हि वियोगे सति सूक्ष्मसितवसनमेव परिहितम् आसीत् तत्साहित्येनैव नीरप्रवेशश्च अधुना प्रियम् आगतं विभाव्य नवीननीवीभूषणादिकं परिधेयमिति ततो निर्गत्य पूर्ववसनम् उत्तार्य आर्द्रताभावेऽपि शृंगारार्थं नूतननीवीं परिधाय प्रेष्ठसङ्गमाय धृतकवचेव सङ्ग्रामार्थं सज्जीभूता इति अर्थः. एतेन भगवदर्थमेव एतासां सकलम् इति निरूपितम्. तत्रापि प्रियं पश्यन्ति त्रपया परिदधाति इति बोधयितुम् आहुः **आशु** इति शीघ्रम् इति अर्थः. तथाच यथा भगवानपि सूक्ष्मतमांशुकप्रतिबिम्बितस्वामिनीसकलाङ्गम्

अवलोकयितुं दृष्टिम् न प्रसारयति ततः पूर्वम् अतिलाघवेन नवीननीवीपरिधानम् इति भावः. ननु आर्द्रताभावे पूर्ववसनमेव कुतो न स्थापितम्? इति आशङ्क्य आहुः **किमपि** इति अनिर्वचनीयम् अतिसुन्दरम् इति अर्थः. यद्वा, भगवद्भावं ज्ञात्वा यादृशं प्रियमनोगतं तादृशमेव परिहितवती इति सर्वथा अन्येषां मनोवागविषयत्वेन अनिर्वचनीयम् इति अर्थ. अथवा, प्रियसङ्गव्याकुलतया यदेव आगतम् उत्तरीयादिकं करे तदेव त्वरया परिहितवतीति तथा इति अर्थः. एवं दास्यसमयं निरूप्य प्राथमिक दास्यं वस्त्रप्रक्षालनरूपं प्रार्थयितुं स्वस्मरणं तद्दानाय प्रार्थयन्ते **स्मरेद्** इति. निकटस्थितामपि तद्दास्यदानाय मनसि समानयेद् अन्यथा अनिङ्गितकरणे न सेवा सिद्धयेद् इति स्मरणप्रार्थनम् इति अर्थः. दास्यस्वरूपं विशदयन्ति **उत्तारितवसनसङ्क्षालनविधौ** इति. **उत्तारितं** निजाङ्गसम्बन्धात् प्रच्यावितं यत् **पूर्ववसनं** वियोगावसरपारिधेयं तापात्मकं तस्य अतएव **सम्यक् क्षालनं** यथा तथा परिधानेन प्रियान्तिकगतौ न तत्र तत्तापसम्बन्धो भवति तस्य **विधौ** विधाने करणे इति अर्थः. **चेद्** इत्यनेन एतद्दास्यस्य अन्तरङ्गतमसखीकर्तव्यत्वेन अतिदुर्लभत्वं सूचितम्. **माम्** इति एकवचनेन अन्यस्या न दास्ये मदीये विभागो विधेयः इति ज्ञापितम्. इदमेव अस्माकं मुख्यं फलं न भगवत्सम्बन्धोऽपि इति आशयेन आहुः **कृतार्थ** इति. **कृताः** पूर्णाः अथवा भगवद्दास्येनैव **कृताः** सम्पादिताः सर्वेऽपि **अर्थाः** पुरुषार्थाः भक्तिपञ्चमाः यस्या इति अर्थः. एतेन एतद्दास्यमेव स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपं फलम् इति बोधितम्. ननु अनधिकारे कथम् एतत् सिद्धयति? इति आशङ्क्य आहुः **अहम्** इति. एतेन स्वस्वरूपमेव तत्फलयोग्यतावत्त्वेन निरूपितम्. तथाच भवदनुग्रहात् प्रसादरूपशक्तिप्रवेशेन वा मयि अधिकारः सिद्धः फलोन्मुखप्रसादमात्रमेव अपेक्ष्यते इति भावः. ननु फलान्तरं प्रभुसम्बन्धादिरूपं कुतो न प्रार्थितम्? इति आशङ्क्य आहुः **भूयाद्** इति. आशीर्वादार्थक - लिङ्लकार - प्रयोगेण एतदतिरिक्ते अस्मद् दृष्ट्या न फलत्वबोधः इति भावः. ननु एतादृशफलरूपदास्यार्थकभवत्स्मरणे किं साधनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **निजचरणदासी** इति. **निजौ** त्वदीयौ यौ **चरणौ** संयोग - विप्रयोगभेदेन रसात्मकशुद्धपुष्टिभक्तिमार्गरूपौ तयोः **दासी** तत्र दासीत्वेन भवदङ्गीकृतेति

त्वदङ्गीकारएव साधनम् इति अर्थ:. स्मरणमपि स्वकृपयैव विधेयं न भगवत्प्रेरणयाऽपि इति आशयेन आहु: **भवति** इतिल, केवला भवत्येव इति अर्थ:. एतेन केवलं त्वदीयत्वमेव अस्माकम् आकाङ्क्षाविषयो न अन्याकाङ्क्षा इति ज्ञापितम्.

एवं बहिरङ्गं लोकदृष्ट्या वस्त्रप्रक्षालनरूपं दास्यं प्रार्थयित्वा ततः किञ्चिदन्तरंगं समयविशेषे चरणनलिनसंमार्जनरूपं प्रार्थयन्ते.

तमिस्रायामश्रावितचरणमंजीरनिनदा
कथञ्चित् संप्राप्ता प्रियतमनिकुञ्जं चरणयो:।।
मुदा तल्पारोहे कमलमुखि! सम्मार्जनविधौ
कृतार्थैवाहं चेत् स्मरति भवती मां सकृदपि।।३।।

तमिस्रायाम् इति. **तमिस्रायां** तमोमय्यां रात्रौ यथा तद्गमनं न कस्याऽपि ज्ञानविषयो भवति तेन तमिस्राभिसारिकात्वम्. गुप्ततया गमनरमणादौ रसपोषश्च सूचित:. अतएव तादृशावसरे बहुसखीसाहित्याभावेन स्वमात्रसहभाव-प्रार्थनमपि द्योतितम्. यद्वा, इयं हि रात्रि: प्रभुरमणार्था तत्र च सदा अलौकिकचन्द्रसाहित्येन प्रकाशयुक्तत्वात् तमिस्रात्वं बाधितम् इति आशङ्क्य आहु: **तमिस्रायाम्** इति. रात्रयो हि बह्व्य: परिगृहीता रमणार्था: प्रकारभेदेन रमणस्य अनन्तभेदवत्त्वात् चन्द्रस्य च भगवन्मनोरूपत्वाद् यत्र रमणे यथा मन: तथा भवतीति तमिस्राभिसारिकात्वसिद्धये काञ्चिद् रात्रिं न प्रकाशयतीति तामेव मनसि कृत्वा उक्तम्. **तमिस्रायाम्** इति अतएव एकवचनम् तमिस्राभिसारिकात्वस्य स्वसखीभ्योऽपि अतिगोपने रसविशेषपोषहेतुत्वेन कादाचित्कत्वात्. ननु कथम् एवम् अन्धकाररात्रावपि गमने तदज्ञानम् अन्येषां [३] चाक्षुषप्रत्यक्षहेत्वभावेऽपि चरणनिनदस्य श्रावणप्रत्यक्षहेतो: विद्यमानत्वाद् इति आशङ्क्य आहु: **अश्रावितचरणयुगमञ्जीरनिनद** इति. यदा भगवत्समीपगम-नाय मार्गे पदं धारयति तदा अन्येषां नूपुरस्वरश्रवणाभावाय पदस्य पूर्वभागेन भूमिं सम्मर्द्य शनै: उत्तरभागं स्थापयति तथा सति न ध्वनिश्रुति: भवति

इति. अश्रावितश्चरणयुगस्य **मञ्जीरनिनदो** यया इति अर्थः. ननु एवं निकुञ्जप्रदेशपर्यन्तं पदधारणे श्रमसम्भवेन कथं तथाकरणम्? इति आशङ्क्य आहुः **प्रियतमनिकुञ्जम्** इति. **प्रियतमस्य** अत्यन्तं प्रीतिविषयस्य भगवतो **निकुञ्जं** निगूढलीलस्थानम् इति अर्थः. यद्वा, **प्रियतमं** भगवतो अतिप्रीतिविषयं सततस्वामिनीसम्बन्धहेतुत्वेन निरन्तरं स्थितिः स्थानत्वाद् इति अर्थः. यद्वा, **प्रियतमं** स्वामिन्याएव अतिप्रीतिविषयम् अतिनिगूढ-निबिड-लताभवनादिभूयस्त्वाद् इति अर्थः. अतएव श्रमस्तु भूयानेव जात इति सूचनार्थम् आहुः **कथञ्चिद्** इति महतां प्रयासेन इति अर्थः. एतेन मध्ये-मध्ये उपविश्यापि तावत्पर्यन्तं गमनम् इति अशक्यमपि प्रभ्वर्थे सम्पादयति इति शक्यसम्पादने कः सन्देहः? इति भावः. एवं प्रकारेण अत्यादरपूर्वकं गमने तत्र अप्रत्यूहं प्राप्तिः भवत्येव इति आशयेन आहुः **सम्प्राप्त** इति. सम्यक् स्वाभिलषितप्रकारेण **प्राप्ते** इति अर्थः. एतेन स्वार्थं तल्पादिकम् आस्तीर्य विविधकुसुमैः विरचय्य च स्वभावनया तल्पे दृष्टिं प्रसारयन् कदाचिद् आगतिं प्रतीक्ष्यमाणः पक्ष्यादिसञ्चारेपि स चकितनयनः प्रभुप्राप्तः इति सूचितम्. अतएव हृदि आनन्दोऽपि प्रादुर्भूतः इति बोधार्थम् आहुः **मुदा** इति. यद्वा, आगमनमात्रेणैव अतिव्याकुलः क्षणविलम्बासहिष्णुः प्रियएव सकरग्रहं तल्पम् आरोहितवान् इति हृदि महानेव आनन्दो अभूद् इति बोधाय **मुदा** इति उक्तम्. अथवा तथाविधदशापन्नप्रियसन्दर्शनमात्रादेव मार्गजनितश्रमः सर्वोऽपि विस्मृतः इति ज्ञापनार्थं **मुदा** इति अभिहितम्. अन्यद् वा सर्वपरित्यागेन स्वमात्रपरः एकाकी प्रियः प्राप्तइति तथा उक्तम्. एवं प्राप्तप्रियान्तिक रभसवशेन तल्पम् आरोहन्तीति प्रियपरिरम्भप्रत्यूहमाना यदा शीघ्रम् आगमनमार्गजरजः सम्मार्जनम् इच्छसि तदर्थं **चेत् मां स्मरति भवती** तदा **कृतार्थैव** अत्यन्तरङ्गतमदास्यप्राप्त्या अतिदुर्लभचरणरेणुसम्बन्धेन च अहं पूर्णार्थैव जाता इति अर्थः. दासीनाम् अतःपरम् न अन्यद् अभिलषितं स्वतः इति बोधनाय **एवकारः**. ननु समयान्तरीय - तत्सम्मार्जनमेव कुतो न अभिलष्यते? इति चेत् तत्र आहुः **तल्पारोह** इति. तदानीं प्रियस्यापि तदभिलषितमिति तत्करणे प्रियसहितस्वामिनीदास्यम् अपेक्षितं सिद्ध्यतीति तथा इति भावः. अतः **एवकारेण** अन्यसामयिक तत्सम्मार्जनेऽपि

एतत्सामयिक तदभिलाषस्थित्या न कृतार्थता इति सूचितम्. ननु एवम्भूत-दास्योपयोगित्वेन भवत्स्मृतौ किं साधनम्? इति चेत् तत्र आहुः **कमलमुखि!** इति. भवत्या मुखं हि कमलं तद् दृष्टं भावितं वा तापहारकम् आनन्ददायकम् च. तापश्च अस्माकं दास्यसिद्धिहेतुक सार्वदिकः तं यदि भवदास्यकमलं न निवारयेत् तदा स धर्मो विद्यमानः तत्र अकिञ्चित्करएव स्यादिति अस्मत्तापो भवद्दास्यधर्मो वा साधनम् इति अर्थः. यद्वा, स्वामिनीमुखारविन्दस्य तदानींतनाम् अनिर्वचनीयां स्वमात्रदृग्विषयां प्रफुल्लताम् अवलोक्य सम्बोधयन्ति **कमलमुखि!** इति. अथवा स्वामिनीमुखारविन्ददर्शनमात्रेणैव प्रियस्य वियोगसन्तापभरप्रशमम् अवेक्ष्य तथासम्बोधनम् इति अर्थः. ननु वसनादिना चरणमार्जनं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **सम्मार्जन** इति. सम्यक् **मार्जनं** हि न जलसम्बन्धमन्तरा भवतीति हर्षाश्रुसजलैः पक्ष्मभिरेव तत्सम्मार्जनम् इति अर्थः. अतएव '**सम्**'इति उपसर्गः. ननु कथम् आज्ञाभावे अभिप्रायपरिज्ञानाभावेऽपि धाष्ट्र्यचर्चेन तत्कर्तुं शक्यत? इति आशङ्क्य आहुः **विधौ** इति. **विधिः** आज्ञा प्रेरणं वा तदर्थं तथा इति अर्थः. क्रियायुगलसार्थकत्वाय आहुः **चरणयोः** इति. हस्तयोः स्थापने क्रियाद्वयस्य, दृशोः स्थापने ज्ञानयुगमस्य च कृतार्थतासम्पत्ति सम्भवाद् इति भावः. पूर्ववद् योग्यताभावम् आशङ्क्य आहुः **अहम्** इति. एतेन न अन्येषाम् एतदभिलाषोत्पत्तिः न वा कृतार्थत्वभावना एतन्मात्रप्राप्त्येति सूचितम्. **चेद्** इत्यनेन प्रियसम्बन्धिमहारसासक्तचित्तायाः तत्समये अस्मत्स्मरणस्य अतिदुर्लभत्वम् उक्तम्. ननु दौर्लभ्ये प्रार्थनं व्यर्थम् इति आशङ्क्य आहुः **सकृदपि** इति. बहुवारं तु एतद्दुर्लभमेव कदाचिद् एकवारमपि स्मरणसिद्धौ अखिलजन्मसार्थकत्वं सम्पत्तिरिति तथा इति भावः. ननु सकृदपि तत्सिद्धौ किं साधनम् इति चेत् तत्र आहुः **भवति** इति. अस्मत् साधनैः अप्राप्यमेव यदि स्वप्रमेयबलेन भवत्येव तथा करोषि तदा तत्सम्पत्तिः इति भावः.

एवं चरणसम्मार्जनं रूपं दास्यं प्रार्थयित्वा ततोऽपि अन्तरंगं दास्यं प्रार्थयितुं समयविशेषे व्यजनार्थं स्वस्मरणं प्रार्थयन्ते **विविध** इति.

विविधबन्धरतिश्रमसीकराकुल-
कपोलमुदीक्ष्य हरिं यदि॥
स्मरसि मां व्यजनार्थमपि क्षणं
सुमुखि धन्यतमास्मि तदा ह्यहम्॥४॥

रमणं हि रसशास्त्रसार्थकत्वाय तदुक्तेन प्रकारेण तत्र च विविधाएव प्रकाराः बन्धानाम् अभिहिता मीनकूर्मादयः तैः सर्वैरेव रतौ रमणे क्रियमाणे श्रमोऽपि भवति स्वामिनीप्राधान्यसिद्धयर्थं मुखे मुक्तामण्डनशोभाविशेषोदयार्थं च श्रमजलकणसमूहसमाकुलता च कपोलयोः भवतीति तथाभूतं प्रियम् उदीक्ष्य इति अर्थः. ननु कथम् अत्यानन्दसमुद्रनिमग्ना प्रियपरिश्रमं ज्ञातवती? इति आशङ्क्य आहुः **उदीक्ष्य** इति. **उद्** उर्ध्वम् **ईक्ष्य** अवलोक्य इति अर्थः. तथाच पूर्वं निमीलितनयनान्तः प्रादुर्भूतम् आनन्दनिधिं प्रियम् अनुभवन्ती स्थिता तत्रैव च श्रमभावनम् अनुभूय संवादार्थं प्रसारितनयना बहिः भगवन्मुखं वीक्ष्य निश्चित्य तदपनोदनार्थं श्रमजलविनिवारकपवनाभिव्यञ्जकव्यजनापेक्षायां तदान्दोलनार्थं स्मृतिसम्भव इति तथा इति अर्थः. ननु स्वामिन्याः स्वसुखानुभवप्रतिबन्धकप्रियपरिश्रमभावना किमभिप्राया? इति आशङ्क्य आहुः **हरिम्** इति. स हि स्वदुःखहर्ता तदर्थमेव च सर्वथा यतते तत्परिश्रमदर्शनेऽपि उपेक्षायां स्वार्थपरत्वम् अकृतज्ञत्वं च स्वामिन्याः सिद्धयेद् इति भावः. स समयः सर्वथा अन्यदर्शनायोग्यइति तद्दुर्लभतां मनसिकृत्य आहुः **यदि स्मरसि** इति. ननु तत्समयेऽपि वेण्यादिप्रतिबन्धकनिराकृत्यादिकं बह्वेव दास्यम् अस्तीति तत् कुतो न प्रार्थितम् इति चेत् तत्र आहुः **व्यजनार्थमपि** इति. अन्यत् त्वद्दर्शनं विना दास्यं न सम्पद्यते तत्तु अतिकृपाधीनं व्यजनन्तु भोजनसमयइव मुद्रितनयनात्वेऽपि सम्भवतीति तत्प्रार्थनम् इति भावः. **माम्** इत्यनेन दर्शनयोग्यताऽपि सूचिता, स्वस्य तदेकसम्बन्धित्वाद् इति भावः. ननु भगवच्छ्रमापनोदकव्यजनार्थतया स्मृतौ को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः सम्बोधनेन **सुमुखि!** इति. सुष्ठु समीचीनं मुखं यस्याः भगवद्दास्यएव मुखं सर्वात्मभाववत्त्वात् न स्वसुखार्थइति तदर्थं दासीस्मरणसम्भावना इति भावः. यद्वा, **सुमुखि!** इति अन्यस्याः तत्समये स्थित्वा दर्शनेऽपि तदुपरि

कृपैव उदेति न ईर्ष्याकोपादिसम्भावना इति भावः. ननु एवं व्यजनार्थतया भवत्स्मृतावपि साक्षात् प्रभुसम्बन्धाभावे किं फलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **धन्यतम** इति. यदा **मां स्मरसि** तदा अहम् अतिशयेन धन्या. हे स्वामिनी! त्वन्तु धन्याधनं सर्वेषां कृत्स्नमर्हसि अहन्तु दासीत्वेन कृत्स्नधनमपि भवतीमर्हामि इति अतिशयेन तथा इति अर्थः. एतेन स्वामिनीसेवायाः प्रभुसेवातोऽपि आधिक्यं सूचितं प्रभुसेवायाअपि तद् अतिप्रियसेवात्वेन तत्तोषहेतुत्वेनैव कर्तव्यत्वं फलस्य स्वामिन्यनुग्रहसाध्यत्वाद् इति भावः. **अस्मि** इति वर्तमानप्रयोगेण एतदभिलाषोऽपि तत्प्राप्तिसमकक्षइति तेनापि तथैव अस्मि इति अर्थः इति भावः. ननु एवम् अभिलाषमात्रेण **धन्यतमात्वे** व्यर्थं किमिति तत्प्रार्थनम् इति शङ्कायाम् आहुः **क्षणम्** इति. न मम सर्वदा स्मरणापेक्षा अपितु स्वाभिलाषरूपस्मृतिसार्थकत्वाय सकृत्स्मरणम् अपेक्ष्यतइति तथाप्रार्थनम् इति भावः. अतएव श्रीभागवते **''यदनुस्मर्यते काले स्वबुध्याभद्ररन्धन''** (भाग.पुरा.४।३०।२८) इत्यत्र भगवत्गाम्येव स्वकृतस्मरणादिकं स्वाकाङ्क्षापूरकत्वेन सार्थकम् इति निर्णीतम्. अन्यत्राऽपि **''मेघगभीरयावाचा''** (भाग.पुरा.१०।१३।१२) इत्यत्र तथैव.

एवं व्यजनकृतिरूपं दास्यं संप्रार्थ्य ततोऽपि अन्तरङ्गं निरावृतयुगलस्वरूपदर्शनकारणं दास्यं प्रार्थयितुं स्वपरिधेयवसनग्रहणार्थतया स्मरणं प्रार्थयन्ते **यदि**इति.

यदि स्नानव्याजात् तरणितनयातीरमहनि
प्रयातुं प्राणेशोचितविविधवस्तूनि सुमुखि।।
गृहीत्वा गुप्तानि स्मरसि परिधेयं स्ववसनम्[२आ]
ग्रहीतुं मां स्वामिन्यहमिह कृतार्थैव हि तदा।।५।।

दिवा प्रिये गोचारणार्थं गतवति गुणगानादिनापि निर्वाहाभावे तद्विप्रयोगम् असहमाना यदि समुत्थाय-यमुनातीरे प्रियस्थितिं मत्वा अथवा गवां पानीयपानाद्यर्थम् आगतिं वा प्रियस्य सम्भाव्य-भवनतः प्रचलति तदा

इति अर्थः. ननु दिवा यमुनातीरगमनं कथं सम्भवति? अन्यावबोधसम्भवाद् इति आशङ्क्य अहुः **स्नानव्याजाद्** इति. अतिवियोगतापेन स्थातुम् अशक्ता अन्येषु घर्मभरम् उद्वाह्य स्नानार्थं व्याजात् पूर्वोक्तव्याजं प्राप्येति तथा इति अर्थः. एतेन सर्वासाम् एकार्थसामानाधिकरण्येऽपि व्याजेन अतिगुप्ततया रसपोषो भवतीति तदर्थम् एवं कृतिः इति बोधितम्. ननु यमुनातीरएव भगवान् अस्ति इति निश्चयं कथं कृतवती निकुञ्जादिष्वपि भगवतो विद्यमानत्वादिति आशङ्क्य आहुः **तरणितनयातीरम्** इति. साहि सूर्यपूत्री अनन्या यतो भगवदर्थं तपश्चकृतः प्रियः तत्रैव स्थितो भविष्यति इति स्थितःस्थलनिश्चयः इति अर्थः. एतेन सर्व भावाधीनैव भगवत्स्थितिः इति बोधितम्. ननु स्नानं कृतवती इति आशंक्य आहुः तीरम् इति अन्यथा प्रकारान्तरेण प्रभुसम्बन्धोऽपि नापेक्षित इति तथा स्नानस्य तु व्याजमात्रं गमनन्तु तत्तीरे भगवत्स्थितिं भावेन निश्चित्य तत्सङ्गमाशया इति अर्थः. ननु तर्हि व्याजान्तरं वनकार्यरूपं कुतो न कृतम्? इति आशङ्क्य आहुः **अहनि** इति. दिवा सर्वत्र सर्वेषां गमनंसम्भवो विविधकार्यार्थतयेति न व्याजसिद्धिः इति स्नानस्थलेतु स्त्रीणाम् अन्यागमनासम्भवः संकोचेनेति निष्प्रत्यूहं तत्सिद्धिः इति भावः. ननु व्याजएव अयम् इति कथं निश्चीयते कदाचित् याथार्थ्यसम्भवाद् इति आशङ्क्य आहुः **प्रयातुम्** इति. गमने प्रकर्षो नायिकानां प्रियाभिमुखम् अभिसारिकाप्रकारेण तेन व्याजएव अयम् इति अर्थः तमेव प्रकारं गमने निरूपयन्ति. **प्राणेशोचिता** इति. **प्राणा**नां सङ्घाते मुख्यानाम् **ईशो** नियामकः स्थापयिता मर्यादायाम् अथवा **प्राणेषु ईष्टे** तत्र स्वैश्वर्यं प्रकटयति तानेव वियोगे पीडयति अथवा वियोगेऽपि स्थितान् दण्डयतीति तद्वारा सर्वाधीशस्य यानि **उचितानि** षड्रसमयानि तत्राऽपि मधुरप्रचुराणि तत्राऽपि गौरसमुख्यानि स्वकरविनिर्मितानि रस्यानि स्वमुखामोदयुतनिःश्वासभावितानि कोमलानि मुखपरिमितपरिमाणानि अथवा स्वावयवरूपाणि लोभादीनि वा विविधानि अनेकप्रकाराणि यानि **वस्तूनि** भगवन्मात्रोपभोग्यतया वस्तुत्वाश्रयाणि तानि **गृहीत्वा** इति अर्थः. ननु एवं **वस्तूनि गृहीत्वा** गमने सर्वावगत्या व्याज उद्घटिष्यते? इति आशङ्क्य आहुः **गुप्तानि** इति स्नानोत्तरपरिधेयवसनव्याजेन तान्यपि

स्वोत्तरीयादिभिः आच्छादितानीति तथा इति अर्थः. स्वावयवरूप - तत्पक्षेतु गुप्तत्वं स्पष्टमेव वसनादिभिः इति भावः. एतेन भगवदुपभोग्यसामग्री न अन्येभ्यः सर्वथा प्रदर्शनीयेति पुष्टिमार्गमर्यादापि सूचिता. ननु एवंविधभावस्य अत्रैव प्राकट्ये को हेतुः ? इति आशङ्क्य सम्बोधनेन तत्त परिहारम् आहुः **सुमुखि!** इति. **सुष्ठु** समीचीनं **मुखं** भक्तिः यस्या इति. एतेन सर्वासामेव अस्ति मुखारविन्दरूपपुष्टिभक्तिसम्बन्धः तथाऽपि अत्र भावस्य स्वरूपात्मकतया भाव - स्वरूपयोः उभयोरपि तदात्मकत्वात् प्रभुस्वरूपघटकत्वेन स्वामिनीभावस्य तदात्मक तत्स्वरूपस्य विशेषइति सुष्ठुत्वम् उक्तम् एतद्भावस्य इति भावः. एवं समयं दास्यस्य उक्त्वा मुख्यं देयं दास्यं प्रार्थयन्ते **स्ववसनं ग्रहीतुम्** इति. **स्वस्य** रसात्मकविग्रहस्य **वसनम्** आच्छादकं रसस्य गोपकतया रसत्वसम्पादकं ग्रहीतुम् परिधानसमयावधिं गृहीत्वा स्थापयितुम् इति अर्थः. एतेन तत्र मिलिते भगवति या मुख्यैव लीला यत्र सर्वावरणाभावः सा सूचिता. तथाच तत्सामयिकस्वरूपदर्शनमेव दूरस्थतया दुर्ल्लभत्वबोधाय प्रार्थितम् इति भावः. ननु प्रभुवसनग्रहणं कुतो न प्रार्थितम् इति चेत् तत्र आहुः **स्व...** इति. अयम् आशयः : स्वामिनीसम्बन्धित्वमेव हि सर्वथा काम्यं न केवलं भगवत्सम्बन्धित्वमपि दासीनाम् अतः स्ववसनएव भगवद्वसनमपि स्थापयित्वा स्वस्वरूपे प्रियस्वरूपमिव यदि ददाति स्ववसनं तदा तथा अस्तु नो चेद् स्वामिवसनं उत्तारणग्रहणादौ स्वामिनीनामेव योग्यता दासीनां तु तद्दत्त तद्ग्रहणादौ सेति न तत्प्रार्थनम् इति भावः. एतेन स्वेच्छया स्वामिन्यैव तद्दाने तु भाग्यं परमम् इति सूचितम्. ननु वसनस्य प्रियसम्बन्धव्यवधायकस्य स्थापने किं प्रयोजनं प्राप्तेऽपि प्रिये ततश्च ग्रहणेऽपि तथा इति शङ्कायाम् आहुः **परिधेयम्** इति. पश्चाद् गृहगमनावसरे परिधेयम् इति अर्थः. एतेन स्वामिनी - प्रभ्वोः स्वरूपं रसात्मकमिति अनाच्छादितं न तथा भवति इति. तदानीन्तु स्वरूपपयोरेव परस्परम् आच्छादकता पश्चाद् विरहानुभवाय गृहगमने तदाच्छादकत्वेन वसनम् अपेक्ष्यमिति तथा इति भावः. ननु एवं कृपायां भवत्सु किं साधनम् इति आशङ्क्य आहुः सम्बोधनेन **स्वामिनि!** इति. अस्मासु दासीषु भवत्याः स्वामित्वाङ्गीकारइति तेनैव सर्वं सम्पत्स्यते अस्माकं गत्यन्तराभावाद् इति

भाव:. ननु तदा प्रार्थनं व्यर्थं, स्वामिनीत्वेन स्वतएव सर्वकरणसम्भवाद् इति आशङ्क्य आहु: **माम्** इति. दासीनाम् असङ्ख्यातानां सत्त्वेन स्वतन्त्रेच्छतया कदाचिद् अन्यस्मरणे मज्जन्मसार्थकता न भविष्यतीति तथाप्रार्थनम् इति भाव:. भिक्षुकइव स्वस्वरूपप्रदर्शनेन स्वदैन्यम् आवि:कुर्वन्त: प्राहु: **अहम्** इति. ननु एतत्समयसामीप्यमेव कुतो न प्रार्थ्यते किं दूरस्थतया वसनग्रहणेन इति चेत् तत्र आहु: **इह** इति. दूरेऽपि स्थितौ इति अर्थ:. एतेन भक्तिमार्गे न तद् दूरस्थत्व - सामीप्यकृतो विशेष: किन्तु तत्सम्बन्धित्वेनेति निरूपितम्. अतएव उक्तं श्रीभागवते "**भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था:**" (भाग.पुरा.५।६।१७) इति. किञ्च सेवारसस्य सम्बन्धाभिलाषपूरकत्वं सूचयन्त आहु: **कृतार्थैव** इति. सेवयैव सम्बन्धरूपयैव सर्वार्थानां पूर्णता इति अर्थ:. '**एव**'कारेण दास्यभावातिरिक्तभावो व्यवच्छिन्न:. तथाच भावान्तरमेलनेन पूर्वभावस्य स्वसुखानुभावकत्वम् इति भाव:. **हि** इति निश्चयेन. एतेन न अत्र संशयालु वक्तृत्वमपि सम्भावनीयम् इति भाव:. यद्वा, **हि** इति युक्तो अयम् अर्थ:. प्रभोस्तु स्वामिन्यधीनत्वेन तद्दास्यस्यैव फलरूपत्वात् तेनैव कृतार्थता इति भाव:. एवं प्रार्थनां यदि स्वामिनी भवती मनसि समानयति तदा अस्मदुक्ति: सार्थिका इति वक्तुम् आहु: **तद्** इति.

एवं दूरस्थित्याम् अन्तरङ्गतमलीलादर्शनफलकं वसनग्रहणात्मकं दास्यं प्रार्थयित्वा ततोऽपि अन्तरङ्गसामीप्येन तल्लीलादर्शनफलकं कञ्चुकीग्रहणात्मकं दास्यं प्रार्थयितुं तद्दानार्थं स्वस्मरणं प्रार्थयन्ते **कुतूहलाभिनिवेशत:** इति.

कुतूहलाभिनिवेशत:/(?कुतूहलैकशीलत:!) प्रियेण पाणिकर्षणाद् -
इतस्ततो विपाटितां स्वकञ्चुकीम् अतिप्रियाम्॥
प्रदातुम् उन्नताङ्गि मां सकृद्यदि स्मरस्यहो-
तदा मुदास्मि राधिके! कृतार्थतापदंगता॥६॥

कदाचिद् रमणे हास्यरसोद्बोधार्थं नखक्षतादिदातुम् अङ्गसङ्गभङ्गहेतु-तया व्यवधायकत्वेन आपनेतुं च कञ्चुकीं विपाटयति तदा स्वामिन:

कुतूहलाभिनिवेशो भवति इति अर्थः. ननु एवं मर्कटोत्प्लवनलीलावत् कृतिः स्वामिन्या असह्या भविष्यतीति कथं तथाकरणम् इति आशङ्क्य आहुः **प्रियेण** इति. स्वामिन्याः प्रीतिविषयेण इति अर्थः. एतेन भगवत्कृतं सर्वमेव तासाम् अभिलषिततममिति न असह्यताशङ्कालेशोऽपि इति भावः. यद्वा **प्रियेण** इति धर्मधर्मिभेदेन प्रीतिविषयेण इति अर्थः. अन्यथा अंशतोऽपि अप्रियत्वे प्रियत्वोक्तिः न घटेत इति तादृक् तत्कृतौ सा शङ्का कथम् उदेति इति भावः. ननु एवं कृतौ पाणिभ्यां प्रतिबन्धः कुतो न कृतः? कथं विपाटयितुं दत्ता प्रतिबन्धस्यापि स्पृहाविशेषजनकत्वेन रसपोषहेतुत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **पाणिकर्षणाद्** इति. पाणिभ्यां विहिते प्रतिबन्धे तयोरेव परिरम्भणेन स्वसम्बन्धसम्पादनार्थम् आकर्षणं करोति इति अर्थः. यद्वा, भगवत्पाणिभ्यामेव हृदयदेशस्थलविशेषसम्बन्धकृतिसमाकुलाभ्यामेव कञ्चुकीसमाकर्षणाद् **विपाटिताम्** इति अर्थः. एतेन भक्तिमार्गे सेवकानिच्छयापि प्रतिबन्धनिराकृतिं स्वसम्बन्धाय तेषां प्रभुः स्वतएव करोति इति बोधितम्. हस्तद्वयस्यापि तत्र व्यापृतिं प्रभोः सूचयन्त आहुः **इतस्ततः** इति. पार्श्वद्वयतः इति अर्थः. एतेन भगवति या कृतिः सा सर्वापि स्वामिन्यर्थैव करद्वयस्य तत्रैव व्यापृतेरिति सूचितम्. ननु तादृश्येव सा कुतो न स्थापनीय इति आशङ्क्य आहुः **विपाटिताम्** इति विशेषेण **पाटितां** विदारिताम् इति अर्थः. एतेन प्रभुसङ्गप्रतिबन्धकं भगवन्निवारितं मूलतोऽपि न स्थापनीयं तदीयैः इति उक्तम्. ननु एतद्दाने को हेतुः? विपाटितात्वेन तत्रापि परिधानायोग्यत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **स्वकञ्चुकीम्** इति. निजाङ्गसंलग्नतया उपभुक्तत्वेन प्रसादत्वात् शिरसि स्थापनाद्यर्थमपि तद्दानम् उचितमिति तद् भावः. ननु अत्रैव दाने किं प्रयोजनम्? इति चेत् तत्र आहुः **अतिप्रियाम्** इति. सा हि भगवत्करविपाटितात्वेन तत्सम्बन्धिनीत्वाद् अतिप्रीतिविषये सार्वान्तरङ्गेष्वेव तद्दानम् इति अर्थः. एतेन अत्यन्तरङ्गसखीत्वसिद्ध्यर्थमपि एषा प्रार्थना इति सूचितम्. यद्वा, भगवतो अतिप्रिया नखक्षतादिदानार्थं विपाटनकौतूहलहेतुत्वेन तथाच तद्दाने प्रभोरपि मयि कृपाभरो भवत्सम्बन्धित्वेन सेत्स्यति इति भावः सूचितः. अतः परं दाने कश्चन

विशेषोऽभिलषितइति तत्सूचनार्थम् आहुः **प्रदातुम्** इति. दाने प्रकर्षः स्वहस्तेन दानम्. तथाच निकटे समाकार्य स्वीयतमात्वेन अभिधाय कृपादृष्टिं कृत्वा सा देया इति भावो बोध्यः. तत्सामयिकस्वामिनीस्वरूपस्थितिं मनसिकृत्य तच्छोभापि प्रदर्शनीयेति वक्तुं सम्बोधनम् आहुः **उन्नताङ्गि!** इति. शयानाय आनताङ्गत्वेऽपि तत्प्रदानार्थं किञ्चिद् उन्नयने अङ्गानाम् उन्नताङ्गत्वं भवति इति अर्थः. एतेन तदानीम् उन्नताङ्गत्वे प्रभोः रतिसामीप्ये त्वरया समागम्य आलिङ्गनेन अत्यन्तशोभासमूहदर्शनमपि भविष्यति इति भावः सूचितः. ननु एतादृशसमये कथम् अन्यागमनसम्भावना? इति आशङ्क्य आहुः **माम्** इति. एतेन् स्वस्य अत्यङ्तरङ्तमसखीभाववत्त्वं निरूपितम् आसीद् इति भावः. ननु अन्यस्थितौ सङ्कोचेन तत्र रसानुभवशैथिल्यं भविष्यतीति मनसिकृत्य आहुः **सकृद्** इति. सम्पूर्णजन्मनि एकवारमपि एतद्दर्शने भावनयैव सर्वजन्मनिर्वाहाद् इति भावः. परं दुर्लभत्वम् एतत्फलस्य इति वक्तुम् आहुः **यदि स्मरसि** इति. अस्मद्भाग्योदये प्रमेयबलं वा अत्र साधनं न अन्यत् किञ्चिद् इति अनेन उक्तम्. कृतार्थतापदप्राप्तेः भवत्स्मरणोत्तरं विलम्बाभावसूचनार्थम् आहुः **तदैव** इति. यदैव तद्दानार्थम् स्मृतिः तदव्यवहितोत्तरक्षणएव तथा इति अर्थः. ननु कृतार्थताभावनं स्वयोग्यताविचारेणापि भवत्येव "अहं कृतार्था" इति तथा अत्रापि भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **मुदा** इति आनन्देन इति अर्थः. तदा तु स्वायोग्यतास्फूर्त्या कश्चित् मनसि विषादो भवति न आनन्दः प्रकृते स इति सर्वोत्कृष्टत्वस्फूर्त्यैव सा कृतार्थत्वभावना इति अर्थः. अतएव न पूर्ववत् कृतार्थतामात्रम् उक्तम् अपितु तत्पदप्राप्तिः इति आहुः **कृतार्थतापदं गता** इति. एतेन यथा अत्युच्चपदप्राप्तानाम् अन्यन्यूनतास्फूर्तिः स्वस्य उच्चस्थिततत्वस्फूर्तिः तथा एतद्दास्यातिरिक्तफलेष्वपि हीनत्वावगमः स्वस्मिन् तत्फलवत्त्वेन अत्युच्चता-स्फूर्तिः इति भावः. ननु स्वामिन्याएव एतद्दास्यप्रार्थने को अयम् आग्रहो अन्यासामपि भगवत्सम्बन्धवतीनां तत् कुतो न प्रार्थ्यते? इति चेत् तत्र आहुः **राधिका** इति. भवती हि भगवतः सिद्धिरूपा मन्त्रसिद्धिरिव अतो भगवत्यैव स्वरूपेण सहैव स्थिततया सर्वत्राविष्टतया रमणं करोतीति मुख्यत्वसिद्धिः अतः तथा इति भावः. एतेन अखिलस्वामिनीनां मुख्यत्वेन

एषा भावविषय इति बोधितम्.

एवं पूर्वोक्तदास्यं प्रार्थयित्वा ततोऽपि अन्तरङ्गं साक्षात् मुख्यरससम्बन्धसम्पादकम् अलौकिकभावोद्‍बोधकं देहाद्यलौकिकभगवद्‍भोगयोग्यसामग्रीनिष्पादकं ताम्बूलचर्वितग्रहणात्मकं दास्यं प्रार्थयितुं तद्‍दानाय स्वस्मरणं प्रार्थयन्ते **चारुप्रसून** इति.

चारुप्रसूनमयतल्पगता स्वनाथे
ताम्बूलचर्वितमुदारमुखाम्बुजस्थम्।।
दातुं स्थिते निजमुखाब्जगतं प्रदातुं
मां चेत् स्मरस्यनुचरीं क्व तदा नु मामि[३अ] ।।७।।

चारूणि मनोहराणि अतिसुन्दराणि रूपगन्धाभ्यां यानि **प्रसूनानि प्रकृष्टा सूना** हिंसा येषामिति उत्तारणमात्रेणैव नाशसम्भावनावन्ति शयनास्तरणयोग्यानि कुसुमानि तन्मयं तत्प्रचुरं यत्तल्पं भगवतैव अतिचतुरतमेन स्वामिन्या गमनात्पूर्वमेव स्वकराभ्यां निर्मितं यत्र आच्छादकवसनं कुसुमैः न दृश्यते विचित्रप्रकारयुक्तं तस्मिन् **गता** प्राप्ता प्रियेणसह शयाना इत्यर्थः. एतेन स्वामिन्या अतएव न ताम्बूलयाचनं प्रियात् तल्पनिर्माणादिना स्वाधीनतमत्वस्फूर्तेः; किन्तु, प्रियः स्वतएव **ताम्बूलचर्वितं** प्रयच्छति न वेति स्वाधीनतापरीक्षार्थं स्वतः तूष्णींभावः स्वामिन्या इति बोधितम्. ननु एवं भगवतः तदधीनतायां तत्परीक्षायां च को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः **स्वनाथ** इति. भगवान् केवलम् एतन्नाथएव **''नाहं तेभ्यो मनागपि''** (भाग.पुरा.९।४।६८) इति वाक्यात्. तत्रापि विशेषतो मुख्यस्वामिन्याएव. अतएव जयदेवोऽपि आह: **''राधामाधाय''** (गीत.गो.३।१)इति. तथा च स्वमात्रनाथइति स्वाधीनता भवत्येव एकपत्नीव्रतधरस्येव, परीक्षणीयश्च भावस्य कृतिविशेषव्यङ्ग्यत्वाद् यथा भगवता कालीयदमनप्रसङ्गेन भक्ताः परीक्षिताः भावबोधाय तथा अत्राऽपि स्वामिन्या प्रभुः परीक्षितः. ताम्बूलग्रहणार्थं तूष्णींभावेन इति भावः. ननु प्रभोरपि एद्‍दाने को हेतुः? इत्यतः आहुः

ताम्बूलचर्वितम् इति. "सरागं सरसं सिद्धं भोग्यम् अश्रमभावनम् निष्पीडितं भक्तिभावैः अतः तद् दत्तवान् प्रभुः" इति भावः. एतेन सरसान्तरकामादिजन्यम् अभिलषितं प्रार्थितं वा प्रयच्छति भक्तिरसं तु नैरपेक्ष्ये भक्तानां स्वतएव तथा इति बोधितम्. ननु ताम्बूलचर्वितग्रहणमात्रेण किं भवति मनोरथान्तरस्य असिद्धत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **उदारमुखाम्बुजस्थम्** इति. **उदारस्य** पात्रापात्राविवेकेन अल्पेऽपि बहुदातुः भगवतो **मुखं** भक्तिरूपतया स्वतन्त्रफलरूपं तद् अग्निरूपमपि **अम्बुजं** तापहारकं, तत्र स्थितमिति **ताम्बूलचर्वितमपि उदारम्** अस्मद्‌योग्यताम् अविचार्य द्रवीभूतमपि रसं घनीभूतं विधाय प्रयच्छतीति तथा स्वतन्त्रफलं प्राप्य मुख्यफलस्य लोभस्थरसस्य प्राप्तत्वेन फलान्तरानपेक्षणात् तथा तापहारकम् अग्निरूपत्वेन मुखस्य तत्सम्बन्धित्वात् पूर्वं तापजनकमपि अम्बुजमध्यगतत्वेन मकरन्दवत् पेपीयमानं तापहारकमिति स्वाश्रयनिष्ठाखिलगुण-वत्त्वेन तथात्वं विशेषइति तत्प्राप्तैव अखिलमनोरथसिद्धिः भवति इति अर्थः. एतेन लीलासु नृत्यबन्धादिश्रमैः पुष्टे रसे तद्रसप्राप्तिः अनायासेन ताम्बूलचर्वितग्रहणे तत्प्राप्तिरिति लीलातोऽपि आधिक्यसूचितम्. यद्वा, **उदारं यन्मुखाम्बुजं** तत्स्थितम् इति अर्थः. अयम् आशयः : भगवतः सर्वाङ्गेषु मुखाम्बुजस्य उदारता, मुखम् आदौ प्रदर्श्य भावं दत्वा सर्वाङ्गसङ्गमसुखं ददाति सर्वास्विति मुखमेव सर्वत्र सर्वदातृत्वाद् **उदारं** तदपि अम्बुजत्वेन सरसमिति तत्स्थत्वेन ताम्बूलचर्वितमपि रसात्मकं सद् अखिलफलदायकम् इति अर्थः. ननु एतादृशातिगुप्तभक्तिरसात्मकताम्बूलचर्वितप्राप्तौ किं साधनम् ? इति आशङ्क्य एतत्प्रभुदानैकसाध्यं न इतरसाधनसाध्यम् इति वक्तुम् आहुः **दातुं स्थिते** इति. **स्वनाथे ताम्बूलचर्वितं दातुं स्थिते** स्वतः स्वामिनी सम्मुखीभूय स्वरसं तत्रैव स्थापयितुं तथाभिनयेन स्थितः इति अर्थः. एतेन अयं रसः फलरूपस्य साधनीभूतप्रमेयबलेन दानएव प्राप्यो न अन्यथा इति निरूपितम्. एवं भगवद्रसप्राप्त्यनन्तरं स्वभक्तिरसस्य स्वसखीभ्यएव योग्यतया देयत्वाद् उभयोः एकीभावे अन्यत्र तत्सम्बन्धाभावेन सखीजन्मवैफ-ल्याच्च स्वामिनीमुखारविन्दस्थभक्तिरसं तत्सम्बन्धिता सिद्ध्यर्थं प्रार्थयन्ते **निजमुखाब्जगतम्** इति. **निजं** स्वीयं यद् **मुखाब्जं** तत्र **गतम्** इति अर्थः. एतेन कदाचिद् रसभरपरवशः प्रभुरपि स्वामिनीताम्बूलचर्वितं गृह्णाति

तद् अस्माकं भवद्दासिकाभावम् उपमर्द्य भगवद्भावसम्पादकत्वाद् अयोग्यम् इति सूचितम्. अत्र उदारत्वानुक्तिस्तु अतिदुर्लभत्वबोधनाय, यतो न इदं सर्वप्राप्यम् अपितु अन्तरङ्गतमसखीविशेषसकृत्प्राप्यम् इति भाव:. दाने विशेषम् आहु: **प्रदातुम्** इति. प्रकर्षो अत्र दाने भवतु एतस्या मयि भाव: सार्वदिक: स्थिरइति कृपापूर्वकत्वम्. तथाच कृपां विना केवलक्रियातो न अस्मिन् मार्गे किञ्चिदपि सिद्ध्यति इति भावो बोधित: इति भाव:. **माम्** इत्यनेन पूर्ववदेव योग्यता दैन्यभावादि निरूपणं बोध्यम्. स्मरणस्य अतिदुर्लभत्वं बोधयितुम् आहु: **चेत् स्मरसि** इति. एतेन प्रभो: स्वत: तद्दानावसरे स्वाधीनत्वस्फूर्त्या तज्जनितानन्दसिन्धुसम्मग्नचित्ताया अस्मत्स्मरणस्य असम्भावितत्वाद् इति हृदयम्. ननु एवम् असम्भावितत्वावगमे प्रार्थनं व्यर्थम् इति आशङ्क्य आहु: **अनुचरीम्** इति अनु पश्चादेव निरन्तरं स्वामिन्या: **चरतीति** निकटवर्तिनीत्वेन दृष्टिप्रसारणादावपि स्मरणम् आवश्यकम् अयत्नेनापि भवति इति अर्थ:. अनेन सततं तदेकोपजीविनएव तद्रसं प्राप्नुवन्ति इति उक्तम्. एवं स्मरणं सम्प्रार्थ्य तत्सिद्धौ तज्जन्यानन्दस्य निरतिशयितत्वं निरूपयितुम् आहु: **क्व तदा नु मामि** इति. आनन्दो हि विभु: स: स्वयं देहादिषु प्रविष्ट: तत्राऽपि विभुतां सम्पादयतीति तादृश आनन्दं प्राप्ता विभु: सती आधाराभावाद् अहं **क्व मामि** मानं प्राप्नोमि इति अर्थ:. **'नु'**इति वितर्के स्वस्मिन् **मामि** इति अर्थ:. एतेन एतादृशानन्दप्राप्तौ कथम् अन्तरा हृदयेऽपि गुप्ततया तं स्थापयितुम् अहम् अशक्तेति निरूपितम्.

एवं पूर्वोक्तं हृदयं परिधेयवसनप्राप्तिफलकं दास्यं प्रार्थयित्वा ततोऽपि अन्तरङ्गं स्वामिनीस्वरूपात्मक-केलिस्रग्-दानफलकं दास्यं प्रार्थयितुं समयविशेषे तद्दानाय स्वस्मरणं प्रार्थयन्ते **निकुञ्ज** इति.

निकुञ्जे पुष्पालीरचितशयनात् केलिजनित
श्रमाम्भ: सङ्क्रान्ताननकमलशोभाहृतमना: ॥
समुत्थायायान्ती सहजकृपया केलिदलितां
स्रजं दातुं राधे! स्मरसि यदि मां त्वं किमपरै: ॥८॥

निकुञ्ज इति लतादिवेष्टितविपिनभवन इति अर्थः. एतेन तत्र रतौ अन्याज्ञानेन गूढतया रसपोषः स्वाच्छन्द्यं च सूचितम्. यद्वा, **निकुञ्ज** इति रमणयोग्यस्थले तत्र रसोद्बोधोपयोगि - वायुकुसुमाद्यखिलनूतनसामग्री - सत्त्वाद् इति अर्थः. ननु वनरतौ न शय्याद्यास्तरणं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **पुष्पालीरचितशयनाद्** इति. **पुष्पाणाम्** अनेकवर्णानाम् अनेकविधानाम् अतिमृदुलानां मुदितगन्धानां विभिन्नवृत्तानां या **आली** पङ्क्तिः तया **रचितम्** अर्थाद् भगवतैव विचित्रप्रकारेण अतिनिपुणेन यत् **शयनं** पर्यङ्कः तस्माद् इति अर्थः. एतेन निकुञ्जाः तत्र स्वामिनीसखीवृन्दैः प्रत्यहं समीकृत्य तत्र सर्वामपि सामग्रीं युक्त्या निधाय स्थाप्यन्तइति न वनमात्रं तत् किन्तु महारसनिधानस्थानं सकलसामग्रीयुक्तं तद् इति भावः. ननु सा स्रग् अतिप्रियास्वामिन्याः प्रभुसम्बन्धकेलिदलितत्वेन तदङ्गरागकुङ्कुमादिलिप्तत्वाद् अतो दास्यभावापन्नैः कथं प्रार्थ्यते इति आशङ्क्य आहुः **केलिजनितश्रमाम्भ-सङ्क्रान्ताननकमलशोभाकृतमना** इति. **केलि** लीला महाबन्धैः विविधसुरतम् अथवा विपरीतप्रकारेण तज्जनितो यः **श्रमः** तदीयम् **अम्भः** प्रस्वेदकणा इति यावत् तेन **सङ्क्रान्तं** सम्यग् आकीर्णं यद् **आननकमलं** मुखारविन्दं तदीया या **शोभा** मुक्तामण्डितमुखवत् तया **आहृतं** स्वीकृतम् अथवा **हृतं** चोरितम् अर्थाद् अस्माकं **मनो** यया इति अर्थः. एतेन सुरतान्तसामयिकस्वस्वामिनीवदनश्रमजलकणिकाजनितवदनशोभादर्शनेन कार्प-ण्योदयाद् अयोग्यतामपि निजां, सृजि स्वामिनीप्रियात्वं च अविचार्य, तत्प्रार्थनम् इति भावः. ननु लीलासमयएव सा कुतो न प्रार्थितः इति आशङ्क्य आहुः **आयान्ति** इति. आगमनसमये हि साम्मुख्यं भवति तदानीं तु प्रभुसाम्मुख्यत्यागस्य अशक्यत्वाद् असम्मुखतया दानेऽपि न तथा सुखानुभूतिसम्भवात् अतः तदानीन्तनी सा स्रक् न प्रार्थिता इति भावः. ननु एवम् आगमनं कदाचिद् अवधिं विधाय वञ्चयित्वा भगवति अन्यत्र गते सङ्केतिते निकुञ्जे तम् अदृष्ट्वा कोपवशाद् उद्गतमाना समायाति तदापि सम्भवतीति तथाविधागमने प्रसन्नताभावात् चिन्तया निजपदकमलव्याप्त-दृष्टित्वेन तथासम्मुख्याभावात् च प्रार्थनं व्यर्थं कार्यसिद्ध्यसम्भवाद् इति आशङ्क्य आहुः **समुत्थाय** इति. सम्यक् रात्रौ रतिं प्रियेण सह विधाय

रसव्याप्ता प्रसन्नसुमुखी यदा उषसि निजभवनम् आयाति तदा इति अर्थः. एतेन द्वितीयदिनकर्तव्यशृङ्गारे नवीनमालापरिधानात् तदस्थापनेन दानयोग्यतापि सूचिता इति भावः. ननु एवं प्रसादत्वेन इतरदप्रार्थ्य तादृक् स्रक्प्रार्थनं किं प्रयोजनकम् इति चेत् तत्र आहुः **केलिदलितस्रजम्** इति. **केलिः** प्रभुलीलामहासौरतसामयिकगाढालिङ्गनरूपा तया **दलिता** विशीर्णा मुदिता इति यावत् तादृशी या **स्रक्** पुष्पमाला कुंकुमारक्ताम् इति अर्थः. एतेन वर्णैः कुङ्कुमेन भगवदालिङ्गनमृदितत्वादितद्धर्मसम्बन्धैश्च स्वामिनीप्रतिनिधि-रूपेति स्वामिनीस्वरूपमेव साक्षात् सेव्यत्वेन कण्ठाभरणहृदयाभरणत्वादि सिद्ध्ये प्रार्थितम् इति भावः. ननु को विशेष स्वामिनीस्वरूपे यद् एवं तत्सरूपस्रजोऽपि प्रार्थनम् इति आशङ्क्य आहुः सम्बोधनेन **राधा** इति. भगवतः सिद्धिरूपा अनेकतपःफलरूपेति तत्स्वरूपगतविशेषः कस्य मनोवाग्विषयः इति अर्थः. अतएव जयदेवोक्तिरपि "**क्षणम् अधुना नारायणम् अनुगतम् अनुसर राधिका**" (गीत.गो.१२।१) इति. ननु एतद्दानं हि परमदुर्लभं कृपया भवति परं कृपायामपि भवत्सु को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः **सहजकृपया** इति. यथा भगवान् स्वामिनीषु स्वभावादेव निरुपधि-निरवधिकृपावान् न तत्र कारणान्तरम् अपेक्षते स्वात्मवता (?) इति निर्हेतुककृपावान् भवति तथा चर्षणीरूपत्वेन तच्छक्तिरूपदास्योऽपि स्वामिनीधर्मरूपत्वात् तास्वपि स्वामिनीनां सहजकृपा स्वात्मभूतासु अस्ति इति अर्थः. एतेन सहजकृपास्नेहौ स्वस्वरूपाभिन्नेएव सम्भवतो न अन्यत्र इति सूचितम्. ननु स्मरणप्रार्थनम् अनुचितं प्रभुषु स्मरणस्य दासधर्मत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **दातुं स्मरसि** इति. दानार्थं तु सम्प्रदानस्मरणम् आवश्यकम् इति भावः. स्मरणमपि स्रजि भागाभावाय अन्यासां, केवलं स्वीयमेव प्रार्थ्यते इति आहुः **माम्** इति **यदि** इति. प्रार्थनापि न अत्र साधनम् इति भावः. ननु कयाचित् स्मारणेएव अतिवरायाः स्मरणं भवति इति आशङ्क्य प्रकृते तादृशतदभावं प्रार्थयन्त आहुः **त्वम्** इति. तथाच स्वतएव स्मृतिः अस्मदपेक्षिता न अन्यप्रेरणया इति भावः सूचितः. ननु फलान्तरं किम् इति प्रार्थितं प्रभुसम्बन्धादिरूपमपि इति आशङ्क्य एतदग्रे सर्वेषां फलानां कुत्सितत्वम् आहुः **किम् अपरैः** इति. **अपरैः** फलैः प्राप्तैरपि **किं** न किञ्चिद्

इति अर्थः. एतेन स्वामिनीत्व-स्वामित्वापेक्षया दासीत्वमेव अधिकम् उभयसम्बन्धिरसानुभवाद् इति युक्तम्. अतएव दास्यमेव प्रार्थितं "**वीक्ष्यालकावृतमुख...**" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इत्यादि महिष्यादिभिरपि कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे मिलिताभिः उक्तम् "**अमुष्य दासी अहं तद्गृहमार्ज्जनि**" (भाग.पुरा.१०।८०।१०-११) इत्यादि. अतएव शुकोऽपि प्राह "**दासी शताअपि विभोर् विदधुः स्म दास्यम्**" (भाग.पुरा.१०।५६।४५) इति.

एवं पूर्वोक्तदास्यम् उपभुक्तस्रग्ग्रहणरूपं प्रार्थयित्वा मुख्यं दास्यं सततचरणनलिनसम्बन्धफलकं प्रार्थयन्ते **यदा चलसि** इति.

यदा चलसि मार्गता शयनतापि शेषे[४] मुदा
पदाम्बुजमलङ्करोष्यमलकुङ्कुमं त्वं तदा॥
मुहुः सुमुखि राधिके! किमधिकं नु[५] सम्प्रार्थये
सदा भवतु मे भवच्चरणपङ्कजारक्तता॥९॥

यदा इति न अत्र समयविशेषः उक्तः किन्तु चलनमात्रं तेन चलनमात्रे मम मार्गता यत्रैव त्वच्चलनं तद्भूमिरूपत्वम् अस्तु इति अर्थः. एतेन चरणरूपता न प्रार्थिता सायुज्येन भक्तिरसानुभवप्रतिबन्धाद् भेदे तत्सम्भवाद् एवं प्रार्थनम् इति द्योतितम्. ननु मार्गत्वे कदाचिद् अन्यसम्बन्धः सम्भाव्येत इति तदर्थं प्रार्थनान्तरम् आहुः **यदा पदाम्बुजम्** इति. रात्रौ महाबन्धैः क्रीडया चरणकुङ्कुमस्य प्रियाङ्गसंलग्नतया निवृत्तत्वेन पुनः प्राप्तः स्वरसासक्तिगोपनाय **यदा पदाम्बुजम्** अर्थात् कुङ्कुमेन अलङ्करोषि समुदयकालिक रविकिरणप्रसरसहितसरोजविशेषशोभाजयार्थं तदा **मे** कुङ्कुमत्वं मार्गभवनापेक्षयाऽपि परमं चरणसंलग्नता सिद्धिफलकम् अस्तु इति अर्थः. एतेन यथा कथञ्चिद् अस्माकं स्वामिनीचरणनलिनयुगलसम्बन्धएव स्वतन्त्रफलम् इति निरूपितम्. यद्वा, मार्गत्वे स्वामिन्याः चलनश्रमे सति सम्बन्धइति तम् असहमानैः कुङ्कुमत्वं प्रार्थितं यत्र शोभाविशेषशैत्यादिगुणवत्त्वेन सुखदत्वम्

इति. एवं सर्वसमये पदाम्बुजसम्बन्धाय यत् तत्तद्रूपताभवनकामनया प्रार्थने कदाचित् स्वामिन्या नासारोहे सर्ववैयर्थ्यं स्याद् इति आशङ्क्य आहुः **मुहुः किं संप्रार्थये** इति. **मुहुः** वारं वारम् इति अर्थः. एतेन महत्सु मुहुः प्रार्थनम् अनुचितं तेषां चित्तवैयग्र्यसम्पादकत्वाद् इति निरूपितम्. ननु अनवसरे प्रार्थना अनुचिता तदभिप्रायापरिज्ञानेन कृतायाः अपि तस्याः फलासाधकत्वेन वैयर्थ्याद् इति आशङ्क्य तदवसरपरिज्ञानकारणनिरूपणार्थं सम्बोधनम् आहुः **सुमुखि!** इति. सुष्ठु समीचीनं मुखं यस्याइति प्रसन्नतादर्शनेन समयनिश्चयः प्रार्थनाया इति अर्थः. एतेन प्रसन्नताम् अवलोक्यैव प्रार्थनम् उचितं न अन्यदा इति निरूपितम्. ननु एवम् अपूर्वतममनोरथः कथं सेत्स्यति साधनाभावाद् इति आशङ्क्य स्वबलेनैव विनैव साधनं स्वामिन्याएव दासीनां सर्वसाधकत्वम् इति आहुः सम्बोधनेन **राधिका** इति. **"'राध' - 'साध' संसिद्धौ"** (पाणि.धातु.पा.स्वादि.१२८५-१२८८). तेन स्वीयानां सर्वार्थसाधिका इति अर्थः. एतेन पुष्टिमार्गे फलस्यैव साधनता इति निरूपितम्. एवं चरणसम्बन्धाय तत्तत्समये स्वस्य मार्गत्व - कुङ्कुमत्वे प्रार्थयित्वा तत्रापि चरणभेदस्फूर्त्या कदाचित् तत्सम्बन्धासम्भवइति सततसम्बन्धसिद्धिहेतुभूतं चरणकमलारुण्यं स्वस्य प्रार्थयन्ते **भवच्चरणपङ्कजा-रक्तता** इति. भवत्याः **चरणपङ्कजयोः** सहजा या **आरक्तता** कुङ्कुमादिभिः आगन्तुकैः अनिष्पादिता सा मे भवतु इति अर्थः. एतेन स्वामिनीचरणयोः सहजः सततसम्बन्धएव अस्माकं फलत्वेन प्रार्थ्यः इति बोधितम्. ननु इतोऽपि अधिकं स्वामिनीसाम्यसम्पादनाद् अधिकाररूपं किञ्चिद् अन्यत् कथं न प्रार्थ्यते इति आशङ्क्य आहुः **किम् अधिकम्** इति. **'नु'**इति वितर्के. इतः सततचरणसम्बन्धसम्पादकाद् एतस्मात् फलात् किं फलम् अधिकम्! इति अर्थः. एतेन प्रभुरपि यत्र मानापनोदनादिकृतये रसपरवशः प्रणिप्रातादिकं लीलाविशेषे तच्छृङ्गारादिकं च करोतीति सततसम्बन्धसिद्धौ फले का वा न्यूनता स्थिता येन अन्यप्रार्थनम्! इति निरूपितम्. ननु प्रभुसम्बन्धोऽपि फलं स कथं न प्रार्थ्यते इति आशंक्य आहुः **संप्रार्थये** इति. अस्ति फलम् इति प्रभुसम्बन्धोऽपि प्रार्थ्यः परं न सम्यक्तया स्वातन्त्र्येण, स्वामिनीद्वारैव अस्माकं तत्सम्बन्धस्य अपेक्षितत्वाद् इति भावः. तत्फलमपि

नित्यं नित्यलीलासम्बन्धवद् इति ज्ञापयितुम् आहु: **सदा** इति. निरन्तरम् इति अर्थ:. एतेन स्वस्य एतत्फलमात्राभिलाषवत्त्वेन फलान्तरानभिलाष: सूचित:.

एवं नवभि: श्लोकै: सर्वसाधकप्राणरूपै: दास्यं प्रार्थयित्वा स्वामिन्या मुख्यत्वसमर्थनार्थं सकलस्वामिनीभावविषयत्वम् आहु: **प्रियतम**...इति.

प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावेक्षणोद्यद् -
रसभरजवरासामन्दमोदाकुलानाम् ॥
प्रतिपदतलरुग्भिर्गोपसीमन्तिनीनाम् -
अरुणतरहृदम्भोजन्मने मे नमोऽस्तु ॥१०॥

स्वामिन्या: **प्रतिपदतलरुग्भि: गोपसीमन्तिनीनां अरुणतरहृदम्भो जन्मने मे नमोऽस्तु** इति सम्बन्ध:. ननु ताअपि प्राप्तप्रियसम्बन्धाइति तासु कथम् उच्यत एतच्चरणतलरुगारुण्यवद् हृदयकमलत्वम् इति आशङ्क्य आहु: **गोपसीमन्तिनीनाम्** इति अन्यपूर्वाणाम् इति अर्थ:. तथाच तासां रसपोषाय संस्कारसिद्धये नाममात्रेण अन्यसम्बन्धवत्त्वेन स्वस्मिन् तत्स्फूर्त्या तदभाववत्यां स्वामिन्यां मुख्यत्वस्फूर्त्या दास्यभावेन तथात्वम् उच्यते इति भाव:. ननु कुमारिकाणाम् एवम्भावो न भविष्यति मुख्यस्वामिन्याम् इति आशङ्क्य तासामपि तथा इति वक्तुं श्रुतिरूपतदुभयसाधारणधर्मबोधकं तथा विशेषणम् आहु: **प्रियतम**... इति. तासामपि भगवान् अतिशयेन प्रीतिविषय: सर्वपरित्यागेन प्राप्तत्वात् सर्वात्मभावेन दास्यभावाच्च. अथवा अतिशयेन प्रीतिपात्रं भगवानेव देहादीनां तदर्थत्वेनैव तथात्वात्. तस्याऽपि **करौ** करोति इति व्युत्पत्त्या क्रियाशक्तिरूपत्वेन सर्वार्थसाधकौ तावपि **पद्मे** कमलरूपौ सुखसेव्यत्व-शीतलत्व-सरसत्व-सहजसुगन्धत्व-तापहारकत्व-अतिशयितशोभा श्रयत्वादिधर्मयुक्तौ तयो: य: **स्पर्श:** **''तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो: प्रविष्टेन गृहीतानाम्''** (भाग.पुरा.१०।३०।३) इति वाक्याद् अंसदेशएव तेन यद्भावेक्षणं हृदयोद्गतो य: प्रभुक्रियया **भाव:** कामात्मक: स्वलीलाकरणार्थं तासां

तदानन्ददानार्थं लोके तद्रसप्राकट्यार्थं प्रभुणैव सर्वात्मभावम् आच्छाद्य कामभावप्रकटीकरणात् तेन यद् **ईक्षणं** सकामतासूचकं कामभावोद्गारितेन **उद्यन्** नवीनतया उदयं प्राप्नुवद् **रसः** कामरसः तस्याऽपि **भरः** उद्रेको न यत्र अन्यस्फूर्तिसम्भावनाऽपि तत्राऽपि तस्य **जवो** वेगः उत्तरोत्तरं प्रवर्द्धमानत्वं तद्युक्तो यो **रासो** बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषः समुदायरमणात्मा तेन यः सर्वसाम्यसम्पादनेन कुत्राऽपि न्यूनाधिकभावाभावात् सर्वासामेव **अमन्दो** मन्दत्वाभाववान् प्रवृद्धः इयत्तारहितो यो **मोदः** आनन्दो मनोरथान्तः तेन **आकुलानां** भगवत्सम्बन्धकृतिमात्रार्थप्रयत्नपरतया लेशतोऽपि अन्यत्रस्फूर्तिसंभा-वनारहितानाम् इति अर्थः. एतेन एवं प्राप्तातिशयितफलानाम् अन्यस्फूर्तिरहितानां प्रियतमनिरवधि-निरुपधिकृपापात्राणां सकलस्वामिनीनाम् इति अर्थः. तच्चरणन-लिनतलानुरागवद् **हृदयाम्भोजन्म**त्वे किं वाच्यं स्वामिन्या मुख्यत्वम्! इति भावः सूचितः. ननु सर्वासामेव अत्र एवंविधभावे को हेतुः इति आशङ्क्य आहुः **प्रतिपद...** इति. मुख्यस्वामिनी हि रसात्मस्य भगवतो नायकनायिकाभेदेन रसत्वसम्पादिकेति यावन्ति भगवद्रूपाणि तावद्रूपा भगवदभिन्ना यद्वियोगे भगवतो रसात्मकत्वनिरूपणासम्भवः सा वियोगात्मकश्रीनन्दभवनप्रकटयशोदोत्स-ङ्गलालितप्रभुनित्यसंयुक्ता पूर्वरूपे लक्ष्मीवद् [६]एतस्या रसात्मकत्वस्य प्रभोः यद् हृदये स्थितिः तत्र स्थितिमत्त्वेन तस्याः **प्रति** गोपसीमन्तिनीहृदये यानि **पद**योः तलानि सहजारुणानि स्वसम्बन्धेन अन्यत्र आरुण्यसम्पादकानि तेषां या **रुचः** सर्वाङ्गप्रसर्प्पिण्यः कान्तयः ताभिः इति अर्थः. एतेन तासां न भगवति केवले भावः किन्तु स्वामिनीविशिष्टएव अन्यथा एतद्रसरसिकत्वं न स्याद् इति ज्ञापितम्. एतद्बोधनायैव आहुः **अरुणतर** इति. प्रियचरणतलरुचारुणत्वं स्वामिनी तद्रुचारुणतरत्वम् इति अर्थः. एवं मुख्यत्वम् उपपाद्य तत्र साक्षात् नमनायोग्यतामिव निरूपयन्तो अतिमुख्यतां च बोधयन्तः तच्चरणस्थितिस्थलं गोपसीमन्तिनीहृदयकमलं नमस्यत्वेन निर्दिशन्ति **हृदम्भोज-न्मने** इति. हृदयकमलम् अनुकूलयितुम् इति अर्थः. एतेन अन्यस्वामिनीहृदयानुकू-ल्येएव मुख्यस्वामिनीदास्यसम्प्राप्तिः इति सूचितम्. अतएव प्रथमश्लोके चन्द्रावल्या अहं निजचरणदास्ये आकार्य इति निरूपितम्. अन्यस्य साधनस्य तत्राऽपि कर्तुं अशक्यत्वेन ज्ञापनार्थम् आहुः **नमः** इति. "**गमनाभावात्**

नमनाधिकार'' (सुबो.) इति. यत्र हृदये तच्चरणस्थितिः तदपि अगम्यम् अतिदुर्लभं तत्र तत्स्थितस्वामिनीचरणयुगलदौर्लभ्ये किं वाच्यम् इति भावः. एतेन सकलस्वामिनीनां सेवा तत्सेवैव इति निरूपितम्. नमनमपि तत्र न स्वशक्यम् इति बोधयितुम् आहुः **अस्तु** इति. अस्माकन्तु प्रार्थनामात्रं सम्पादनीयन्तु सकलम् अतिकरुणया त्वयैव इति भावः.

एवं मुख्यत्वम् उपपाद्य स्वरूपसेवावत् त्वदधिष्ठानत्वेन अन्यस्वामिनीनां त्वद्दास्यं परम्परारूपम् अतिदैन्याविष्कृतये प्रार्थयन्ते **यावन्ति** इति.

यावन्ति पदपद्मानि भवतीनां हरिप्रियाः।
तावद्रूपः सदा दास्यं करवाणि तदा तदा॥११॥

भवतीनां मुख्यस्वामिनीस्वरूपाधिष्ठानभूतानां तत्कोशरूपाणां **यावन्ति पदपद्मानि** चिह्नरूपाणि असङ्ख्यातानि **तावद्रूपा** सति **दास्यं करवाणि** इति सम्बन्धः. यद्वा, **भवतीनां** सम्बन्धिनी **यावन्ति पदपद्मानि** मुख्यस्वामिन्याएव भवति हृदयस्थितानि इति अर्थः. एतेन स्वरूपसमाविष्टप्रभुसेवेव अस्माकं मुख्यस्वामिनीसमाविष्ट-गोपीजनचरणसेवैव अभिलषिता फलरूपा च इति बोधितम्. सुखसेव्यत्वबोधनाय **पद्मानि** इति. सर्वपूज्यत्वबोधनाय **भवतीनाम्** इति. **'भवत्'**शब्दः सर्वत्र पूज्यताबोधकः. ''अत्र भवन्तो भट्टाचार्याः'' ''तत्र भवन्त'' इतिवत्. ननु एतासु गोपसीमन्तिनीषु सर्वत्र मुख्यस्वामिन्यावेशे किं बीजम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **हरिप्रिया** इति. **हरेः** सर्वदुःखहर्त्तुः **प्रियाः** प्रीतिपात्राणीति तद्दुःखनिर्हरणार्थं सर्वत्र प्रभोः आवेशे तत्सहभूतस्वामिन्याअपि सर्वत्र आवेशसम्भवः इति भावः. दास्यस्यैव स्वतन्त्रफलरूपत्वज्ञापनार्थम् आहुः **दास्यं करवाणि** इति. ननु दास्यं कथं सम्भवति बह्वीनाम् एकरूपेण इति आशङ्क्य आहुः **तावद्रूप** इति. एतेन समग्रदास्यसिद्ध्यर्थं स्वस्य स्वामिनीसमसङ्ख्यारूपसम्पत्तिः प्रार्थिता इति निरूपितम्. तथाच भगवतो अनन्तरूपेण रमणे समग्ररसानुभवइव एवम्भावे समग्रदास्यरसानुभवः सम्पद्यते इति भावः. दास्यं हि समये तदपेक्षितसम्पादनेन

भवतीति तदर्थम् आहुः **तदा तदा** इति. यदा-यदा यद् भवतीनाम् अपेक्ष्यं वसनभूषणाञ्जनानयनादि तत्समर्पणेन तदा-तदा अहं दास्यं करवाणि इति अर्थः. एतेन दास्ये न कर्मणीव विधिः नियामकः किन्तु सेव्येच्छैव तथा इति सूचितम्. किञ्च दास्ये कालनियामकत्वाभावार्थमपि आहुः **सदा** इति. एतेन निरन्तरकर्तव्यमेव एतद्दास्यं न अत्र कालापेक्षा इति सूचितम्॥११॥

एवं कालापेक्षिपरम्परादास्यं प्रार्थयित्वा सकलस्वामिनीकृपाबलसिद्ध्यर्थं तत्सम्बन्धित्वसिद्ध्यर्थं मुख्यस्वामिनीसर्वरूपसेवासिद्ध्यर्थं च ततः पुनः पूर्वं प्रार्थितमपि **''तमिस्रायाम्''** (श्लोक.३)इति श्लोके चरणसम्मार्जनरूपं साक्षाद् दास्यं परम्परादास्यफलरूपं प्रकारान्तरेण सर्वान्ते प्रार्थयन्ते **गेहाद्** इति. ॥११॥

गेहात्[७] निकुञ्जं निशि सङ्गतायाः प्रियेण
तल्पे विनिवेशितायाः ॥
स्वकेशवृन्दैस्तवपादपङ्कजे[८] सम्मार्जयिष्यामि
मुदा कदा नु[९] ॥१२॥

गेहात् भगवत्सम्बन्धाभावे प्रतिबन्धकत्वेन त्याज्या इति अर्थः. एतेन प्रभुसम्बन्धो न गृहत्यागमन्तरा सम्भवति इति निरूपितम्. यद्वा, **गेहाद्** वियोगानुभवस्थानाद् एतदर्थमेव प्रभुणा अनिच्छायामपि गृहप्रेषणात्. अतएव उक्तं **''वासुदेवानुमोदिता''** (भाग.पुरा.१०।३०।३८)इति. ननु **गेहाद्** निर्गतायाअपि प्रभुणा सङ्केताज्ञापने स्थितिस्थलाज्ञानात् कथं प्रियप्राप्तिः इति आशङ्क्य आहुः **निकुञ्जम्** इति. प्रभुणा स्वस्थितिज्ञापनार्थमेव निकुञ्जप्रकटीकरणाद् इति भावः. एतेन प्राप्तफलानामेव भक्तानां परित्यागः सार्थकः इति निरूपितम्. अतएव उक्तं सन्न्यासनिर्णये श्रीमदाचार्यैः **''अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः''** (सं.नि.६) इति. ननु एवं परित्यागेन सङ्केतस्थलगमनेऽपि न लीलाकालानुदये कथं प्रभुसम्बन्धोदयः ? इति ज्ञापनार्थम् आहुः **निशि** इति. वरदत्तलीलाधिष्ठानरूपालौकिककालरूपरात्रौ इति अर्थः.

एतेन रसपोषकतया लीलायां कालोऽपि अपेक्षितो नतु तल्लीलायाः कालाधीनत्वम् इति निरूपितम्. अतएव पञ्चाध्याय्याम् **''आदौ मनश्चक्र''** (भाग.पुरा.१०।२९।१)इति मनःकरणम् उक्त्वा तदुत्तरमेव शरदादीनां प्रादुर्भावनम् इति निरूपितम् आचार्यैः. ननु योग्येऽपि काले तद्योग्यदेशसंयोगाभावे न फलसिद्धिः इति अभिप्रेत्य आहुः **निकुञ्जं संगताया** इति. **निकुञ्जं** रसानुभवैकप्रयोजनार्थाविर्भावितप्रदेशविशेषं **सं** सम्यक् एकान्ते **गताः** प्राप्ता या निःप्रत्यूहं तद्देशसंयुक्तायाः इति अर्थः. एतेन प्रभुणा अस्वानुभवहेतुभूतदेश-कालयोः आविर्भावितयोरेव परित्यागेन प्रियप्राप्तौ फलसम्बन्धइति. फलस्य एतस्य निःसाधनत्वं प्रभुदानमात्रसाध्यत्वं च उक्तम्. अतः परं सकलसामग्रीसम्पत्तावपि नायिकाप्राधान्येन रसत्वसिद्ध्यर्थम् एतद्रसस्य प्रभुप्रयत्नसाध्यत्वम् इति वक्तुम् आहुः **तल्पे विनिवेशिताया** इति. प्रथमप्रवृत्तौ व्रीडेति भावोद्गारिण्या दृष्ट्या अवलोकयन्ति भगवद्भावम् उद्बोधयन्तीव तल्पाद् अदूरे भेदेन स्थितेति **प्रियेण तल्पे** स्वनिर्मिते प्रसूनादिभिः सखीभिः वा तथाकृते लीलारसानुभवानुकूला अत्यन्तरङ्गप्रदेशरूपे स्वाधिष्ठिते अर्थाद् लज्जासेतुः विभञ्जनाय बलात् करं गृहीत्वा **वि**शेषेण स्वसंयुक्ततया तत्राऽपि **नि**तरां स्वोत्सङ्गएव **वेशितायाः** प्रवेशिताया उत्सङ्गे उपवेश्य करैः आच्छादिताया इति अर्थः. एतेन प्रभुः पुष्टिमार्गे स्वतएव सर्वं करोति न स्वमर्यादां च काञ्चित् स्थापयति इति बोधितम्. ननु एवं स्वतः प्रभोः सर्वकरणे को हेतुः ? इति चेत् तत्र आहुः **प्रियेण** इति प्रीतिविषयेण इति अर्थः. एतेन अत्रत्यम् अखिलगोवर्द्धनोद्धारणादिरूपमपि कार्यं प्रभुः प्रीत्यैव विदधाति न निर्बन्धेन इति ज्ञापितम्. अतएव उक्तं **''प्रीतः प्रोवाच सस्मितं शुद्धभावप्रसादित''** (भाग.पुरा.१०।१९।१८) इत्यादि श्रीभागवते. एवं समयं निरूप्य तत्सामयिकचरणसम्मार्जनरूपं दास्यं प्रार्थयन्ते **पादपङ्कज** इति. चरणस्य भक्तिरूपत्वेन सुखसेव्यत्वबोधनार्थम् आहुः **पङ्कज** इति. एतेन भक्तिरसक्लिन्नहृदयदेशएव एतदाविर्भावो भवति इति सूचितम्. द्विवचनं पुष्टिभक्तेरपि भावरूपायाः संयोगविप्रयोगभेदेन उभयविधत्वज्ञा-पनार्थम्. यद्वा, दास्यभावद्वैविध्यं प्रदर्शयितुं **'पङ्कज'**इति वचनम्. दास्यभावस्याऽपि केवलप्रभुसहितस्वामिनीविषयत्वेन उभयविधत्वात्. पङ्कजत्वे-

ऽपि कोमलताधिक्यबोधनाय आहुः **तव** इति. स्वामिनीचरणयोः कमलाधिककोमलत्वाद् इति भावः. अतएव अतिकोमलचरणसम्मार्ज्जनसाधनमपि भिन्नमेव आहुः **स्वकेशवृन्दैः** इति. स्वस्य उत्तमाङ्गोद्भवाः **केशाः** स्वामिनीचरणसम्मार्जनसाधनतया **कस्य** मुखस्य **इशाः** सम्पादकाः नियामकाः वा तेषां **वृन्दैः** समूहैः एकीकृत्य स्थापितैः इति अर्थः. एतेन स्वामिनीविषयक - दास्यभावसम्पादको अलौकिकशरीरहेतुभूतचरणरेणुसम्बोधोऽपि मस्तके सर्वतो भावान्तरोत्पत्तिभयाभावाय प्रार्थितः इति बोधितम्. **केशवृन्देष्वेव** एतदुपयोगित्वेन अतिशयभावभरबोधनाय आहुः **स्व**इति. एतेन एतेषां यदेव स्वाङ्गेषु स्वामिनीदास्योपयोगि तदेव स्वीयत्वेन भानविषयो न अन्यद् इति सूचितम्. सर्वेषां केशानां तत्सम्बन्धसिद्ध्यर्थम् आहुः **वृन्दैः**इति. समूहैः इति अर्थः. एतेन सर्वैः मिलित्वा एकीभूय एतच्चरणयुगलदास्यमैव विधेयम् इति स्वीयान् प्रति उपदेशोऽपि सूचितः. ननु यद्यपि एतद् अतिदुर्लभं स्वामिनी परमकरुणासाध्यत्वात् तथापि मनोरथः स्वाधीनइति तन्मात्रमेव क्रियत इति बोधयितुम् आहुः **कदा** इति कस्मिन् काले इति अर्थः. आशा तु वर्ततएव अङ्गीकृतिविश्वासाद् इति आहुः **सम्मार्जयिष्यामि** इति. **सं** सम्यक् दृष्ट्वा शोभां मृदुलतां च मनसि निधाय भीत्या तदैकपरतया च **मार्जयिष्यामि** रजो दूरीकरणेन प्रियाङ्गसंगयोग्ये करिष्यामि इति अर्थः. एतेन एतस्मिन् अवसरे स्वामिन्याअपि प्रियाङ्गस्पर्शभावभयेन एतदभिलषितमिति तदभिलषितसम्पादने दास्यसिद्धिः इति भावः. अतएव अभिप्रायपरिज्ञानेन स्वामिन्या दास्ये निर्विचिकित्सप्रवृत्तिः इति बोधनार्थम् आहुः **मुदा** इति आनन्देन इति अर्थः. अभिप्रायपरिज्ञाने हि आनन्दः असह्यतालगनभयाभावाद् (?!) इति अर्थः. यद्वा, **मुदा** सन्तोषेण इति अर्थः. एतेन चिरकालाभीष्टतमपदार्थप्राप्तौ भवत्येव तोषइति तथा भावः. **नु** इति वितर्के. **सम्मार्जयिष्यामि** शिरश्चालनेन अत्र अर्थो वाच्यः. यतो अस्माकं फलस्वरूपस्वयोग्यतादि अतिदुर्लभत्वस्फूर्त्या न निःसंशयं तत्फलप्रत्याशा हृदये समुल्लसति इत्यतः तथा इति अर्थः. एवं द्वादशभिः श्लोकैः स्वामिनीस्तोत्रम् ईरितम् प्रभुभिः स्वसुखायैव स्वीयानां ज्ञापनाय च.

तदीयकृपयैवैषा तदर्थविवृति मया॥
स्वाचार्यदासदासेन हृद्गता प्रकटीकृता॥१॥
ततः श्रीवल्लभाचार्याः प्रभवस्तत्तनूद्भवाः॥
निजदासस्य चापल्यं क्षमन्तु करुणायुताः॥२॥
स्वामिन्य स्वामिसंयुक्ता दासीशतसमन्विताः॥
कृपां कुर्वन्तु दासेऽस्मिन् मयि दीने सदाश्रिते॥३॥

इति श्रीमन्निजाचार्यदासानुदासविरचिता
स्वामिनीस्तोत्रविवृतिः
समाप्ता.

(मातृकासंग्रहः)

१. क कामवन.
२. (ख) एशियाटीक सोसायटी कोलकत्ता. संवत १९२६ श्रावणसुदी १५.क्र.नं.१०२९३.
३. ग श्रीप्रथमेशसंग्रहः.
४. घ कामवन.
५. (ङ) वेदान्तभट्टाचार्य पंचनद्युपाह्य गट्टुलालशर्मणः संवत १९०५ आश्विनमासे शुक्लपक्षे तीथौ १२ चंद्रवारे संपूर्ण मकनजीसुत गोविन्दभट्टेन लिखितम्.
६. (च) अज्ञात.
७. (ज) कामवन.

(पाठभेदः)

(१). 'त्वाय' इति क-पाठे, 'त्वाच' इति ख,ग,च पाठेषु. 'त्वांच' इति ङ पाठे, 'त्वात्' इति घ पाठे.

(१अ). 'यदुपतिः' इति मुद्रितपाठे.
(२). 'दासीनाम्' इति क,ख,ग,च पाठेषु, 'सखीनाम्' इति ङ पाठे.
(२अ). 'कृतार्थोऽहम्' इति मुद्रितपाठे.
(२आ). 'परिधेयस्ववसनम्' इति मुद्रितपाठे
(३). 'प्रत्यक्ष' इति क.पाठानुसारेण.
(३अ). 'नमामि' इति मुद्रितपाठे.
(४). 'शयनभावशेषे' इति मुद्रितपाठे.
(५). 'तु' इति मुद्रितपाठे.
(६). 'एतस्या रसात्मकत्वस्य' इति क.पाठे.
(७). 'गेहे' इति मुद्रितपाठे अशुद्धएव.
(८). 'पंकजम्' इति क, मु.पाठयोः.
(९). 'कदापि' इति मु.पाठे.



॥ श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् ॥
(श्रीव्रजभाषानुवाद)

अथ स्वामिनीस्तोत्रकी भाषा लिख्यते. श्रीस्वामिनीजीकी स्तुति श्रीगुसांईजी करत हें.

यदैव श्रीराधे! रहसि मिलति त्वां मधुपतिः
तदैवाकार्याऽहं निजचरणदास्ये निगदिता॥
मुदा चन्द्रावल्या शशिमुखि! कृतार्थास्मि भवति
तथा सम्पन्ने मां स्मरसि यदि सम्प्रेषणविधौ॥१॥

याको अर्थ. श्रीगुसांईजी श्रीस्वामिनीजी प्रति विज्ञप्ति करत हें जो हे श्रीराधे! जबही तुम एकान्तविषें श्रीप्रभुजीसों मिलत हो तब तहां आनन्दसों श्रीचन्द्रावलीजीसों कहो जो मोकों आप 'चरणदासी' या प्रकार कही करि बुलावो. हे शशिमुखि! तब मैं कृतार्थ होउगी. जब तुम मोकों एकान्तविषें मिलों तेसेही बुलावो तेसें ही स्वप्नविषें मेरो ही स्मरण करों सम्यक् काहू पठवनविधि विषे॥१॥

कदाचित् कालिन्द्यामहनि तरलापाङ्गरुचिरा
समाप्लुत्याकण्ठं किमपि परिधायाशुवसनम्॥
स्मरेन् मां चेदुत्तारितवसनसङ्क्षालनविधौ
कृतार्थाऽहं भूयान्निजचरणदासीति भवति॥२॥

अब कहूं एक दिन विषें श्रीकालिंदीमें केसे हे श्रीराधाजू! चंचल हें सुंदर कटाक्ष जिनको एतादृश आकंठ पर्यंत सम्यक् आप्लुत्य ह्वे हे आकण्ठपर्यन्त तब कछु शीघ्र सूके वस्त्रकु तनपें परिधान करि पहिरि करि तब जो मेरो स्मरण करि उतार्यो जो आर्द्र वस्त्रको सम्यक्क्षालनकरिवेकों तब मैं क्षालन करि कृतार्थ होउगी. तुम आपने

चरणकी दासी यों करि (स्मरण) करिहो तुम ॥२॥

तमिस्रायामश्रावितचरणमंजीरनिनदा
कथञ्चित् संप्राप्ता प्रियतमनिकुञ्जं चरणयोः ॥
मुदा तल्पारोहे कमलमुखि! सम्मार्जनविधौ
कृतार्थैवाहं चेत् स्मरति भवती मां सकृदपि ॥३॥

तमिस्रा कहे अंध्यारे अभिसारविषें **अश्रावित** कहे गूंगे कीने हें चरणनिके घूंघरूके नाद शब्द तब क्योंहू करि सेने सम्यक् प्राप्ति भये प्रियतम निकुंजको तब दोऊ चरण आनंदसों हे कमलमुखि! शैया पर चढ़न विषें दोऊ चरण सम्यक् संमार्जन करिवेको जो एकहूवार मोकों स्मरण करो तो मैं कृतार्थ ही होऊ ॥३॥

विविधबन्धरतिश्रमसीकराकुल-
कपोलमुदीक्ष्य हरिं यदि ॥
स्मरसि मां व्यजनार्थमपि क्षणं
सुमुखि! धन्यतमास्मि तदा ह्यहम् ॥४॥

भांतिभांतिके चोरासी बंधन आसन करि केलि संभोगके श्रम करि प्रस्वेदजलकणिका करि व्याप्त हे कपोल ऊंचे करि जब श्रीठाकुरजीकों देखें तब एक घडि मोकूं पंखा करिवेको स्मरण करहुगे तब हे सुमुखि! मैं धन्यतम निश्चय हो ॥४॥

यदि स्नानव्याजात् तरणितनयातीरमहनि
प्रयातुं प्राणेशोचितविविधवस्तूनि सुमुखि! ॥
गृहीत्वा गुप्तानि स्मरसि परिधेयं स्ववसनम्
ग्रहीतुं मां स्वामिन्यहमिह कृतार्थैव हि तदा ॥५॥

जब स्नानके मिस करि सूर्यकी पुत्री जो श्रीयमुनाजी तिनकी तीर विषे दिनको आवत हो, अपने प्राणेशको उचित भांति भांतिकी वस्तुको ले जायवेको. हे सुमुखि! विविध वस्तुको ले करि छिपाइके ता पाछे आपने पहरिवेके वस्त्र लेवेको मेरो स्मरण करोगे तब हे स्वामिनीजी! मैं निश्चय ही कृतार्थ होउगो॥५॥

कुतूहलाभिनिवेशत: प्रियेण पाणिकर्षणाद्-
इतस्ततो विपाटितां स्वकञ्चुकीम् अतिप्रियाम्॥
प्रदातुम् उन्नताङ्गि मां सकृद्यदि स्मरस्यहो-
तदा मुदास्मि राधिके! कृतार्थतापदंगता॥६॥

कौतुकलीला विषें गुदगुदीआदि... लीलाविनोद करत प्राणप्रिय करि श्रीराधाजीकों श्रीहस्त इहांते खेंचते विशेषत आपनी (कंचुकी) फाटी अत्यंतप्रियतम हे सो कंचुकी फाटी. सो फाटीकों संवारि देवेकों तब एकवार मेरो स्मरण करो तब मैं हे राधिके! कृतार्थपदवीको प्राप्त भयो॥६॥

चारुप्रसूनमयतल्पगता स्वनाथे
ताम्बूलचर्वितमुदारमुखाम्बुजस्थम्॥
दातुं स्थिते निजमुखाब्जगतं प्रदातुं
मां चेत् स्मरस्यनुचरीं क्व तदा नु मामि॥७॥

सुंदर पुष्पकी शैयाविषें जब अपने प्राणनाथकी प्राप्तिविषें तब श्रीठाकुरजीतें चर्वित जो तांबूल आपुनें उदारमुखकमल जे थोरोसोक श्रीस्वामिनीजीके प्रसन्न बाढ़े भये मुखमें तब श्रीस्वामिनीजीके मुखमें जो प्रथम आपुनो चर्वित तांबूल थोरोसोक आपुने मुखकमल स्थितिप्राप्ति तब देवेकों जब मेरो जो स्मरण करो अनुचरीकों तब मैं प्रणाम करूं तब मैं कृतार्थ भयो॥७॥

निकुञ्जे पुष्पालीरचितशयनात् केलिजनित
श्रमाम्भःसङ्क्रान्ताननकमलशोभाहृतमनाः ।।
समुत्थायायान्ती सहजकृपया केलिदलितां
स्रजं दातुं राधे! स्मरसि यदि मां त्वं किमपरैः ।।८।।

निकुंज विषें पुष्पकी पंक्ति करि रची जो शयनशैया. तै शैया केसे हें. उहां शैयाकेलिजनित ता केलितें उपज्यो जो श्रमजलकणिका ता करि व्याप्त हे श्रीमुखकमलीशोभा ता करि श्रीठाकुरजीके मनकों हरत हें. एतादृश निकुंजमें केलिशैयातें तादृश शोभायुक्त सम्यक् उठि करि जात. आपुन सहजकृपा करि केलि करत मर्द्दित जो मालाकों देवेकों हे राधे! जब तुम मेरो स्मरण करे यातें ऊपर कहा हें।।८।।

यदा चलसि मार्गता शयनतापि शेषे यदा
पदाम्बुजमलङ्करोष्यमलकुङ्कुमं त्वं तदा ।।
मुहुः सुमुखि राधिके! किमधिकं नु सम्प्रार्थये
सदा भवतु मे भवच्चरणपङ्कजारक्तता ।।९।।

जब तुम मार्गमें चलोंगे और तुम जब चरणकमलको अलंकार करोगे, निर्मलमें रसत्व करि जब तुम चलो तब तामें मार्ग होऊं! मेरे हृदयकमलपर चरण धरत चलो जो जब तुम शयन करो तब शैया होऊं और जब चरणकमलको कुंकुम करिके अलंकार करो तब तो मैं आरक्तता होऊं. हे सुमुखि!राधिके! वारंवार कहा अधिक प्रार्थना करूं. विर्तक करिके कहत हों. मैं सदा ही तुम्हारे चरणकमलमें आरक्तता ही होऊं।।९।।

प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावेक्षणोद्यद्-
रसभरजवरासामन्दमोदाकुलानाम् ।।
प्रतिपदतलरुग्भिर्गोपसीमन्तिनीनाम्-
अरुणतरहृदम्भोजन्मने मे नमोऽस्तु ।।१०।।

प्राणप्रियतमके श्रीहस्तकमलके स्पर्श करि भाव करिके जो देखनो तातें जो कछु रस उदय भयो ताके रसके वेगकी रास करि बहुत मोद करि जो व्याप्त हे. ताको गोपसीमंतिनीको प्रतिपदतल एक एक चरणकी कांति करि श्रीठाकोरजीको हृदयकमल रक्ततम हो. अंभोजजन्म सों कमलको मेरो नमस्कार हें॥१०॥

यावन्ति पदपद्मानि भवतीनां हरिप्रिया:।
तावद्रूप: सदा दास्यं करवाणि तदा तदा॥११॥

तुम जो श्रीठाकुरजीकी प्रिया हो तो नेक तुम्हारे चरणकमल हे ते सेवकरूप करि सदाही दासत्व करुं. तबही बहुत आनंदसों होऊं॥११॥

गेहात् निकुञ्जं निशि सङ्गताया: प्रियेण
तल्पे विनिवेशिताया:॥
स्वकेशवृन्दैस्तवपादपङ्कजे सम्मार्जयिष्यामि
मुदा कदा नु॥१२॥

गुसांईजी कहत हें घरतें निकुंज विषें रात्रिकों श्रीठाकुरजीके संग जात और प्राणप्रेष्ठकी सज्या विषें अभिनिवेश करत खेचत(?) श्रीठाकुरजी आपुनी शैया विषें आनंदसों तब समार्जनी करूंगी. या भांतिसों श्रीगुसांईजी श्रीस्वामिनीजीसों विज्ञप्ति करत हें॥१२॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं
श्रीस्वामिनीस्तोत्र
ताकी भाषा सम्पूर्ण



।। श्रीललितत्रिभङ्गीस्तोत्रम् ।।

नमः पितृपदांभोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ।।
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम् ।।१।।

वामजान्वन्ताश्रितातिवक्रदक्षिणजानुकम् [३] ।।
एतत्संप्राप्तसौभाग्यं विचित्रमणिभूषणम् ।।२।।

नखचन्द्रमहःक्षिप्तभक्तसन्तापसन्ततिः [५] ।।
विचित्रभावसन्तानविचित्रीकृतमानसम् ।।३।।

दक्षिणपदतलपद्मं वामप्रपदस्य वामतः प्रकटम् ।।
सौन्दर्यं किमपितरां प्रकटयति प्रेमवल्लभ्यम् [६] ।।४।।

विकसित-शारद-कमलोदरमदहरणेऽपि तत्र पद्माङ्कम् ।।
वहता निरवधिरसता निवेद्यते स्वीयभक्तेषु ।।५।।

भक्तार्तिहरणे काञ्चित् मर्यादां [७] नैव मन्यते ।।
इति ज्ञापयितुं वज्ररेखां धारयति स्फुटाम् [८] ।।६।।

अनुग्रहानिलो यत्र तत्साम्मुख्यं भजन् त्यजन् ।।
अन्याशां राजते भक्ते पदमेवमिति [१०] ध्वजम् ।।७।।
धारयन् ज्ञापयत्येषः त्यक्तभक्तान्यदिक् प्रभुः ।।
अतएव हि तत्सेव्यो [११] निर्दोषगुणविग्रहः ।।८।।

एतत्पदपंकजमधुमत्तस्याऽयं निसर्गएवाभूत् ।।
नेतरभावं भजते यदंकुशो नित्यमेवाऽस्ति ।।९।।

कदाचिद् विविधा लीला: कर्तुं भक्तै: सह प्रभुः ।।
एवंभूतो वादयति वेणुमिष्टं करोति च ।।१०।।

प्रपदोपरि सञ्चारिचारुपीतान्तरीयकः[१२] ।।
गुञ्जद्भ्रमद्भ्रमरयुग्वनमालातिसुन्दरः[१३] ।।११।।

विविधरूपसुचारुसुगन्धयुङ्मृदुलपुष्पचयैर् अतिसुन्दरम् ।।
ग्रथितमध्यमदेशम् अतिप्रियाकरयुगेन[१५] हृदि स्रजि कामये ।।१२।।

ग्रीवोरःस्थलकटितटकाञ्चीजानुप्रपदयोः सततम् ।।
विहरन्ती वनमालासक्तासीदलिकुलैर् मत्तैः ।।१३।।

गभीर[१८]नाभिविलसत्काञ्चीदामलसन्मणीन् ।।
स्वरुचारोचयन्नन्यानप्याकल्पान् बभौ प्रभुः ।।१४।।

त्रिगुणानिलसञ्चारचलत्प्रान्तातिसुन्दरम् ।।
उत्तरीयं बिभ्रदंसे शुशुभेऽतितरां हरिः ।।१५।।

विविधमहामणिखचितैः परितो मुक्ताफलावलिग्रथितैः ।।
वलयाङ्गदकङ्कणचयसकलाङ्गुलिभूषणैः रेजे ।।१६।।

कट्या कुटिलया कांचिद्[१९] भुवनत्रयमोहिनीम्[२०] ।।
तनोति सुषमा[२१] नाभ्यां[२२] सह साम्येऽपि दुर्लभाम् ।।१७।।

रसभरभरितं पात्रं नामितम् अन्यत्र तं रसं कर्तुम् ।।
एकत आनतम् उन्नतम् एकत इह दृश्यते सर्वैः ।।१८।।

कटितटगतभाववरसानां व्रजाङ्गनाहृत्सुपूरणे सापि ।।

अभवत् तथैव हृष्टा दृष्टा परम् उपपद्यते काञ्च्या ।।१९।।

वेणुरवानुगया नवनवचापल्यं प्राप्त[२३]वत्योच्चैः ।।
व्रजतरुणीमानसधनसम्पन्नयाभूज्जगज्जडवत् ।।२०।।

नयनाम्बुजसौन्दर्यं मनसां वचसाम् अगोचरं[२४] सत्यम् ।।
व्रजसुन्दरीनयनमनोनुभवैकगतं परं हृद्यम् ।।२१।।

तत्रापि भावगर्भं तरलतरं प्रियतमामुखाम्भोजे ।।
स्थगितं भवदरुणतरप्रान्तं प्रकटानुरागमिव[२५] ।।२२।।

विचित्रवेणुतानाब्धितरङ्गान्दोलिताञ्चलम् ।।
स्थिरं वा तरलं वेति नैवाभूद् अवधारितम् ।।२३।।

स्मितामृतभरेणात्मभक्तहृत्प्राणपोषकम् ।।
तत्रैव लयहेतुर् वा तेषामिति न वेद्म्यहम् ।।२४।।

भ्रूचापः सन्धितः कर्णावध्याकृष्टः प्रियाहृदि ।।
विद्धः प्राणानाजहार स्वस्मिन् अस्मिन् दया न हि ।।२५।।

स्मित-कौटिल्य-चापल्यारुणिमामृतसिन्धुषु ।।
मग्नाः कथञ्चिद् जीवन्ति भक्तास् तत्तत्स्वभावतः ।।२६।।

शृङ्गाररससर्वस्वं भक्तभावामृतावृतिम्[२६] ।।
अनुरागचयंताराश्चैत्यापाङ्गैर् बिभर्त्यसौ ।।२७।।

सालिकुलं कमलकुलं जितं निजाकारमात्रतो जगति ।।
प्रकटातिगूढरसभरभरितो[२७] अभवत् कुसुमशरकोटिः ।।२८।।

स्निग्धता मुग्धता वापि चातुरीसहजापि वा ।।
नैव वर्णयितुं[२८] शक्यानुभवन्तीभिरप्यहो ! ।।२९।।

मन्ये गोकुलतरुणी - नवनवभावाः स्वराससञ्जाताः ।।
रतिरससुधाब्धिपतितप्लवे प्लवन्ते निसर्गमधुरतराः[२९] ।।३०।।

सम्मुखप्रेक्षणेऽपाङ्गप्रेक्षणे[३०] च यथा रसः ।।
तथारुणाभी रेखाभिर् ज्ञापयत्यम्बुजेक्षणः ।।३१।।

विरलारुणरेखाभिः सितगर्भस्य नेत्रयोः ।।
आविर्भवति या शोभा तां न वक्तुं क्षमा रमा ।।३२।।

पक्ष्माणि तरुणीभावान् आनेतुं चरणाब्जयोः[३१] ।।
कराङ्गुलिचयाभानि भासन्ते परितः[३२] बतः[३३] ।।३३।।

अतिसारस्यतो नेत्रे सरसः परितोऽभवत् ।।
रसाङ्कुराः पक्ष्मरूपा भासन्ते सुषमास्पदाः ।।३४।।

आदायादाय भक्तानां भावान् अतिमनोहरान् ।।
निमेषमिषतः स्वान्तः सञ्चयं कुरुतो[३४] मुदा ।।३५।।

स्वतः समर्थम[३५]प्येतत् त्रिलोकीमोहने बत ! ।।
स्मितं सहायं सम्प्राप्य यत्करोति न वेद्मि तत् ।।३६।।

रसपूरैः प्लावयति स्वजनविवेकत्रपाधृतिरथवा[३६] ।।
तानेव तद्रसाब्धिषु मग्नान् कुरुते तदैवैतत् ।।३७।।

एतत्कार्यस्य भवने प्रतिबन्धेऽपि चेश्वरः ।।

न शक्तो प्रतिबद्धो यत् तत्स्वभावस्वभावतः ॥३८॥

तत्रापि चेत्सहायोऽभूद् उदारो वेणुनिःस्वनः ॥
त्रिभङ्गश्च[३७] त्रिजगति न जाने का दशावशा[३८] ॥३९॥

तिष्ठत्वन्यकथैतादृक्स्वरूपं प्रतिबिम्बितम् ॥
क्वचित् पश्येत् स्वयं नाथः कां दशां नु भजेत् तदा ! ॥४०॥

प्रायो न दर्शनापेक्षा यत्स्वयं तद्रसात्मकः[३९] ॥
प्रियाहृदयनेत्रेषु निरुद्धोऽस्ति सुनायकः ॥४१॥

एतत्सन्दर्शने तु स्यात् प्रमदाभावएव हि ॥
तच्छान्तिकर्ता कोन्योऽत्र भवेत् तेनास्ति नैव तत्[४०] ॥४२॥

अथवा तद्रसात्मा तद्दर्शनेनतितोषितः[४१] ॥
भवति स्वप्रियावृन्दवृतोऽयं गजराडिव ॥४३॥

कदाचिदथवा प्रेष्ठा[४२] वियोगार्त्या तदात्मकः ॥
तासाम् आविर्भवेद्[४३] भावैरेव तां शामयत्यपि ॥४४॥

दृष्ट्यापि रसरूपत्वं मयि जानन्तु मामकाः ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभङ्गं भक्तलोचने[४४] ॥४५॥

रसात्मत्वं[४५] स्फुटं स्वस्मिन् भक्तैर् नैवानुभूयते ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभङ्गं भक्तलोचने[४६] ॥४६॥

पुष्टिभक्तिं स्थिरीकृत्य मर्यादां[४७] च तदाश्रिताम् ॥
कृत्वा वृन्दावनक्षोणीम् अयथापूर्वसंस्थिताम्[४८] ॥४७॥

हृदयं भक्तहृदये स्थिरं लोकान् निजान् परान्।।
पुष्टिदिश्येव सुमुखान् कृत्वा संराजते प्रभुः।।४८।।

उद्बुद्धशृङ्गाररसस्वरूपो भूषणाद्यपि[४९]।।
तादृगेवाखिलाङ्गेषु बिभ्रत् संराजते प्रभुः।।४९।।

श्रुत्याद्यगम्यं[५०] यद्रूपं स्वल्पकेन[५१] मया कथम्।।
तन्निरूपयितुं[५२] शक्यं तदीयत्वाद् भवेदपि।।५०।।

तथापि श्रीगोकुलेऽस्मिन् आविर्भूतो विराजते।।
अनन्यभक्तैर् अनीशं पीयते तत्सुधासवः।।५१।।

स मत्प्रभुः सदाऽहं तु तत्पादाब्जरसोस्मि वै।।
तत्प्रभावाद् यथाशक्ति वर्णयाम्यविचारयन्।।
(अयंश्लोकः मुद्रितपाठेएव अस्ति. अन्यत्र नोपलभ्यते).

अहञ्च तत्पादपद्मरेणुरश्मीति मत्प्रभुः।।
स चास्तीति यथाशक्तिर् वर्णयाम्यविचारयन्।।५२।।

स्वतो मल्लोचनमनोवृत्तिः वृन्दावनप्रभुः।।
बृहद्वनप्रियः शश्वत् शिशिरीकुरुतात् स्वतः।।५३।।

अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूपिता[५३] परम्।।
तेन प्रसन्नो भवतु दासे श्रीविट्ठले[५४] प्रभुः।।५४।।

इति श्रीमद्विट्ठलनाथविरचितो
ललितत्रिभङ्गनामा ग्रन्थः
सम्पूर्णताम् अगमत्

॥ श्रीकृष्णवागधीशसूनुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीललितत्रिभङ्गीस्तोत्रम् ॥

(श्रीमद्गोस्वामिरघुनाथात्मजव्रजनाथविरचिता)

मयि निःसाधने दीने करुणः सम्प्रसीदतु ॥
स्वदासार्थकृताशेषसाधनो वल्लभः प्रभुः ॥१॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः ललितत्रिभङ्गस्वरूपनिरूपणं चिकीर्षवो निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिकामाः[१] स्वीयशिक्षायैः सर्वरूपत्वात् स्वतातचरणानां नत्यात्मकं मङ्गलम् आचरन्ति **'नम'** इति.

नमः पितृपदांभोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ॥
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम् ॥१॥

पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो नमः इति अन्वयः. नमस्यत्वहेतुम् उत्कर्षम् आहुः **यन्निवेदनाद्** इति. यत्कृतनिवेदनेनैव **अस्मत्कुलं निष्कलंकं** ज्ञात्वा सदानन्देन प्रभुणा स्वाधीनीकृतम्. सकलंकत्वे अर्पणायोग्यत्वात् निवेदनं न कुर्युः उत्तमानामेव पदार्थानां तद्योग्यत्वात्. श्रीमदाचार्यकृतस्वीयत्वभावनयैव निष्कलंकत्वं कुले ज्ञेयम्. कलङ्कः अत्र भगवद्वैमुख्यम्. तथाच श्रीमदाचार्यनिवेदितपदार्थान् भगवान् सर्वथा अवश्यम् अङ्गीकरोत्येव इति उत्कर्षो निवेदनेन[२] निरूपितः श्रीमदाचार्यचरणेषु पर्यवस्यति. ॥१॥

ललितत्रिभंगस्वरूपं वर्णयन्ति **वामजानु...** इति.

वामजान्वन्ताश्रितातिवक्रदक्षिणजानुकम्[३] ॥
एतत्संप्राप्तसौभाग्यं विचित्रमणिभूषणम् ॥२॥

वामजानुः दक्षिणेतरो यो **जानुः** तदन्तम् **आश्रितो** यो अत्यन्त[४] **वक्रो दक्षिणो जानुः** यस्य सः. एतेन अवस्थितिविशेषेण **सम्प्राप्तः सौभाग्यं** शोभातिशयः चरणकमलसम्बन्धि**विचित्रमणिभूषणैः** यस्मिन् स्वरूपे सः. यद्वा, एतस्माद् अवस्थितिविशेषात् **सम्प्राप्तं सौभाग्यं** यैः. एतादृशानि चरणसम्बन्धि - नानाविधमणिजटितानि **भूषणानि** यस्य. एतेन मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिसम्बन्धेएव शोभातिशय इति सूचितम् .॥२॥

तत्सामयिक - चरणनखचन्द्रदर्शनजनितभावभावितं रूपं वर्णयन्ति **नख-चन्द्र...** इति.

नखचन्द्रमहःक्षिप्तभक्तसन्तापसन्ततिः[५] ॥
विचित्रभावसन्तानविचित्रीकृतमानसम् ॥३॥

नखचन्द्राणां यन् **महः** तेजः प्रकाशः तेन दूरीकृता **भक्तानां सन्तापसन्ततिः** दुःखपरम्परा येन. सवासनः सन्तापो निवृत्त इति हृदि उद्गता ये विविधा मनोरथाः तेषां ये तरङ्गाः तैः **विचित्रीकृतं** तत्तद्भावविवशं भक्तानां **मानसं** येन. यद्वा, **भक्तानां** तादृशैः **भावैः विचित्रीकृतं** तत्तन्मनोरथदित्सया भक्तवशीकृतं स्वहृदयं येन. एतादृक्स्वरूपं भावयामि भक्ताश्च भावयन्तु इति शेषेण युग्मार्थः. एतादृक् स्वरूपं मद्हृदये विराजताम् इति शेषेण वा तदर्थः ॥३॥

तत्सामयिकरसदित्सया प्रकटितसौन्दर्यं रसदानानुकूलप्रेमार्द्रचित्तभक्तैकज्ञा-नविषयइति आहुः **दक्षिण...** इति.

दक्षिणपदतलपद्मं वामप्रपदस्य वामतः प्रकटम् ॥
सौन्दर्यं किमपितरां प्रकटयति प्रेमवल्लभ्यम्[६] ॥४॥

दक्षिणपदतलस्थं चिह्नरूपं यत् **पद्मं** तद् **वामपप्रदस्य** वामपादाग्रस्य

वामभागे प्रतिफलनेन **प्रकटम्** अभिव्यक्तं सत् **किमपि** अनिर्वचनीयं **वामपदस्य** भगवतो वा **सौन्दर्यम्** अतिशयेन अभिव्यनक्ति. तच्च सौन्दर्यं प्रेमार्द्रचित्तैक **भक्तैः** ज्ञातुं योग्यं न अन्यैः इति. एतेन भगवदाशयो भगवत्सौन्दर्यं च तादृग्रसिकभक्तानुभूतिविषयः इति सूचितम्. अन्यचिह्नानाम् अप्रतिफलने पद्मस्यैव प्रतिफलने भगवदिच्छैव हेतुः प्रयोजनञ्च उक्तमेव ।।४।।

दक्षिणपदतले पद्मधारणहेतुम् आहुः **विकसित...** इति.

विकसित-शारद-कमलोदरमदहरणेऽपि तत्र पद्माङ्कम् ।।
वहता निरवधिरसता निवेद्यते स्वीयभक्तेषु ।।५।।

विकसितं विकासं प्राप्तानि प्रफुल्लितानि यानि **शारदकमलानि** तेषां स्वी**योदर**स्थशोभया जनितो यो **मदो** गर्वः तद्धरणार्थमेव चरणे **पद्मचिह्नं** धारयित्वा भगवता निरतिशयरसनिधित्वं मर्यादास्थस्वभक्तेषु ज्ञाप्यते. **निर्गता अवधिः** मर्यादा यस्य स **निरवधिः निरवधिरसो** विद्यते येषु ते **निरवधिरसाः** तेषां भावः तत्ता **निरवधिरसता**. कमलस्थितिस्थानत्वेन च भक्तौ रसरूपता बोधिता. पुष्टिभक्तौ पुष्टिभक्तेषु च ततो अधिकं रसरूपत्वं रसनिधित्वं कैमुतिकेनैव सिद्धम् इति भावः. भगवन्निष्ठा भक्तविषया वा तत्ता बोध्या ।।५।।

इदानीं प्रसङ्गात् केषाञ्चित् चिह्नानां धारणहेतुम् आहुः **भक्त...** इति.

भक्तार्तिहरणे काञ्चित् मर्यादां[७] **नैव मन्यते ।।**
इति ज्ञापयितुं वज्ररेखां धारयति स्फुटाम्[८] ।।६।।

भक्तानां लौकिकालौकिकविषयिणी या **आर्तिः** तन्निवारणे लोकवेद**मर्यादां** न अङ्गीकरोति सर्वथा दूरीकरोत्येव इति अर्थः. **इति** इति मुक्तमर्यादो[९] भक्तदुःखहरणैकशीलएव भगवान् **इति ज्ञापयितुं**

मर्यादादिविदारकवज्राकाररेखां सर्वानुभूतिविषयां **धारयति** इति अर्थः ॥६॥

अनुग्रह... इत्यादियुग्मम्.

अनुग्रहानिलो यत्र तत्साम्मुख्यं भजन् त्यजन् ॥
अन्याशां राजते भक्ते पदमेवमिति[१०] ध्वजम् ॥७॥
धारयन् ज्ञापयत्येषः त्यक्तभक्तान्यदिक् प्रभुः ॥
अतएव हि तत्सेव्यो[११] निर्दोषगुणविग्रहः ॥८॥

यस्मिन् भक्ते **अनुग्रह**रूपो वायुः **तत्साम्मुख्यं भजन् अन्याशां त्यजन्** वाति तस्मिन् **भक्ते** भक्तिरूपं पदाम्बुजं भक्तानुकूल्यं कुर्वन् दुःसङ्गादिनाऽपि अनश्यद् अनुग्रहविषयं जीवं स्वान् आधारं कुर्वन् **राजते** भक्तहृदये उदयं प्राप्नोति इति अर्थः. '**आशा**'शब्दश्च दिग्वाचकः. स्वीयभक्तेश्च **ध्वज**सादृश्येन सर्वोपरिविराजमानत्वं ध्वनितम्. अनुग्रहस्य च अनिलत्वोक्त्या तस्यैव तत्प्राप्तिसाधनत्वं द्योतितम्. अतएव "**तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्**" (भक्तिहेतुनि.१) इति अस्मत्प्रभुवचनं भक्तिहेतौ. ध्वजोऽपि यत्र वायुः वाति तत्रैव साम्मुख्यं भजते न अन्यस्यां दिशि. अनिलाजुष्टां दिशं तु त्यजत्येवेति उभयोः सादृश्यं स्फुटमेव **इति** इति. '**इति**'शब्दः अत्र पूर्वोक्तार्थं परामृशति. स्वचरणारविन्दे **ध्वजं धारयन्** इमम् अर्थं ज्ञानगोचरं कारयति. **एषः** भक्तपारवश्येन तथाप्रकटितसौन्दर्यः सर्वविधमनोरथपूर्तिकरणसमर्थः. **त्याजिता भक्तेभ्यो अन्या दिक्** अन्यविषयको मनोरथो येन. **त्यक्तो भक्तेभ्यो अन्य**विषयो येन इति वा अर्थः. **अतएव** इति यतो भगवान् **निर्दोष**पूर्ण**गुणविग्रहः अतो** भगवदेकनिष्ठतादृशनिर्गुणभक्तैः **सेव्यः** इति अर्थः ॥७-८॥

एतत्पदपंकजमधुमत्तस्याऽयं निसर्गएवाभूत् ॥
नेतरभावं भजते यदंकुशो नित्यमेवाऽस्ति ॥९॥

एतद् इति अनुग्रहाविर्भूतहृदयस्थं यत् **पदपङ्कजं** तस्य यन् **मधुः** उच्छलद्द्रावः तेन **मत्तः** तन्निमग्नचित्ततया तत्परवशः तस्य भक्तस्य **निसर्गएव** साहजिकएव स्वभावः एतादृशो **अभूत्** यद् भगवदतिरिक्ते चेतो वृत्तिमपि न करोति. यतः चरणारविन्दे सर्वदा **अङ्कुशं** राजते. **अङ्कुशं** च वक्रगतिं त्याजयित्वा ऋजुगतिं साधयति. तथाच मत्ततादशायामपि तादृक् स्वभावस्थैर्यसम्पादकम् **अङ्कुशम् अस्ति.** एतेन अङ्कुशधारणप्रयोजनपि उक्तमेव इति. अथवा, भगवतो हरेः **एतत्** परिदृश्यमानम् **एतत्** पूर्वोक्तस्थित्या अवस्थितं वा **पदनिष्ठं पङ्कजं पदमेव पङ्कजं** वा तस्य यन् मधु भक्तिरूपो मकरन्दः **तन्मत्तस्य** भक्तस्य. शेषो अर्थः पूर्वोक्तएव इति॥९॥

अथ इदानीं तादृशस्वरूपलीलाम् आहुः **कदाचिद्** इति.

कदाचिद् विविधा लीलाः कर्तुं भक्तैः सह प्रभुः॥
एवंभूतो वादयति वेणुमिष्टं करोति च॥१०॥

कदाचिद् स्वस्य भक्तानां च इच्छाविषयसमये, **विविधा लीलाः** अनेकप्रकारका अनेकलीला तादृश**भक्तैः** सह **कर्तुं** सर्वकरणसमर्थो ललितत्रिभङ्गः सन् **वेणुनादं** करोति. स्वस्य स्वीयानाञ्च इच्छाविषयं सम्पादयति॥१०॥

तादृक् स्वरूपसौन्दर्यं वर्णयन्ति **प्रपद...** इति.

प्रपदोपरि सञ्चारिचारुपीतान्तरीयकः[१२] **॥**
गुञ्जद्भ्रमद्भ्रमरयुग्वनमालातिसुन्दरः[१३] **॥११॥**

चरणारविन्दद्वन्द्वस्य अग्रभागोपरि **सञ्चारो** गतिः यस्य तत् **चारु** मनोहरं **पीतम् अन्तरीयकं**[१४] कटिपरिधेयं वस्त्रं यस्य स तथा. **गुञ्जन्तो भ्रमन्तो** यत्र भक्तैः सह तादृशलीलाजनितपरिमलमकरन्दप्रादुर्भावः तत्रैव

उड्डीयोड्डीय तिष्ठन्तो ये **भ्रमराः** तैः युक्ता या **वनमाला** तया अत्यन्तम् अतिशयेन **सुन्दरः** ।।११।।

विविधरूपसुचारुसुगन्धयुङ्मृदुलपुष्पचयैर् अतिसुन्दरम्।।
ग्रथितमध्यमदेशम् अतिप्रियाकरयुगेन[१५] हृदि स्रजि कामये।।१२।।

विविध... इति. **विविधानि** यानि पीतश्यामादीनि **रूपाणि** तैः अत्यन्तं **चारूणि** सुन्दराणि सुष्ठु समीचीनाः ये **गन्धाः** तैः युक्तानि **मृदुलानि** कोमलानि यानि सुवर्णयूथिकाऽतसीकमलादि**पुष्पाणि**. तेषां च याः समूहाः तैः एकैकावल्याम् अतएव **अतिप्रियया** मुख्यप्रियया करकमलयुगेन - **ग्रथितमध्यम**भागो यस्य **हृदि** तादृशमनोहरं हारम् अहं मेलितायां सर्वावल्यां वा **कामये** इति तादृशलीलोत्तरं भगवदभिलाषो निरूपितः[१६]. अथवा, **'विविध'** इत्यादिपदम् **'अतिसुन्दर'** पदेन सम्बध्यते. **'अतिप्रियाकर'** इतिपदं **'ग्रथित'** इति पदेन साकं सम्बध्यते. तथाच एकीकृतायां सर्व**स्रजि** सत्यां प्रियाग्रथितमध्यभागं हारं **कामये** अहम् इति अर्थः।।१२।।

ग्रीवोरःस्थलकटितटकाञ्चीजानुप्रपदयोः सततम्।।
विहरन्ती वनमालासक्तासीदलिकुलैर् मत्तैः।।१३।।

ग्रीवा... इति ग्रीवायाम् **उरःस्थले कटितटे काञ्च्यां** क्षुद्रघण्टिकायां **जान्वोः प्रपदयोश्च** निरन्तरं **मत्तैः** भ्रमरैः सह विहारं कुर्वन्ती सती **वनमालासक्तेव** निश्चला **आसीत्**. एतेन स्वमनोरथविषयतादृशवनमालाम् उरसि निधाय परमानन्देन भक्तैः सह तादृशलीलाचिकीर्षया च निश्चलः[१७] तदेकचित्रएव भगवान् आस्तइति व्यज्यते।।१३।।

गभीर[१८]नाभिविलसत्काञ्चीदामलसन्मणीन्।।
स्वरुचारोचयन्नन्यानप्याकल्पान् बभौ प्रभुः।।१४।।

गभीर... इति. **गभीरा या नाभिः** तदुपरि विलसन्ति या **काञ्चीदाम** वैजयन्तिमाला तया **उल्लसन्तः** शोभायमाना ये **मणयः** तान् **अन्यानपि आकल्पान्** भूषणानि स्वकान्त्या दीप्तियुक्तान् **कुर्वन्** **प्रभुः** शोभायमानो जातः ॥१४॥

त्रिगुणानिलसञ्चारचलत्प्रान्तातिसुन्दरम् ॥
उत्तरीयं बिभ्रदंसे शुशुभेऽतितरां हरिः ॥१५॥

त्रिगुणानिल... इति. शीतमन्दसुगन्धाः त्रयो गुणाः विद्यन्ते यस्मिन् सः **त्रिगुणः** स च असौ **अनिलश्च** इति तथा तस्य यः **सञ्चारो** गतिः तेन **चलत्** चञ्चलं यत् **प्रान्तं** अन्तिमभागः तेन **अतिसुन्दरं** यद् **उत्तरीयं** वस्त्रं तद् **अंसे** स्कन्धदेशे **बिभ्रन्** **हरिः** सर्वदुःखहर्ता **अतितरां** अत्यन्तं **शुशुभे** शोभां प्राप्तवान् इति अर्थः ॥१५॥

विविधमहामणिखचितैः परितो मुक्ताफलावलिग्रथितैः ॥
वलयाङ्गदकङ्कणचयसकलाङ्गुलिभूषणैः रेजे ॥१६॥

विविध... इति **विविधा** ये **(महा)** अनर्घ्या **मणयः** तैः **खचितानि** जटितानि तैः **परितः** सर्वतो **मुक्ताफलावलिभिः** **ग्रथितानि** तैः **वलयादीनां चयः** च **सकलाङ्गुलीनां भूषणानि** च तानि तथा तैः प्रभुः **रेजे** शोभायमानो जातः. **'चय'** शब्देन भक्तानां च स्वांसादिदेशस्थकराङ्गुल्यादीनां **भूषणानि** ग्राह्याणि इति ध्वनितो अर्थः. भगवतापि शोभाधायकत्वात् तदीयानां तेषां भगवदीयतन्मध्यपातित्वेन वर्णनम् इति ज्ञेयम् ॥१६॥

कट्या कुटिलया कांचिद्[१९] **भुवनत्रयमोहिनीम्**[२०] **॥**
तनोति सुषमा[२१] **नाभ्यां**[२२] **सह साम्येऽपि दुर्लभाम् ॥१७॥**

कट्या इति त्रिभङ्गस्वरूपावस्थितिसमये वक्रया **कट्या सह नाभ्यां**

अत्युत्कृष्टां शोभां एवम् आधिक्यं निरस्य साम्यमपि निराकुर्वन्ति **साम्य** इत्यादि. यच्छोभायाः **साम्ये** उपमानोपमेयभावेऽ**पि दुर्लभां** न उपमेयतां भजते तादृशीम् इति अर्थः. उत्कर्षश्च अत्र सर्वाधिक्यम्. यदपेक्षया अन्यत्र आधिक्यं नास्ति इति अर्थः. विमानगतदेवीनामिव स्वरसानधिकृतेषु मोहमात्रजननीम् अतएव वर्णयितुम् अशक्या॥१७॥

रसभरभरितं पात्रं नामितम् अन्यत्र तं रसं कर्तुम्॥
एकत आनतम् उन्नतम् एकत इह दृश्यते सर्वैः॥१८॥

रस... इति. **रसस्य** यो **भरः** आधिक्यं तेन **भरितं** पूर्णं यत् **पात्रं** तद् **अन्यत्र** पात्रान्तरे **तं रसं** तत्स्थरसं स्थापयितुं **नामित**मेव. **एकत आनतम् एकत उन्नतं** च भवति, तथा भगवानपि स्वस्मिन् स्थितं **रसं** भक्तेषु स्थापयितुं ललितत्रिभङ्गस्वरूपो भवति. तत्र लोकप्रत्यक्षं प्रमाणयन्ति **इह** इत्यादि. इह लोके इयं स्थितिः सर्वदृग्गोचर इति. एतेन त्रिभङ्गावस्थितिप्रयोजनमपि उक्तं भवति॥१८॥

कटितटगतभावरसानां व्रजाङ्गनाहृत्सुपूरणे सापि॥
अभवत् तथैव हृष्टा दृष्टा परम् उपपद्यते काञ्च्या॥१९॥

कटितट... इति. **कटि**रूपो यो रससागरः तस्य यः **तटः** तं प्राप्ता ये **भावाः** तत्स्था **रसा**श्च तेषां **व्रजाङ्गनानां** हृदयकमलेषु दाने सति तदर्थं वा हर्षयुता सती **साऽपि** कटिः वक्रैव **अभवत्. अपि**ना तादृशो भगवान् समुच्चीयते. किञ्च **काञ्च्या** सह **दृष्टा** काञ्चीयुक्ता इति अर्थः. अतः तद्दानं **परम्** उत्कृष्टम् **उपपन्नं** भवति. उत्कर्षस्तु अशेषसर्वरसादानं. अशेषरसादाने च काञ्ची साधनम्. यथाच दध्यादि वस्त्रे स्थापयित्वा तद्वस्त्रं मेलयित्वा उपरि दामबद्ध्वा निःशेषतया सर्वोऽपि रसः ततो गृह्यते. तथा अत्रापि कट्युपरि काञ्चीबन्धनेन सर्वरसादानं सम्भवति इति भावः. अथवा, रसदानार्थं भगवता **दृष्टा** सती **सा तथा**

अभवद् इति अर्थः. **'काञ्च्या'** इति पदस्य च **'उपपद्यते'** इत्यनेन अन्वयः. अर्थस्तु पूर्वोक्तरीतिकएव बोध्यः ॥१९॥

अन्यदपि काञ्च्याः कार्यम् आहुः **वेणुरव...**इति.

वेणुरवानुगया नवनवचापल्यं प्राप्त[२३]वत्योच्चैः ॥
व्रजतरुणीमानसधनसम्पन्नयाभूज्जगज्जडवत् ॥२०॥

वेणुरवान् अनुश्रुत्य गच्छन्त्या वेणुरवैः सह एकीभूता भवन्ति तथा शब्दानुपूर्वन्त्यो वा इति अर्थः. **उच्चैः** अदृष्टपूर्वं **चापल्यं** भजन्त्या **व्रजतरुणीनां मानसमेव धनं** तेन **सम्पन्नया** सम्पत्तियुक्ता या तासां मनो गृहीत्वा स्थितया इति अर्थः. एतादृश्या च क्षुद्रघण्टिकया **जगद्** भक्तवृन्द - दर्शनादिरूपोद्दीपनसामग्रीजनितस्तम्भादि - सात्त्विकाविर्भावेन **जड**-तुल्यं निश्चलम् **अभूत्**. तेनच चिकीर्षित - सर्वलीला सम्पद्यते इति भावः ॥२०॥

नयनाम्बुजसौन्दर्यं मनसां वचसाम् अगोचरं[२४] सत्यम् ॥
व्रजसुन्दरीनयनमनोनुभवैकगतं परं हृद्यम् ॥२१॥

नयन... इति. भगवतो **नयनाम्बुजस्य** उत्कृष्टं मनोहारि **सौन्दर्यं** यद् **मनोवागविषयं** तत् **सत्यमेव** यतो **व्रजसुन्दरीनयनमानसानुभवेष्वेव** अवस्थितम्. तथाच तादृशान्तरङ्गभक्त - भाववद्भक्तानुभवगोचरइति अन्तःकर-णप्रतीत्यैव **व्रजसुन्दर्यनुभवैकवेद्यम्** इति सिद्धम् ॥२१॥

तत्रापि भावगर्भं तरलतरं प्रियतमामुखाम्भोजे ॥
स्थगितं भवदरुणतरप्रान्तं प्रकटानुरागमिव[२५] ॥२२॥

तत्र इति. **तत्राऽपि** परममनोहारित्वेऽपि स्वाभिलषितसूचकम् अतिचञ्चलमपि **प्रियतमाया मुखाम्भोजे** सुस्थिरं भवत् सद् **अरुणतरं**

प्रान्तभागो यस्य एतादृग्नयनाम्बुजम् अभूत्. उत्प्रेक्षन्ते **प्रकटअनुरागइव** यस्मिन् इति तथा. एतेनाऽपि नयनाम्बुजस्य भावोद्गारितयाऽपि सौन्दर्यमेव वर्णितं भवति॥२२॥

विचित्रवेणुतानाब्धितरङ्गान्दोलिताञ्चलम्॥
स्थिरं वा तरलं वेति नैवाभूद् अवधारितम्॥२३॥

विचित्र... इति. **विचित्रो** यो **वेणू**द्गतरागस्वरसमुद्रः तस्य ये **तरङ्गाः** उच्छलन्तो विस्ताराः तैः **आन्दोलितं** तरलीकृतम् **अञ्चलं** प्रान्तभागो यस्य नयनारविन्दस्य तत्. तत्तारादिस्वराद्यनुकारीकृतम् इति वा **'आन्दोलित'** पदार्थः. तत्तदभिनयबोधकं कृतम् इति वा तदर्थः. तदेव नयनाञ्चलं चञ्चलं **स्थिरं वा** इति निश्चितं **नैव अभूत्**. एतेनापि तत्सौन्दर्यं भगवतो गानचातुर्यं च वर्णितं भवति॥२३॥

स्मितामृतभरेणात्मभक्तहृत्प्राणपोषकम्॥
तत्रैव लयहेतुर् वा तेषामिति न वेद्म्यहम्॥२४॥

स्मितामृत...इति. सौन्दर्यामृतं सचिक्कणं स्नेहामृतं च **स्मितामृतं** च तेषां यो **भरः** तेन नयनाञ्चलम्. **आत्मनो** ये अन्तरङ्गाः **भक्ताः** स्वस्मिन् स्निग्धाः तेषां **हृदां प्राणाना**ञ्च हृत्स्थ**प्राणानां** वा **पोषकं** रक्षकं पुष्टिकृद् वा. **'स्मित'** इतिपदं सौन्दर्यादीनाम् उपलक्षकम्. अथवा, तद्वैपरीत्यसाधकम् इति आहुः **तत्रैव** इति. अथवा, तादृक् नयनाञ्चलं सौन्दर्यामृतादिषु वेणुनादामृताब्धौ च तादृक् स्वीयजन**हृत्प्राणानां लय**साधकमिति **अहं न वेद्मि**॥२४॥

भ्रूचापः सन्धितः कर्णावध्याकृष्टः प्रियाहृदि॥
विद्धः प्राणानाजहार स्वस्मिन् अस्मिन् दया न हि॥२५॥

भ्रूचाप इति. भ्रूरूपो यः **चापः** धनुः तस्मिन् **सन्धितो** योजितः **कर्णम् अवधीकृत्य** मर्यादीकृत्य **आकृष्टः प्रियाहृदि** लग्नः सन् **प्राणान् आजहार** स्वाधीनान् कृतवान्. **स्वस्मिन्** भगवति **अस्मिन्** कटाक्षबाणे निश्चयेन **दयाभावएव**! इति उपालम्भो धनुर्धराणां स्वभावोक्त्या वर्णितः. अथवा, धनुर्धरस्वभाववर्णनेन उपालम्भभावएव ध्वनितः ॥२५॥

स्मित-कौटिल्य-चापल्यारुणिमामृतसिन्धुषु ॥
मग्नाः कथञ्चिद् जीवन्ति भक्तास् तत्तत्स्वभावतः ॥२६॥

स्मित... इति. मन्दहास्य - धौर्त्य - चाञ्चल्यारक्ततारूपाः ये **अमृतसिन्धवः** तेषु **निमग्नाः** ये रसिकभक्ताः ते केनापि प्रकारेण प्राणान् धारयन्ति. तत्तद्रसानुभवं कुर्वन्ति नतु तत्रैव लयं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. **तत्तद्...** इति स्वौको स्वजीवनांश्च पालयति इति सिन्धुस्वभावः. तथा तथाभूतानां जन्तूनामपि अयमेव स्वभावो यत् तदाश्रिताएव **जीवन्ति** नतु तदनाश्रिता इति. एतेन जीवनप्रकारः सन्दर्शितः. तथाच तथाभूताएव तद्रसम् अनुभवन्ति इति सूचितम् ॥२६॥

शृङ्गाररससर्वस्वं भक्तभावामृतावृतिम्[२६] **॥**
अनुरागचयं ताराश्चैत्यापाङ्गैर् बिभर्त्यसौ ॥२७॥

शृङ्गार... इति. **असौ** नयनमध्यस्थाः श्यामतारा**: चैत्ययुक्तैः अपाङ्गैः** कटाक्षैः सह **शृङ्गाररसस्य सर्वस्वम्** अनेकविधविलासानुकूलं स्वहृत्स्थभावसूचकत्वं तद्भाववत्त्वं वा **भक्तानां भावरूपं** यद् **अमृतं** तेन **आवृतिः** आवरणम् **अनुरागचयं** च **बिभर्ति**. तथाच तैः सह तान् धर्मान् बिभ्रती सती इयम् **तारा** कदाचित् अनिर्वचनीयालौकिकशोभया राजते इति भावः ॥२७॥

सालिकुलं कमलकुलं जितं निजाकारमात्रतो जगति ॥
प्रकटातिगूढरसभरभरितो[२७] **अभवत् कुसुमशरकोटिः ॥२८॥**

सालि... इति. स्वाकृत्यैएव जगन्निष्ठं यत् **अलिकुलसहितं कमलकुलं** तत् नयनकमलेन **जितम्. प्रकटो** यः अतिगुप्त**रसस्य भरः** तेन **भरितः** पूर्णः सन् नेत्राकारः **कुसुमशराणां** मन्मथानां या **कोटिः** तद्रूपो **अभवत्.** कन्दर्पकोटिलावण्यस्पदं जातम् इति अर्थः. तथाच एतेनाऽपि उभयजयनशीलनयनशोभा वर्णिता भवति ॥२८॥

स्निग्धता मुग्धता वापि चातुरीसहजापि वा ॥
नैव वर्णयितुं[२८] शक्यानुभवन्तीभिरप्यहो ! ॥२९॥

स्निग्धता इति. **स्निग्धता** सचिक्कणता स्नेहो वा. **मुग्धता** बाल्यचापल्यं सौन्दर्यं वा. तत्तद्भावविवशत्वं वा. सकलक्रीडायां स्वाभाविकं **चातुर्यं** च अनुभवकर्त्रीभिरपि अस्माभिः वाग्विषयीकर्तुं **नैव शक्य** कृतिविषयो भवतीति महच्चित्रमेव इति ॥२९॥

मन्ये गोकुलतरुणी - नवनवभावाः स्वरासरसञ्जाताः ॥
रतिरससुधाब्धिपतितप्लवे प्लवन्ते निसर्गमधुरतराः[२९] ॥३०॥

मन्ये इति. **गोकुल**सम्बन्धिन्योः याः **तरुण्यः** तासां ये स्वभावतएव मधुरतराः प्रतिक्षणनूतनभावाः **स्वरास**लीलोद्भूताः ते **रतिरसा**मृतसागरे पतितः सम्प्राप्तो यो लीलाविशेषरूप**प्लवः** तस्मिन् तरन्ति इति अहं **मन्ये.** सिद्धान्तं स्वीकुर्वे ॥३०॥

सम्मुखप्रेक्षणेऽपाङ्गप्रेक्षणे[३०] च यथा रसः ॥
तथारुणाभी रेखाभिर् ज्ञापयत्यम्बुजेक्षणः ॥३१॥

सम्मुख... इति. **सन्मुखतया** अवलोकने कटाक्षेण विलोकने च यो **रस**भेदः समुद्भूतः सन्मुखावलोकने स्वल्पारक्त**रेखाभिः** वक्रतया कटाक्षेणेव **तथा अरुणाभिः रेखाभिर्** बहुभिः आरक्तरेखाभिः लोचने कमलदललोचनः

स्वान्तरङ्गभक्तान् अनुभावयति ॥३१॥

विरलारुणरेखाभिः सितगर्भस्य नेत्रयोः ॥
आविर्भवति या शोभा तां न वक्तुं क्षमा रमा ॥३२॥

विरल... इति. उभयने**त्रयोः** यः एकैकः चेतो गर्भो मध्यदेशो नेत्रान्तर्वर्तिभागः तस्य पृथक्-पृथक् आरक्तरेखा**भिः** या शोभा प्रकटी भवति **तां** वर्णयितुं लक्ष्मीरपि समर्था न भवति ॥३२॥

पक्ष्माणि तरुणीभावान् आनेतुं चरणाब्जयोः[31] **॥**
कराङ्गुलिचयाभानि भासन्ते परितः[32] **बतः**[33] **॥३३॥**

पक्ष्माणि इति. दूरस्थिततरु**णीनां** ये **भावाः** ताः **चरणाब्जयोः** **आनीतुं** समीपस्थितिं कर्तुं हर्षेण सर्वतः **कराङ्गुलिचय**सदृशानि उन्मेषनिमेषाभ्यां **पक्ष्माणि** भासन्ते. **चरणाब्ज**स्थिता ये **तरुणीभावाः** तान् नेत्रयोः **आनेतुं** **पक्ष्माणि** तथा ज्ञायन्त इति वा अर्थः. अन्यतो निवर्त्य स्वचरणारविन्दयोरेव **तरुणीभावाः** स्थापयितुं **पक्ष्माणि** तथा **भासन्ते** इति वा अर्थः. यथा **कराङ्गुलिचयेन** आह्वयति तथा स्वभक्तान् रसम् अनुभावयितुं भगवत्पक्ष्मभिः आह्वयति इति भावः ॥३३॥

अतिसारस्यतो नेत्रे सरसः परितोऽभवत् ॥
रसाङ्कुराः पक्ष्मरूपा भासन्ते सुषमास्पदाः ॥३४॥

अति... इति. नेत्ररूपसरोवरयोश्च अनुरागशोभातिबाहुल्येन **सारस्यं** ययोः ते **अतिसारस्ये** तयोः भावः तत्ता. सा **अभवत्** प्रकटा जाता. यतो परमशोभानिवासस्थलं **पक्ष्मरूपाः रसाङ्कुराः भासन्ते.** अत्र **अतिसारस्येन** **रसस्यैव अङ्कुर**भावाप्तिनिर्वचनेन महदेव वैचित्र्यं निरूपितं ज्ञेयम् ॥३४॥

आदायादाय भक्तानां भावान् अतिमनोहरान्।।
निमेषमिषतः स्वान्तः सञ्चयं कुरुतो[३४] मुदा।।३५।।

आदाय इति. **आदाय आदाय** इति अत्यादरे वीप्सा. **भक्तानां** स्वमनोहर्तॄन् **भावान्** भक्तमनोहरकटाक्षैः गृहीत्वा तेषां **सञ्चयं स्वान्तः** स्वगर्भदेशे हर्षेण नेत्रकमले **निमेषव्याजाद्** दधाते भक्तभावापूरितएव ते सर्वदा स्तः इति भावः।।३५।।

स्वतः समर्थम[३५]प्येतत् त्रिलोकीमोहने बत!।।
स्मितं सहायं सम्प्राप्य यत्करोति न वेद्मि तत्।।३६।।

स्वत इति. बत! इति हर्षेण. **स्वतः** स्वभावतो लोकत्रय**मोहने** स्वाधीनीकरणे **एतन्**नयनारविन्दद्वयं **समर्थमपि स्मितं** मन्दहास्यं **सहायं** सहकारि **प्राप्य यत्** कार्यं **करोति** तदहं **न वेद्मि** ज्ञातुं क्षमो न भवामि इति अर्थः।।३६।।

रसपूरैः प्लावयति स्वजनविवेकत्रपाधृतिरथवा[३६]।।
तानेव तद्रसाब्धिषु मग्नान् कुरुते तदैवैतत्।।३७।।

रसपूरै इति. स्वकीया ये लावण्यादि**रसपूराः** तैः स्वीयभक्तानां **विवेक**लज्जाधैर्याणि **प्लावयति** रसप्रवाहे गमयति तारयति वा. अथवा स्वीयानां **तान्** विवेकादिधर्मान् **तद्रसाब्धिषु** बाह्यान्तरेण **मग्नान्** तल्लीनान् **तदैव** दर्शनसमयएव **एत**न्नयनपङ्कजयुग्मं **कुरुते**।।३७।।

एतत्कार्यस्य भवने प्रतिबन्धेऽपि चेश्वरः।।
न शक्तो प्रतिबद्धो यत् तत्स्वभावस्वभावतः।।३८।।

एतद् इति. **एतत्कार्यस्य** पूर्वोक्तफलस्य फलदानस्य वा **भवने**

प्रादुर्भावे प्राकट्ये तत्प्राकट्यप्रतिबन्धे विरुद्धसामग्रीसम्पादने च सर्वतो अप्रतिहतशक्तिः सर्वकरणसमर्थोऽपि **ईश्वरः** समर्थो न भवति. **यद्** यतो **स्वीयभावभक्तभावयोः स्वाभाविकस्वभावतः** भगवान् तादृशस्वीयभावोद्भवे भक्तमनोरथं पूरयत्येव. भक्तानां च तादृशभावोद्भवः तादृक्फलं भगवतो दापयत्येव इति भावः ॥३८॥

तत्रापि चेत्सहायोऽभूद् उदारो वेणुनिःस्वनः ॥
त्रिभङ्गश्च[३७] त्रिजगति न जाने का दशावशा[३८] ॥३९॥

तत्र इति. **तत्र** पूर्वोक्तसर्वकार्यकरणे पूर्वे कार्यसहायत्वेन स्मितम् उक्तम्. अधुना तु **वेणु - त्रिभङ्ग**सहायत्वेन तत्कार्यम् उच्यते. औदार्यञ्च अनालोचितदातृत्वम्. **'अपि'** शब्दश्च 'वेणुनिःस्वनः' पदेन सह सम्बध्यते **'जगत्'** शब्देन च **त्रिजगत्स्था** भक्ताः संगृह्यन्ते. तथाच, तामस - राजस - सात्त्विकत्रिविधभक्ताः इति अर्थः. नास्ति वशो यस्यां सा **अवशा दशा** अवस्था अत्र भविष्यति इति शेषः ॥३९॥

तिष्ठत्वन्यकथैतादृक्स्वरूपं प्रतिबिम्बितम् ॥
क्वचित् पश्येत् स्वयं नाथः कां दशां नु भजेत् तदा ! ॥४०॥

तिष्ठतु इति. अभूत् जगद्जडवत् इत्याद्युक्ता **अन्यकथा तिष्ठतु** माऽस्तु इति अर्थः. किं तर्हि वक्ष्यमाणाः कथैव चिन्ताविषयेति तामेव आहुः **एतादृक्** इति. पूर्ववर्णितमेव **स्वरूपं** परिदृश्यमानं वा रूपं भक्तेः प्रतिफलितं तादृगेव स्वरूपं जातम् इति भावः. **एतादृक्स्वरूपं स्वयं नाथः** दृग्विषयं कुर्यात् चेत् **क्वचित् तदा नु** इति वितर्के **दशां** कामिनीभावं पुम्भावं वा भगवान् स्वस्मिन् प्रकटयेद् इति अर्थः ॥४०॥

प्रायो न दर्शनापेक्षा यत्स्वयं तद्रसात्मकः[३९] ॥
प्रियाहृदयनेत्रेषु निरुद्धोऽस्ति सुनायकः ॥४१॥

प्राय इति. **प्रायो** विचार्यमाणो भगवतो भक्तविषयक**दर्शनापेक्षैव न** यतः स्वयं नाथः तेषां भक्तानां भगवद्विषकदर्शनादिरूपो यो रसः तदात्मकएव. विनापि दर्शनं सर्वभावात्मकतासम्भवाद् एतत्कथाचिन्ताविषयएव स्थिताः **तद्रसात्मकतायां** मानम् आहुः **प्रिया** इति. यतः **प्रियाहृदयादिषु सुनायकः** सर्वगुणपूर्णः सदा **निरुद्धो** भावबलेन संरक्षितएव राजते इति. अथवा **प्रियाहृदयादिषु** दाक्षिण्येन अनुकूलत्वेन वा गुणेन युक्तो नाथो यतो **निरुद्धः अस्ति** अतः ततो निःसृत्य आगन्तुं न शक्तः इति. अथवा, यतः **प्रियाहृदादिषु निरुद्धो अस्ति** अतः तद्रसनिमग्नः सन् न अन्यं दर्शनादिरसम् अपेक्षते इति. अथवा, **'प्रिये'**त्यारभ्य **'तद्'** इत्यंतेन सार्धश्लोकेन अन्वयः प्रियेति. ।।४१।।

एतत्सन्दर्शने तु स्यात् प्रमदाभावएव हि।।
तच्छान्तिकर्ता कोन्योऽत्र भवेत् तेनास्ति नैव तत्[४०] ।।४२।।

एतद् इति. प्रियाहृदयादिषु सर्वसामर्थ्यगुणयुग्भगवान् नायकत्वेन रूपेण निविष्टो अतः तासां तद्रूपेणैव भगवद्दर्शने **प्रमदाभावः** कामिनीभावएव आगत्य स्थिरी भवतीति **तच्छान्तिकर्ता** तन्मनोरथपूर्तिकर्ता **अन्यः को भवेत्!** इति काकूक्त्या न कोऽपि इति अर्थः. **तेन** हेतुना तत्कामिनीभावो **नैव** भवति इति अर्थः. अथवा **'एतद्'** इत्यस्य भिन्नतयैव अन्वयः. एतस्य प्रतिफलितरूपस्य सम्यक्तया भावाविष्टतया **दर्शने** सति तद्रूपमहिम्ना **हि** इति निश्चयेन कामिनीभावः उदेत्येव. परन्तु तद्भावपूर्तिकर्ता स्वं विना अन्यो **नैवे**ति तद्दर्शनमेव **नास्ति** इति अर्थः ।।४२।।

अन्यत् प्रकारान्तरम् आहुः **अथवा**इति.

अथवा तद्रसात्मा तद्दर्शनेनतितोषितः[४१] ।।
भवति स्वप्रियावृन्दवृतोऽयं गजराडिव।।४३।।

भक्तरसात्मा भगवान् भावात्मकतादृशरूपदर्शनेन **तोषितः** तोषं प्रापितः पुष्टो जातः. अत्र हेतुस्तु पूर्वचरणएव 'भक्तिरसे'ति निरूपितः. अतो भगवान् स्वस्यैव पुष्टस्य रसस्य दानार्थमेव **स्वप्रियावृन्दावृतः** सन् **गजराजेव भवति** शोभते इति अर्थः. तथाच स्वप्राणाधिकप्रियतमसुनायकस्य सन्मुखावलोकने तासां प्रमदाभावएव आगत्य रसग्रहणतत्परो भवति नतु "अहं कृष्ण" इति भगवद्भावः इति सिद्धान्तः इति श्लोकाशयः ॥४३॥

कदाचिदथवा प्रेष्ठा[४२] वियोगार्त्या तदात्मकः ॥
तासाम् आविर्भवेद्[४३] भावैरेव तां शामयत्यपि ॥४४॥

कदाचिद् इति. **कदाचित्** कस्मिंश्चित्समये **प्रेष्ठा** प्रियतमा तद्**वियोगार्त्या तदात्मकः** सन् **तासाम् आविर्भ**वन्तो ये **भावाः** तै**रेव** **ताम्** आर्तिं **शामयत्यपि** ॥४४॥

दृष्ट्यापि रसरूपत्वं मयि जानन्तु मामकाः ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभङ्गं भक्तलोचने[४४] ॥४५॥

दृष्ट्या इति. हृदयस्थिततत्वेन आन्तररसरूपत्वं **मयि जानन्तो**ऽपि मद्भक्ताः बहिः**दृष्ट्यापि मयि रसरूपत्वं जानन्तु**इति **तदर्थं** भक्तज्ञानार्थं स्वकीयान्तरङ्गभक्तानां लोचनकमले **त्रिभङ्गं** स्वीयरूपं प्रकटीकरोति. **'लोचने'** इति एकवचनं जात्यभिप्रायेण ॥४५॥

रसात्मत्वं[४५] स्फुटं स्वस्मिन् भक्तैर् नैवानुभूयते ॥
तदर्थमाविष्कुरुते त्रिभङ्गं भक्तलोचने[४६] ॥४६॥

रसात्मत्वं इति. स्वनिष्ठं भगवन्निष्ठं वा **स्फुटं** प्रकटमपि **रसात्मत्वं** मदीयैः न ज्ञानविषयीक्रियतइति भक्तज्ञानार्थं तन्नेत्रकमले रसरूपत्रिभङ्गं स्वरूपं प्रकटयति ॥४६॥

पुष्टिभक्तिं स्थिरीकृत्य मर्यादां[४७] च तदाश्रिताम् ॥
कृत्वा वृन्दावनक्षोणीम् अयथापूर्वसंस्थिताम्[४८] ॥४७॥

पुष्टि... इति. भगवतः उभावपि चरणौ उभयभक्तिरूपौ. तत्र वामचरणः पुष्टिभक्तिरूपः दक्षिणश्च मर्यादारूपः इति स्थितिः. तत्र **पुष्टिभक्तिरूपं** वामचरणं भूमौ स्थापयित्वा **मर्यादा**भक्तिरूपं च दक्षिणचरणं **तदाश्रितं** पुष्टिरूपवामचरणाश्रितं **कृत्वा** तदुपरि जानुनि स्थापयित्वा इति अर्थः. वृन्दावनभूमिं **अयथापूर्वसंस्थिताम्** इति. अयथापूर्वम् इति **अयथापूर्वं सम्** सम्यक् प्रकारेण **स्थितम्** भगवते भगवतीति शेषः. उच्छलद्रसभरेण वक्रतया त्रिभङ्गरूपेण भक्तेभ्यो रसदानानुकूल्येन स्थितमिति अयथापूर्वसम्पदयोराशयो बोध्यः ॥४७॥

हृदयं भक्तहृदये स्थिरं लोकान् निजान् परान् ॥
पुष्टिदिश्येव सुमुखान् कृत्वा संराजते प्रभुः ॥४८॥

हृदयम् इति. स्वहृदयं स्वीय**भक्तहृदये स्थिरं कृत्वा** अन्तरङ्गान् **निजान्** भक्तान् **पुष्टिदिशायां सुमुखांश्च कृत्वा प्रभुः संराजते.**

अथवा **'पुष्टिभक्तिम्'** इत्यारभ्य **'प्रभुर्'** इत्यन्तं तेन पद्यद्वयेन अदो युगलम्. तथाहि अस्मिन् पक्षे अकर्मकधातुयोगे सप्तम्यर्थे द्वितीयया **वृन्दावनक्षोण्यां** स्वविहारभूम्यां **पुष्टिभक्तिरूपं** स्वचरणं **स्थिरीकृत्य मर्यादा**भक्तिरूपं दक्षिणचरणं च तदुपरि स्थापयित्वा उच्छलद्रसभरेण पूर्वलीलातो भिन्नप्रकारेण अनेकरसलीलोत्सुकतया **संस्थितं** यत् **स्वहृदयं** तद् **भक्तहृदये स्थिरं कृत्वा** स्वहार्दं भक्तहृदये ज्ञापयित्वा इति अर्थः. **'कृत्वा'** इति पदस्य अत्र आनुषङ्गेन अन्वयः. **'सम्'** पदार्थश्च पूर्वपक्षोक्तएव **पुष्टिदिशि** इति अनुग्रहलीलायां तादृशान् **निजांश्च सुमुखान् कृत्वा** इतरानुसन्धानराहित्यपूर्वकस्वेष्टक्रीड़ानुरूपान् विधाय इति अर्थः. **प्रभुः** सर्वकरणपटुः **संराजते** यथेष्टं भक्तैः सह विहरति इति अर्थः ॥४८॥

उद्बुद्धशृङ्गाररसस्वरूपो भूषणाद्यपि[४९]**॥**
तादृगेवाखिलाङ्गेषु बिभ्रत् संराजते प्रभुः॥४९॥

उद्बुद्ध... इति. **उद्बुद्धशृङ्गाररसः** स्वरूपः **प्रभुः तादृगेव** उद्बुद्धशृङ्गाररसात्मकं तादृक्रसानुकूलं **भूषणादि बिभ्रन्** सन् **संराजते** इति अन्वयः. **'आदि'** शब्देन वस्त्रसुगन्धादीनि. **'भूषण'** शब्देन पुष्पभूषणं रत्नखचितभूषणं च ज्ञेयम्॥४९॥

श्रुत्याद्यगम्यं[५०] **यद्रूपं स्वल्पकेन**[५१] **मया कथम्॥**
तन्निरूपयितुं[५२] **शक्यं तदीयत्वाद् भवेदपि॥५०॥**

श्रुत्यादि इति. उपनिषद्भिः मनोवागविषयत्वात् **निरूपयितुम्** अशक्यं यद् रूपं, **स्वल्पकेन** इत्यत्र स्वार्थे 'क'प्रत्ययः. तथाच मन्दमतीत्वाद् जीवानां न अनुभवविषयइति स्वल्पविचारेणैव तद्रूपं **मया** श्रीमद्विठ्ठलवरेण निरूपितम्. ननु जीवानां तथात्वात् कथम् इदमपि ज्ञातुं शक्यम् इत्यत आहुः **तदीय** इति. सर्वथा त्वदीयानां तत्कृपातएव सुलभं भवेद् इति. **'अपि'** शब्दो निश्चयार्थकः. अथवा निजजनशिक्षार्थं स्वस्मिन्नपि दैन्यं दर्शयन्तः तथा आहुः **श्रुत्यादीनि. श्रुत्याद्यगगम्यं यद्रूपं** तद् **अल्पकेन मया कथं निरूपयितुं शक्यं!** नैव इति अर्थः. परं मम **त्वदीयत्वादपि** सम्भवेत्. **'अपि'** शब्दो निश्चयार्थकः॥५०॥

तथापि श्रीगोकुलेऽस्मिन् आविर्भूतो विराजते॥
अनन्यभक्तैर् अनीशं पीयते तत्सुधासवः॥५१॥

तथापि इति. किञ्चिद् यद्यपि श्रुत्याद्यगम्यं तद्रूपं **तथापि अस्मिन् श्रीगोकुले** कृपया स्वतः **आविर्भूतः** सन् **विराजते** षड्गुणयुक्तएव शोभते. किञ्च, गोकुलस्थैः भक्तैः अहर्निशं तत्स्वरूपामृतरूपः तदितरविस्मारकः **सुधासवो** यथाधिकारं चक्षुरादिभिः **पीयते**. अनेनापि तादृक्रूपनिरूपणएव उपपत्तिद्वयं निरूपितम्॥५१॥

स मत्प्रभुः सदाऽहं तु तत्पादाब्जरसोस्मि वै।।
तत्प्रभावाद् यथाशक्ति वर्णयाम्यविचारयन्।।
(अयंश्लोकः मुद्रितपाठेएव अस्ति. अन्यत्र नोपलभ्यते).

अहञ्च तत्पादपद्मरेणुरश्मीति मत्प्रभुः ।।
स चास्तीति यथाशक्तिर् वर्णयाम्यविचारयन्।।५२।।

अहञ्च इति. अहं श्रीमद्विठ्ठलनाथः तस्य श्रुत्यगम्यरूपस्य भगवतो गोकुलपतेः **पादपद्माश्रिता रेणुरश्मि** सच भगवान् मन्नाथः इति हेतोः विचारं विनापि शक्तिम् अनतिक्रम्य **वर्णयामि.** तथाच तादृश महच्छक्तिशालित्वाद् **अहं** यथा भगवद्रूपं तथैव **वर्णयामि** इति भावः. एतेनापि उपपत्त्यन्तरं तत्रैव उक्तम्।।५२।।

स्वतो मल्लोचनमनोवृत्तिः वृन्दावनप्रभुः ।।
बृहद्वनप्रियः शश्वत् शिशिरीकुरुतात् स्वतः ।।५३।।

स्वतः इति स्वकृपातो नतु साधनतः **मल्लोचनमनोवृत्तिः** मदीयलोचनमनस्सु वर्तते इति तथा. **वृन्दावनस्य प्रभुः** अप्रतिहतशक्तिः यथेच्छसर्वकरणसमर्थ इति यावत्. **बृहद्वनं प्रियं** यस्य सः. **'बृहद्वन'** शब्देन बृहद्वनीया लीला ग्राह्या. इमानि हेतुगर्भविशेषणानि. तस्मात् स्वयं **मल्लोचनमनोवृत्तिः** मल्लोचनमनांसि **शिशिरीकुरुतात्** शीतलतां प्रापयेदिति स्वाभिलाषो निरूपितः. एतादृशाभिलाषनिरूपेण अनेन हेतुना स्वस्य लीलामृतरसाब्धिमध्यशालित्वं तद्रसभोक्तृत्वं च ध्वनितम्. तेन च स्वस्य तद्रसभरभरितत्वात् तदुच्छलदवस्थारूपम् एतद् ग्रन्थनिरूपणमिति ग्रन्थस्वरूपमपि ध्वनितम्. तेन अत्र अधिकारिणः तद्रसरसिकाएव इत्यपि सूचितम्।।५३।।

अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूपिता[५३] परम्।।
तेन प्रसन्नो भवतु दासे श्रीविठ्ठले[५४] प्रभुः ।।५४।।

इति श्रीमद्विट्ठलनाथविरचितो
ललितत्रिभङ्गनामा ग्रन्थः
सम्पूर्णताम् अगमत्

अहम् इति. **अहं** श्रीमद्विठ्ठलेश्वरः तदीयो अन्तरङ्गभक्तः **इति** हेतोः **एषा तद्वार्ता** तस्य भगवतो वार्ता स्वरूपभावलीलाप्रसङ्गात्मिका उत्कृष्टतया निरूपिता याथार्थ्येन वर्णितेति यावत्. तेन निरूपणरूपेण हेतुना **दासे** सेवातत्परे **श्रीमद्विठ्ठलेश्वरे प्रभुः** प्राणाधिपतिः **प्रसन्नो** अस्तु स्वप्रसादं कुर्याद् इति प्रार्थना. एतेन भगवतो भगवत्प्रसादएव पुष्टिमार्गस्थैः भक्तैः प्रार्थ्यो नतु अन्य. पुरुषार्थइति सूचितम्.

इति श्रीहरिरायाणां व्रजवाण्या निरूपणम्॥
एतद् ग्रन्थीयम् आलोच्य देववाण्या मया कृता॥१॥
गोस्वामी व्रजनाथेन रघुनाथात्मजेन हि॥
रसिकानां मुदे व्या रसरूपार्थबोधिनी॥२॥
ततः श्रीकृष्णवागीशसूनु श्रीविठ्ठलेश्वरः॥
मयि दासे प्रसन्नोऽस्तु तेनैव सकलं मम॥३॥

इति श्रीमद्गोस्वामिरघुनाथात्मजव्रजनाथविरचिता ललितत्रिभङ्गव्याख्या सम्पूर्णा.

(मातृकासंग्रहः)

१. क. मठेशलक्ष्मणस्य इदं पुस्तकम्. स.१८६६ वै.सु.५ काशी.
२. ख. अज्ञात.
३. ग. म.स.वि. महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय. क्र.नं.४२४९.
४. घ. श्रीप्रथमेशसंग्रहः(१).
५. ङ. मु.वि. मुंबई विद्यापीठ गुजरातीपत्र स.१८७० फा.व.२, रविवार, पटना.
६. च. भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान. सं.१८८४-८७. क्र.नं.७२६.

७. छ. श्रीप्रथमेशसंग्रहः(२). श्रीमद्गोस्वामीगिरिधराणां पुस्तकम् श्रीवल्लभजी लिखितम्. (कोटा). सं.१८०९ मार्गशी.सु.द.१४ रवि. गो.प्रभुणा.

८. ज.अज्ञात

९. झ.अज्ञात.

१०. ञ्.अज्ञात, अपूर्ण.

(पाठभेदः)

१. 'समाप्तिकामस्वीय' इति मस, घ, भा पाठेषु.

२. 'निवेदने निरूपितः'' इति भा, मस, घ पाठेषु.

३. 'वामजान्वंतकलितातिवक्रेतरजानुकम्' इति मुद्रितपाठे.

४. 'अत्यन्तं वक्रो'' इति मस, घ, भा पाठेषु.

५. 'नखचन्द्रमहःक्षिप्तभक्तसन्तापसन्ततिम्' इति मुद्रितपाठे.

६. 'प्रेमवल्लभम्' इति मुद्रितपाठे.

७. 'काचिन्मर्यादा' इति मुद्रितपाठे.

८. 'स्फुटम्' इति मुद्रितपाठे.

९. 'मुक्तमर्यादोक्त' इति मस पाठे.

१०. 'भक्तपदमेवमिति' इति मुद्रितपाठे.

११. 'संसेव्यो' इति मुद्रितपाठे.

१२. 'पीताम्बरावृतम्' इति मुद्रितपाठे.

१३. 'सुन्दरम्' इति मुद्रितपाठे.

१४. 'उत्तरीयकम्' इति भा, ख पाठयोः. 'उत्तरीयम्' इति मस पाठे.

१५. 'अतिप्रियं करयुगेन' इति मुद्रितपाठे.
'प्रियाकर' इति क, भा, ङ (मु.वि), ञ् पाठेषु.

१६. 'समूहाः तैः एकैकावल्यां मेलितायां सर्वावल्यां वा मुख्यप्रियया करकमलयुगेन ग्रथित मध्यभागो यस्य अतएवातिप्रियम् एतादृशमनोहरं हारम् अहं हृदि कामयइति तादृशलीलोत्तरं भगवदभिलाषो निरूपितः.' इति मस पाठे.
'समूहाः तैः एकैकावल्यां मेलितायां सर्वावली वा मुख्यप्रियया

करकमलयुगेन ग्रथितो मध्यभागो यस्य अतएवातिप्रियतमे मुख्यप्रियया करकमलयुगेन ग्रथितः मध्यमभागो यस्य हृदि एतादृशं मनोहरं हारम् अहं मेलितायां सर्वावल्यां वा कामय इति तादृशलीलोत्तरं भगवदभिलाषो निरूपितः' इति ख पाठे.

'अतएवातिप्रियं मुख्यप्रियया करकमलयुगेन ग्रथितः मध्यभागो यस्य हृदि तादृशं मनोहरं हारम् अहं मेलितायां सर्वावल्यां वा कामय इति तादृशलीलोत्तरं भगवदभिलाषो निरूपितः' इति भा पाठे.

१७. 'निश्चलएव' इति क,ख,च पाठेषु.

१८. 'गंभीर' इति मुद्रितपाठे.

१९. 'कांची' इति मुद्रितपाठे.

२०. 'मोहनी' इति मुद्रितपाठे.

२१. 'सुषमाम्' इति मुद्रितपाठे.

२२. 'नाभ्या' इति मुद्रितपाठे.

२३. 'समाप्त' इति मुद्रितपाठे.

२४. 'वाचामगोचरम्' इति मुद्रितपाठे.

२५. 'प्राकट्यतोऽनुरागमिव' इति मुद्रितपाठे.

२६. 'भावामृतावृतम्' इति मुद्रितपाठे.

२७. 'रसभरजितो' इति मुद्रितपाठे.

२८. 'कर्तुं नैव शंक्या' इति क,च पाठयोः.

२९. 'अतिसर्गमधुरतराः' इति मुद्रितपाठे.

३०. 'प्रेक्षणं' इति मुद्रितपाठे.

३१. 'नयनाब्जयोः' इति मुद्रितपाठे.

३२. 'भवतः'(?)

३३. 'प्रभोः' इति मुद्रितपाठे.

३४. 'कुरुते' इति मुद्रितपाठे.

३५. 'सामर्थ्यम्' इति मुद्रितपाठे.

३६. 'स्वजनविवेकत्रपाधृतीस्त्वथवा' इति मुद्रितपाठे.

३७. 'त्रिभंगस्य' इति मुद्रितपाठे.

३८. 'न जाने कीदृशी दशा' इति मुद्रितपाठे.
३९. 'तद्रसात्मकम्' इति मुद्रितपाठे.
४०. 'तत्तापशामकोप्येषः कृष्णएवास्ति नापरः' इति मुद्रितपाठे.
४१. 'पोषितः' इति मुद्रितपाठे.
४२. 'प्रेष्ठो वियोगार्त्या' इति मुद्रितपाठे.
४३. 'आविर्भवद्' इति मुद्रितपाठे.
४४. 'भक्तलोचनम्' इति मुद्रितपाठे.
४५. 'रसात्मकम्' इति मुद्रितपाठे.
४६. 'भक्तलोचनम्' इति मुद्रितपाठे.
४७. 'मर्यादा' इति मुद्रितपाठे.
४८. 'अयथापूर्वसंस्थितिम्' इति मुद्रितपाठे.
४९. 'भूषणान्यपि' इति मुद्रितपाठे.
५०. 'मत्याद्यगम्यं' इति मुद्रितपाठे.
५१. 'अल्पकेन' इति मुद्रितपाठे.
५२. 'तन्निरूपयितुं' इति मुद्रितपाठे.
५३. 'रुचिता' इति मुद्रितपाठे.
५४. 'श्रीविट्ठलप्रभुः' इति मुद्रितपाठे.



॥ 'अस्मत्कुलम्' इत्यस्य श्रीहरिरायाणां व्याख्या ॥

नमः पितृपदांभोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ॥
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेन आत्मसात्कृतम् ॥१॥

अथ श्रीमदस्मत्स्वामिचरणाः स्वहृदयस्थायिभावात्मक प्रभु-त्रिभंगललितस्वरूपदिदृक्षार्तितापभरेण स्थातुम् अशक्ताः कापि इदृशं रूपं प्रियं मां दर्शयति इति भावेन तथाविध - विविधरसभावात्मकं स्वरूपं निरूपयितुं भक्तिरूपतया भगवदाविर्भावहेतुन् निजाचार्यचरणरेणून् मंगलसिद्धये प्रथमं नमस्यन्ति **नम** इति. **पितृपदांभोजरेणूभ्यो नमः** अस्तु इति सम्बन्धः. एतन्नमनस्यापि तत्कृपामात्रसाध्यत्वं न स्वकृतिसाध्यत्वबोधनाय 'नमामि'इत्यादि क्रियापदम् अपहाय '**नमः**' शब्दप्रयोगः. अयं नमस्कारः तदर्थकएव न फलान्तरार्थक इति ज्ञापनाय संप्रदानत्वबोधक '**रेणुभ्यः**' इति चतुर्थ्यन्तपदप्रयोगः. ननु नमने कः सम्बन्धः इति आकांक्षायाम् आहुः. **पितृ** इति. पातीति पिता. तथाच सर्वभावेन स्वरक्षकत्वात् तथा इति भावः. ननु एवं सम्बन्धे तन्नमनमेव उचितं न चरणरेणूनाम् इति चेत् तत्र आहुः **पदांभोज...** इति. तत्रहि भक्तेरेव अपेक्षा नान्य साच पदात् भक्तिरूप(?स्य!) निवेदनादेव भवतीति तथोक्तिः.

ननु भक्तिरपि द्विविधा मर्यादापुष्टिभेदेन. तत्र परा सर्वेन्द्रियास्वाद्यरसा. पूर्वा मुक्तिसाधकत्वेन अतथाविधा, आत्ममात्रेण तत्र आनंदानुभवात्. तथाच 'पदाद्' अपूर्वेव सा भविष्यति इति आशंक्य आहुः **अंभोज** इति. तस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वं लोकसिद्धम्. तथाच तादृशभक्तिरूपात् ततः पुष्टिभक्तिरेव सेत्स्यति इतिभावः. ननु एतादृक्पदकमलनमनत्वात् तद्रेणुनमने को हेतुः इति चेत् तत्र आहुः **रेणूभ्यः** इति. रेणवोहि सततसमाश्रितत्वेन तत्सम्बन्धित्वेन भक्ताइव तत्रापि रजोरूपत्वेन दैन्यभावतः परमकृपालवः तएव भक्तिप्रदाः. पदांभोजन्तु भक्तिरूपम् इति तद्दायकाधीनम् इति तन्नमनम् इत्यर्थः. यद्यपि एकेनैव रेणुना कार्यसिद्धिः तथापि बहुवचनम् एकस्मिन्नेव

जात्यपेक्षया महत्त्वसूचनाय. अथवा, तेषाम् अनन्तत्वात् बहुभ्यो नमने तन्मध्ये अस्मद्दैन्यम् अवलोक्य कोपि कृपां कुर्याद् इति अभिप्रायेण तथोक्तिः इति भावः.

यद्वा. अलौकिकमेव उपयोगिशरीरसंपादनं हि तत्कार्यता नैकेन तेन सिद्ध्यति इति तथा इत्यर्थः. अन्यद्वा, बहुभ्यो नमनं स्वदैन्यातिशयद्योतनाय. एतेन एतच्चरणसम्बन्धित्वमात्रेण सर्वेषाम् एकरूपतया मान्यत्वम् इति निरूपितम्. नमनन्तु अन्यस्य एतादृशेषु कर्तुम् अशक्यत्वाद् इति बहुधोक्तम्. आदावेव तदुक्तिस्तु दैन्यभावस्य सार्वदिकस्फूर्त्यभिप्रायेण. एवं निःसाधनसाधनं नमनम् इति अभिप्रायः.

पदांभोजरजोमहत्त्वम् आचार्यमाहात्म्येनैव इति तदसाधारणमाहात्म्यम् आहुः **यन्निवेदनाद्** इति. **येषां** प्रसिद्धानां सर्वत्र निजाचार्याणां साक्षादाविर्भूते भगवति भावात्मके पुरुषोत्तमे पुरःस्थिते कृष्णसात्कृतप्राणानां **निवेदनं** सर्वसमर्पणं तस्मादेव साधनान्तराभावेऽपि समर्पणविषयत्वेन **अस्मत्कुलम्** अस्मत्सजातीयसमूहरूपम् अखिलं **निःकलंकम्**. **कलंकः** साक्षात्पुरुषोमासम्बन्धित्वं त इति तमासित् (?). जीवानाम् अक्षरांशानां तद्वारैव पुरुषोत्तमसम्बन्धयोग्यत्वात्. अतएव प्राह प्रभुरेव गीतायां "**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**" (भग.गीता.१२।२) इति.

अथवा, येषु आचार्येषु निवेदनकथनं "यदि अस्माकं भवन्तो अस्मदंगीकृतिं कृपया कारयन्तु" इत्येवं रूपं तस्माद् अस्मत्कृताद् आचार्यप्रार्थनारूपाद् अस्मत्कुलम् अखिलम् तथा इत्यर्थः. यद्वा, **कलंकं** आचार्यकुलोत्पन्नानां कालाद्यन्यसम्बन्धित्वं तद्रहितम् इत्यर्थः.

अथवा. **कलंकं** शरीरादीनां कालप्रवाहपतितानां प्राकृतत्वेन दुष्टत्वात् साक्षात्कृष्णसेवाकृत्ययोग्यत्वं तदभावो अत्र बोध्य इत्यर्थः. **अस्मत्कुलम्** इत्यत्र स्वसम्बन्धवाचकत्वेन **अस्मच्छब्देन** कुलेऽपि स्वसम्बन्धिनामेव तथात्वं सम्बन्धाभावे न इति आशयो निरूपितः.

सम्बन्धस्तु अत्र भावात्मकैव मुख्यो ग्राह्यो न जननादिरूपः. अन्यथा विस्फुलिंगन्यायेन अक्षरतः समुत्पन्नानां सर्वेषामेव जीवानां तत्सम्बन्धित्वेन दैवासुरविभागो न स्यात्. भावदोषादेव आसुरत्वं सम्बन्धस्तु तुल्यः. सच बन्ध-मोक्षाभ्यां प्रपञ्चे चिक्रीडिषोः प्रभोरिच्छयैव इति. अतएव उक्तं प्रभुणैव **''क्षिपाम्यजस्रम् अशुभान्''** (भग.गीता.१६।१९) इति. अतएव च भावात्मकएव सम्बन्धो मुख्यः इति तमेव विधातुं पुनर् निवेदनम्. अन्यथा ''यूयं भगवददुत्पन्नाः ततो वियुक्ता अविद्यया गृहिताः. प्रपञ्चं विस्मृत्य पुनः तमेव स्मरथ'' इति ज्ञानमेव उपदिशेयुः. तेन कुलेऽपि यत्र फलदित्सा तत्र स्वभावसम्बन्धं सम्पाद्य फलं प्रयच्छति, यत्र तदभावः तत्र न तथा इति बोध्यः. जननसम्बन्धस्तु न तथाविधः. अतएव सत्स्वपि प्रद्युम्नादिषु उद्धवस्यैव मुख्यत्वोक्तिः **''न उद्धवो अण्वपि मन्न्युन''** (भाग.पुरा.३।४।३१) इत्यादिना.

ननु पूर्वोक्तकलंकनिवृत्तौ कः प्रकारः इति आकांक्षायाम् आहुः **श्रीकृष्णेन आत्मसात्कृतम्** इति. आचार्यवर्य-तदात्मजविहितनिवेदनाभ्यामेव **श्रीकृष्णेन** प्रकटसदानन्देन **आत्मसात्** स्वस्वरूपाधीनं नतु धर्माधीनं पुष्टौ अंगीकारात् कृतम् इति तथा इत्यर्थः. एतेन महापुरुषद्वारैव अधुना अंगीकृतिः इति निरूपितम्. अतएव उक्तं निरोधलक्षणे **''महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति''** (निरो.ल.४) इति. तथाच अन्यकारिनिवेदनेऽपि तएव कारयन्ति इति भावेन तत्कारणे फलसिद्धि न अन्यथा इति भावः.

अथवा विपर्ययेण अत्र विशेषणविशेष्यभावो अवगन्तव्यः. तथाहि : आचार्यनिवेदनाद् **यत् कृष्णेन आत्मसात्कृतम्** अन्याविनियोगेन केवलं स्वोपयोगितयाः स्वाधीनं कृतं तदेव **अस्मत्कुलं** अस्माकं तत्रैव स्वीयत्वबुद्धेः. अतएव दृष्टः प्रभुषु पुत्रादेरपि प्रभुसेवाऽतत्परस्य परित्यागो हृदाच उक्तः च तथैव अस्मदाचार्यैः निरोधलक्षणे **''पुत्रे कृष्णप्रिये रति''** (निरो.ल.१८) इति. **निष्कलंकं** च तदेव प्रभुसम्बन्धेनैव पूर्वोदितदोषनाशात् सेवोपयोगित्वेन आत्मसात्करणाय युक्तत्वं कृष्णे निरूपितम्. भक्तसहितस्यैव

प्रभोः सेवाकृत्यपेक्षत्वात् सेवायाअपि भावरूपत्वज्ञापनाय **'कृष्ण'**पदम्. स्वरूपस्य भावात्मकत्वेन आन्तरत्वज्ञापनाय **'आत्म'**पदम्.

एवं यथोचितं मंगलाचरणं विधाय उपक्रान्तस्वरूपनिरूपणं कर्तुं तस्य पुष्टिमार्गीयत्वद्योतनाय वामप्रकारेण तत्स्वरूपं निरूपयन्ति. **वामजान्वंत** इति. अत्र हि स्वसखिसन्निधौ आगत्य आर्त्या हृदयस्थितस्य बहिर्दिदृक्षार्तिभराकुलतया प्रदर्शय एतादृशं रूपम् इति वदन्तइव स्वहृदयस्थितं त्रिभंगललितं तत्स्वरूपं पुरुषत्वात् प्रभोः पदयुगलम् आरभ्य वर्णयन्ति. तत्र प्रथमं पदद्वयं वर्ण्यते **वामजान्वंत** इत्यारभ्य **प्रकटयति प्रेमवल्लभ्यम्** इत्यन्तेन श्लोकत्रयेण. **वामं** सुंदरं कदाचिदेव लीलाविशेषे आवरणापसारणेन अतिदुर्लभावलोकनतया सुन्दरत्वेपि अन्यांगानाम् इदं तथा. अथवा **वामं** वक्रं भगवतोपि अंग त्रिभंग (अग्रे त्रुटिता भाति)

इति श्रीहरिदासोदिता
ललितत्रिभंगग्रन्थीयप्रथमश्लोकव्याख्या संपूर्णाः.

(मातृकासंग्रहः)

१. कामवन.



॥ श्रीगोकुलाष्टकम् ॥

श्रीमद्गोकुलसर्वस्वं श्रीमद्गोकुलमण्डनम् ॥
श्रीमद्गोकुलदृक्तारा श्रीमद्गोकुलजीवनम् ॥१॥

श्रीमद्गोकुलमात्रेश: श्रीमद्गोकुलपालक: ॥
श्रीमद्गोकुललीलाब्धि: श्रीमद्गोकुलसंश्रय: ॥२॥

श्रीमद्गोकुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसम् ॥
श्रीमद्गोकुलदु:खघ्न: श्रीमद्गोकुलवीक्षित: ॥३॥

श्रीमद्गोकुलसौन्दर्यं श्रीमद्गोकुलसत्फलम् ॥
श्रीमद्गोकुलग:प्राण: श्रीमद्गोकुलकामद: ॥४॥

श्रीमद्गोकुलराकेश: श्रीमद्गोकुलतारक: ।
श्रीमद्गोकुलपद्मालो श्रीमद्गोकुलसंस्तुत: ॥५॥

श्रीमद्गोकुलसङ्गीत: श्रीमद्गोकुललास्यकृत् ॥
श्रीमद्गोकुलभावात्मा श्रीमद्गोकुलपोषक: ॥६॥

श्रीमद्गोकुलहृत्स्थानम् श्रीमद्गोकुलसंवृत: ॥
श्रीमद्गोकुलदृक्पुष्ट: श्रीमद्गोकुलमोदित: ॥७॥

श्रीमद्गोकुलगोपीश श्रीमद्गोकुललालित: ॥
श्रीमद्गोकुलभोग्यश्री श्रीमद्गोकुलसर्वकृत् ॥८॥

इमानि श्रीगोकुलेशनामानि वदने मम ॥
वसन्तु सततं चैव लीला च हृदये सदा ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं श्रीगोकुलाष्टकम्
संपूर्णम्

॥ श्रीगोकुलाष्टकम् ॥

(श्रीहरिरायविरचितं विवरणम्)

जयन्ति श्रीमन्तो जगति करुणासिन्धुतनवः॥
तएव स्वाचार्या य इह कृपयन्तः सुरनृषु॥
विधर्मग्रस्तान्तःकरणमतिशून्येषु [१]सरसं ॥
स्फुटीचक्रुः स्वीयं दुरधिगमवर्त्माद्भुतमिदम्॥१॥
[२]यन्मार्गस्वीकारे ह्यपेक्षते नैव साधनं किमपि॥
स जयति कृपारसार्द्रः स्वीये श्रीविठ्ठलाधीशः॥२॥
[३]यत्करुणामृतदृष्ट्या सिक्ते स्वतएव मे हृदये॥
उल्लसिता रसभावनवाङ्कुरास्तं विभुं नौमि॥३॥

अथ श्रीमदस्मत्प्रभुणा रहसि श्रीमद्गोकुलेशस्य श्रीगोकुलस्य च [४]तत्तत्क्षणसम्बन्धिलीलास्वरूपयोः अनुभवे प्रभुस्वरूपं गोकुलस्वरूपात्मकं गोकुलस्वरूपं प्रभुस्वरूपात्मकम् इति सदैव सर्वात्मना [५]अनुभूतम् अस्ति. कदाचित् प्रभोः तादृग्रसात्मकस्वरूपं स्वामिनीनामेव विदितं स्वामिनीनां [६]तादृग्स्वरूपञ्च प्रभोरेव विदितम् अन्यस्य न [६अ]एतद्दिग्गन्धोऽपि. तत्सर्वं स्वस्य सर्वांशेन अनुभूतं भवतीति तत्सौभाग्यजनितानन्दभरवशेन रसात्मकतया [७]ईदृग्रूपञ्च अस्मत्प्रभुस्वरूपएव; श्रीमद्गोकुलएव न अन्यत्र कुत्रापीति स्वस्वामिनोः [८]सर्वोत्कृष्टरसत्वं स्वहृदयमेव उद्बोधयन्तः तादृगुच्छलितरसस्वभावेन गलनमिव पूर्वोक्तधर्मज्ञापकगुणलीलानुवर्णनं कुर्वन्तः श्रीमत्प्रभुचरणाः पद्यबन्धेन स्वान्तरङ्गेष्वपि कृपया प्रभुस्वरूपं ज्ञापयन्तः तत्तन्नामानि निरूपयन्ति.

तत्र प्रथमश्लोके यत् सर्वस्वरूपं तद् रहस्यं धनम्, तदेव मुख्यम् यतः तदात्मिकैव लोकप्रवृत्तिः. तदभावे निष्फलत्वम् तस्य अभावएव इत्यत्र प्रभोः [९]सर्वस्वत्वनिरूपणेन गोकुलस्वरूपं निरूपयन्ति **श्रीमद्गोकुलसर्वस्वम्** इति.

श्रीमद्गोकुलसर्वस्वं श्रीमद्गोकुलमण्डनम् ।।
श्रीमद्गोकुलदृक्तारा श्रीमद्गोकुलजीवनम् ।।१।।

अयं भावो : लोकेषु ब्रह्मलोकपर्यन्तं यत्र - यत्र दृश्यते श्रीः तत्र - तत्र साक्षात्स्वरूपेण न तिष्ठति किन्तु अंशकलादिरूपेण. सा परं सर्वोत्कृष्टा वैकुण्ठे तिष्ठति. तादृशं तमपि विहाय अधुना श्रीगोकुले तिष्ठति. तदुक्तं "**श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति "**रमाक्रीडमभून्नृप**" (भाग.पुरा.१०।५।१८) इति (च). '**आक्रीड**' - 'शश्वत्'पदेन यावन्तो लक्ष्मीविलासाः सर्वोत्कृष्टाः तावत्सहिता श्रीः नित्यं [१०]विलसति नतु केवला इति सूचितम्. तथाच तादृशं सर्वोत्कृष्टविलासयुतश्रीयुक्तं यद् **गोकुलं** तादृशस्यापि तस्य **सर्वस्वं** मूलरूपं रहस्यं प्रियं धनम्. यथा अन्येषां बहिः सकललक्ष्मीविलासाः प्रकटा भवन्ति परन्तु [११]मूलभूतस्वरूपं धनं यत् **सर्वस्वं** तत् सर्वविद्यं गोप्यमेव तिष्ठति. तद्धेतुकाएव बहिर्विलासाः तत्स्थैर्येणैव चित्तमपि स्थिरं भवति न अन्यथा. तथा तादृशस्यापि **गोकुलस्य सर्वस्वं** श्रुत्यादिभिरपि अवेद्यं श्रीगोकुलेशएव नतु श्रीबहिर्विलासादिकमपि तत्सर्वस्वहेतुकमेव गोकुलस्य नतु पूर्वोक्तश्रीहेतुकम् इति विज्ञेयम्. यद्यपि प्राकट्यात् पूर्वं तच्छ्रीयुक्तत्वं न दृश्यते श्रीगोकुलस्य परन्तु सर्वस्वरूपप्रभुप्राकट्याशारूपं रहस्यं धनं सर्वदा अन्तःस्थितमेव आसीद्. यतः तद्वासनयैव तस्य प्राकट्यमिति [१२]तद्वासनायाः स्वसर्वस्वरूपश्रीयुक्तत्वमेव नतु अन्यश्रीयुक्तत्वं पूर्वमपि इति. तदनन्तरं या श्रीः तद्विलासोल्लासादियुक्तत्वं च यद् श्रीगोकुलस्य दृश्यते तत्सर्वस्वदर्शनहेतुकमेवेति तत्सर्वस्वं प्रभुरेव इति ज्ञेयम्. यस्य यत् सर्वस्वं यद्वासनया जातं तस्य सदा तद्वासनैव तिष्ठति यथा तथा सदा तद्वासनायुक्तत्वात्. तद्व्यतिरेकेण [१३]तेषां बहिर् हृदि तद्विलासा न स्फुरन्ति इति भावः. अनेन प्रभुकृतमेव श्रीमत्त्वं श्रीगोकुले नतु श्रीकृतम् इति निश्चितं भवति. तेन केवलम् अनन्यधनमेव गोकुलं तस्यैव अयं प्रभुः तादृशएव इत्यपि सूचितम्. तादृशत्वाभावे सर्वोत्कृष्टप्रभुत्वमेव न भवति इति. एतदेव उक्तम् "**अनन्यगोकुलस्वामिन्**" (विज्ञ.प्रभुं.प्र.१३३) इति. अनन्यस्य स्वाम्यपि अनन्यएव. यतः एतादृशो अयमपि न अन्यत्र इति

ज्ञापनाय '**अनन्य**'पदम् उक्तम्.

किञ्च, सापि श्रीगोकुलस्वामिचरणरजकामनया तत्र तिष्ठति. तत्तु **श्रीगोकुलसर्वस्वम्** इति [१४]तदत्तमेव प्राप्येतेति श्रीगोकुलेनैव स्वसर्वस्वांशभूतं रजोधनं [१५]कदाचिद् लक्ष्म्यै दीयेत येन तस्या अपि काचिद् अपूर्वैव श्रीः भवेत्. परन्तु प्रायशो न दत्तं यतः तस्या एतत्स्पृहैव तिष्ठति इति. यत्र लक्ष्म्याअपि तत्स्पृहया वासः तत्र तत्कृतशोभाविलासादिगणनापि श्रीगोकुले न घटतइति तस्य प्रभुसर्वस्वकृता अलौकिकैव सुषमा न अन्या इति ज्ञेयम्.

किञ्च, तच्छोभा बहिरेव इयन्तु बाह्याभ्यन्तरव्याप्ता इति. यथा [१६]एतद्विलासा उल्लसन्ति तथा न [१७]तस्याः इत्यतः शोभाजनकत्वेन महद्वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. किञ्च, लोकास्तु श्रीकलैकलेशेनैव विमोहिता भवन्ति. भक्तास्तु साक्षात् सर्वांशपूर्णश्रीविलासादिसम्बन्धेऽपि मोहिता न भवन्तीति श्रीगोकुलस्य तद्वत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धाभावात् सूचितम्. यद्वा '**सर्वस्व**'पदेन **सर्व**रूपो= देहप्राणेन्द्रियादिरूपः, '**स्व**'पदेन आत्मरूपः. तेन [१८]तत्कार्यकर्तृरूपः स्वयमेव इति सूच्यते. अनेन श्रीगोकुलसम्बन्धिसार्वदिकमपि यत् कर्तव्यं तत् सर्वं भगवत्कृतमेव भवति न स्वकृतम् इति ज्ञापितम्. एवम् (श्रीमद्गोकुलसर्वस्व-म्...श्रीमद्गोकुलसर्वकृत् इति) उपक्रमोपसंहारावपि सङ्गतौ भवतः. तेन केवलम् अनन्य [१९]भाववत्त्वं सर्वथा निर्दुष्टत्वं भगवद्रूपत्वं च श्रीगोकुलस्य निरूपितम्. प्रभोरपि नित्यस्थायितत्सर्वस्वरूपत्वेन केवल[२०]तदैकात्मकत्वं ज्ञापितम्. तत्राऽपि अधिकारिभेदेन यत्र यादृग्रूपत्वं तत्र तादृग्रूपत्वेनैव तथात्वमिति श्रीमातृचरणादिषु तत्सर्वं ज्ञेयम् इति अर्थः.

ननु अन्तस्तत्स्थैर्येण तज्जनिता शोभा भवतु बहिरलङ्कारादयस्तु तत्कृताएव विलासाः तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलमण्डनम्** इति. तत्सर्वस्वजनिता या **श्रीः** तद्युक्तं यत् **श्रीगोकुलं** तस्य **मण्डनम्**. बहिरपि मण्डनरूपत्वेन स्वयमेव भूषयति इति अर्थः. अयं भावः : तत्सर्वस्वन्तु भगवत्स्वरूपं

तन्मनसि गोप्यतया अहिर्निशं भाव्यते. तद्भावनोद्भूतं विचित्रभावोद्रेकेण बहिरिन्द्रियेषु गोप्यमपि तत् स्फुटीभवति. तज्जनिता काचित् तादृश्येव [२१]परमसुषमा भवति या मण्डनान्यपि भूषयति. तत् सर्वं स्वरूपहेतुकमेवेति तस्य मण्डनरूपत्वमपि सम्पन्नम्. एतेन तत्सुषमाया: मण्डनानामपि सुषमाजनकत्वेन स्वरूपस्यैव श्रीगोकुलमण्डनत्वं न मण्डनानाम् इति निरूपितम्. यद्वा, साक्षात् श्रीणां मण्डनादिकन्तु स्वाम्युपयोगदशायामेव भवति न अन्यथा. यतः पाणिग्रहणसमये स्वसन्तोषार्थं तेन दत्तमिति तद्धेतुकत्वात् सएव मण्डनं तासां भवति तथा प्रकृतेऽपि प्रभुहेतुकत्वात् सएव मण्डनम्. अतएव स्वरूपप्राकट्यानन्तरमेव तदुपयोगं ज्ञात्वा भक्तानां मण्डनादिकरणम् उक्तम्. "**आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः**" (भाग.पुरा.१०।५।९) इति अन्यदा तद्युक्तत्वाभावात्. [२२]प्राकट्र्यात् पूर्वमपि प्रभुप्राकट्याशयैव मण्डनादिकरणं न तु अन्यथा. तदपि यावद् उपयुक्तमेव सर्वथा अकरणे तादृशसौभाग्यवतीनाम् अनुचितत्वात् लोकेऽपि अन्यथाशंका [२३]सम्भवाच्च इति एतदीयं सर्वं प्रभुहेतुकमेवेति बाह्याभ्यन्तरस्वरूपकृतैव सुषमा गोकुलस्य न मण्डनादिकृता इत्यपि ज्ञापितम्. किञ्च, यद्यपि ध्रियन्ते मण्डनानि तथापि श्रीविलासादिहेतुत्वेन न ध्रियन्ते किन्तु स्वस्वामिदत्तसौभाग्यरूपत्वेन. तत्रापि यानि प्रभुरोचकानि भावात्मकानि तान्येवेति तन्मण्डनान्यपि अलौकिकानि भिन्नानीति अलौकिकत्वेन तेषां प्रभुरूपत्वं युक्तमेव इति भावः. [२४]अत: तन्मण्डनध्यानेन तथात्वम् इति अलं स्पष्टतया. अस्मिन् पक्षे मण्डनानां प्रभुहेतुकत्वाभावे प्रभोरपि तथात्वं न सम्भवतीति तेषां तथात्वमेव इति भावः. अनेन एतदन्यत्र भगवत [२५]ईदृग्रूपत्वाभावश्रवणात् न यत्र एतादृशोभाव: तत्र प्रभोरपि न एतादृशरूपत्वम् इति सूचितम्. एवं सति अत्रैव ईदृग्भाव: तत्रैव ईदृग्रूपो भगवान् इति निर्गलितार्थ:. किञ्च श्रीगोकुलभावानां मणिरूपत्वं प्रभुचरणै: निरूपितमेव "**श्रीभागवतप्रतिपद**" (श्रीस्फु.प्रे.स्तो.२) इति श्लोके इति. तद्भावरूपस्य प्रभो: मण्डनत्वं युक्तमेव. एवं स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुसम्बन्धगन्धोऽपि गोकुलस्य न इति निरूपितम्.

ननु समस्तश्रीविलासादिषु प्रत्यक्षं स्वत:सिद्धेषु सत्सु दृष्टिस्तु पतत्येव.

तत्पतने क्षणमात्रमपि तद्भोगेच्छाभवत्येवेति कथं न तद्गन्धः? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलदृक्तारा** इति. पूर्वोक्तमण्डनोद्भूत **श्री**युक्तं यद् **गोकुलं** तस्य **दृशोः** तारारूपम्. यथा दृशि तारा स्थिरा भवति तथैव तत्स्वरूपं तद्दृशि स्थिरमिति यत्र-यत्र दृष्टिः पतति तत्र स्वरूपात्मिकैव पतति. स्वरूपन्तु स्वोपयोग्येव वस्तु गृह्णाति न अन्यदिति लीलागर्भितवस्तुनएव ग्रहणं न अन्यस्य इति ज्ञापितम्. किञ्च, दृष्टेः धर्मो दर्शनं रूपग्रहणञ्च. तदेव तारायां प्रतिफलितं भवति. प्रकृते यदवधि प्रभुस्वरूपं दृष्टं तदवधि सा तारा तद्रूपैव जातेति न तद्व्यतिरिक्तग्रहणं कदाचिदपि करोतीति कुतः तदन्यभावोत्पत्तिशङ्कापि इति भावः. यद्वा **'तारा'** पदेन लोके शुक्रः कथ्यते. तथा च तादृशस्य[२६] तद्दृशां च तद्रूपो बीजरूपत्वाद् आलोकनेन मङ्गलकारित्वात् च. अयम् आशयः : **"पुष्टिं कायेन"** (पु.प्र.म.९) इति वाक्याद् भगवान् साक्षाद्रसात्मकस्वरूपेणैव लीलासृष्टिं केवलं लीलार्थमेव सृजति न अन्यप्रयोजनार्थम्. लीलातु तत्सृष्टौ स्वप्राकट्येनैव भवति न अन्यथेति स्वयमेव बीजरूपत्वेन तद्गोकुलं प्रकटीकृत्य पश्चात् स्वयमपि तत्र प्रकटीभूय पुनः तद्दृशां तारारूपो जातः. प्रतिबन्धकस्य निवर्तकत्वात् तदेकावलोकितत्वात् च यथा लोके पूर्वं प्रतिबन्धकत्वेन रुद्धमपि तारोदये सर्वेषां मङ्गलकार्यं भवति तथा भगवत्प्राकट्ये गोकुलस्यापि तत्तन्मनोरथप्राप्तिरूप-मङ्गलकार्याणि जातानि. यथा पुनः सकलनक्षत्रमण्डलेषु सैव अतिप्रकाशमाना दृश्यते तथा समस्तगोकुले प्रभुरेव सर्वमनोरथपूरकत्वेन प्रकाशमानो दृश्यतेति सर्वेषां लोचनतारारूपो जात इति भावः. एवं सति कारणतः कार्यतः फलतः स्वरूपतश्च न तदतिरिक्तसम्बन्धो गोकुलस्य इति सिद्धम्. वस्तुतस्तु तत्सृष्टिः तादृग्भावात्मिकैव इति न अनुपपत्तिः काचित्.

ननु [२७]इतरवत् स्वदर्शनेऽपि जीवनहेतुत्वेन भोजनादिव्यवहारः क्रियतएवेति तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलजीवनम्** इति. पूर्वोक्तभावजनितश्रीयुक्तं यद् **गोकुलं** तस्य **जीवनमपि** अयमेव न अन्यत्. **श्रीगोकुलजीवनम्** अन्नादिहेतुकं न किन्तु प्रभुस्वरूपहेतुकमेव. यतः [२८]तत्स्वरूपापेक्षणेनैव जीवनं स्यात् अतएव उक्तं **"वरद निघ्नतो"** (भाग.पुरा.१०।२८।२) **"त्रुटिर्युगायते**

त्वामपश्यताम्'' (भाग.पुरा.१०।२८।१५) ''**तव कथामृतं तप्तजीवनम्**'' (भाग.पुरा.१०।२८।९) इत्यादिकं जीवनहेतुत्वेन च उक्तम्. यत्र तत्सम्बन्धिकथायामपि जीवनरूपत्वं तत्र स्वरूपस्य जीवनत्वे किं वाच्यम्? अतएव फलप्रकरणे भगवन्निषेधवाक्यश्रवणानन्तरं सस्मितवदनोद्गतैकवचनामृत-पानेनैव जीवनसम्पत्तौ पुनः उत्तरदानम् अभूद्. अतो निषेधवाक्यानि इतररूपेणैव उक्तानि. स्मितवाक्यं प्रियरूपेणैव उक्तमिति प्रियस्वरूपमेव तज्जीवनं न अन्यद् इति ज्ञेयम्. एतद् यथा तथा तद्वेद्यमेवेति न शङ्कनीयं किञ्चित्. तथा च उक्तमपि ''**प्रेष्ठं प्रियेतरम्**'' (भाग.पुरा.१०।२६।३०) इत्यस्य विवरणे अग्रे तिरोधानदशायां स्पष्टमेव. एतेन देहादीनां केवलस्वरूपात्मकत्वाद् बहिःपरिदृष्यमानव्यवहारोऽपि स्वरूपानुभवसिद्धिहेतुकएव नतु व्यवहारसिद्ध्यर्थ-मिति न अन्यहेतुकं जीवनं गोकुलस्य. अतएव वेणुनादश्रवणमात्रेणैव भोजनादिसर्वत्यागः. तत्रैव अग्रे प्रतिबन्धे सति जीवनाभावएवेति अन्तर्गृहगतादिषु दृष्टमेवेति किमतो अधिकं वाच्यम्! किञ्च, यत्र प्रभुबाल्यदशायामपि गोकुलं तदेकजीवनमेव तत्र साक्षात्प्रकटरसानुभवोपयोगिदशायां किमु वक्तव्यम्! इति. ''**इयदवधि परमेतदाशया समभवज्जीवनं तावकीनाम्**'' (प्रेंखपर्यंक.१) इति गीतेन ज्ञाप्यते. अनेन स्वामिनीनां बाल्येऽपि तद्रसानुभवएव भवतीति न अन्यद् ज्ञापितम्. तेन कदाचिद् बाल्ये तद्रसानुभवासम्भवात् जीवनत्वं न भविष्यतीति निरस्तम्.

ननु स भगवान् सर्वेषामेव आत्मा ईशश्च गोकुलस्यैव एवं तदेकपरत्वम् उच्यते कथं न अन्येषां? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलमात्रेशः**.

श्रीमद्गोकुलमात्रेशः श्रीमद्गोकुलपालकः।।
श्रीमद्गोकुललीलाब्धिः श्रीमद्गोकुलसंश्रयः।।२।।

श्रीमद् गोकुलमात्रेशः पूर्वोक्तरूपतन्मात्रस्य **ईशः** न अन्यस्य. अन्येषां बहवएव ईशाः, काल - कर्म - स्वभावादयः, तदधीनत्वेनैव जगदुत्पत्तेः गोकुलमात्रस्य भगवदधीनत्वेनैव प्राकट्यं न अन्याधीनमिति गोकुलस्यैव तथात्वं

न अन्यस्य इति सुष्ठूक्तम्. एवं कालादीनामपि गोकुले न प्रवेशइति तत्कृतप्रतिबन्धोऽपि न इति सूचितम्. यद्वा '**ईश**'पदेन नियन्तृत्वम् उच्यते. तस्य अयं भावो : अधुना श्रीगोकुले यत् प्राकट्यं तत् साक्षात् फलदानार्थमेव. एतन्मात्रनियन्तृत्वेन भगवता कृतं तत्फलं केवलसर्वात्मभावलभ्यम्[२८अ]. यदि च श्रीगोकुलस्य देहप्राणेन्द्रियादिषु स्वयं नियन्तृत्वेन तथा न प्रविशेत्[२९] तदा एतादृग्भावोऽपि न भवेत् कालादिकृतप्रतिबन्धेन प्राकृतभावएव भवेदिति फलमपि न भवेत्; तदभावे प्रभुप्रयोजनमपि न भवेदिति तन्मात्रस्य ईशः स्वयमेव जातः. वस्तुतस्तु कालादीनां तन्नियन्तृत्वाशक्तत्वात् स्वयमेव ईशः तस्य न अन्यः अन्येषु अक्षरात्मकात्मरूपत्वेन सर्वात्मभावलभ्यफलदातृस्वरूपभगवतः प्रेरकत्वाभावात् न तेषां तथात्वमिति सर्वम् उपपन्नमेव. यद्वा तन्मात्रेशत्वकथनेन श्रीगोकुलमात्रस्यैव तदेकसेवायोग्यत्वं न अन्यस्य इति ज्ञाप्यते. तथा हि सेवकस्य अयं धर्मो यत् प्रभ्वाज्ञां विनैव तद्भावं ज्ञात्वा तदपेक्षितवस्तुसमर्पणं करोति. प्रेमभरेण तदसम्भवे तदार्त्तिः तापः तिष्ठति यन् ''मम जन्मजीवनं व्यर्थमेव यत् प्रभ्वपेक्षितं न भवति'' इति. तादृशं श्रीगोकुलमेव न अन्यो यतो बाल्यदशायां रात्रौ प्रभ्वपेक्षितकरणासम्भवे प्रातः यावत्पर्यन्तम् उन्निद्रायित - विकसन् - नवसरोजसुषमातिरुचिरेक्षणेन प्रभुः न विलोकयेत् तावदेव जीवनाशक्यत्वे सम्पन्ने [३०]तापासहिष्णुतया श्रीगोकुलेन प्रार्थितो भवति प्रभुरिति श्रीमत्प्रभुणैव गीतं ''**चिरविरहतापहर**'' (प्रेंखपर्यंक.१) इति. ''**इयदवधि परम्**'' (प्रेंखपर्यंक.२) इत्यादि च. अग्रे प्रभुरपि तथैव तदपेक्षितं सर्वं सम्पादयतीति द्वयोरपि परस्परैकपरत्वेन तत्रैव तादृग्रूपत्वं न अन्यत्रेति न अन्येषां तद्भावसाधनफलस्य गन्धोऽपि इति भावः.

ननु नियन्तृत्वेन प्रेरणे कृते तादृग्भावानन्तरं कथं जीवनस्थितिः तस्य तदभावकरणस्वभावात् तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलपालक** इति. तादृग्भावजनित-**श्रीयुक्तगोकुलस्य पालकः**. यदि तत्समये तादृक्प्रेमायनातिरुचिरेक्षणामृतसिञ्चनेन न पालयेत् तदा तथैव भवेदिति [३१]तत्पालनेनैव जीवनसम्पत्तौ दर्शनस्पर्शनलालनादिरूपापेक्षितकरणेनैव जीवनस्थितिः तस्य न अन्यथा इति

भावः. यद्वा पूर्वनाम्नि ईशत्वम् उक्त्वा अग्रिमे पालकत्वम् उक्तं तस्य अयम् आशयः : ईशो हि प्रजां पालयति. प्रजासु यत् सर्वस्वं धनादिकं भवति तत् सर्वं दस्युभ्यो रक्षति. अयम् ईशधर्मो यत्र पुनः कृपां कुर्यात् तत्र स्वयमपि दत्वा पोषणं करोति. प्रकृते भगवानेव स्वयम् ईशः. स च अलौकिकः तस्य प्रजापि अलौकिकी. तद्गोकुलं [३२]तत्सर्वस्वधनमपि प्रभुस्वरूपमेव न अन्यत्. तत्पुनः भावात्मकत्वाद् अतिगोप्यतया हृदये स्थापितमिति कालादिमहादुष्टदस्युभ्यः सदा रक्षति प्रत्युत स्वस्य स्वरूपामृतदानेन निरन्तरं पोषयित्वा [३३]समृद्धिं क्रियतइति पूर्वम् ईशत्वम् उक्त्वा अग्रे पालकत्वम् उक्तम् इति भावः. यद्यपि स भावः सर्वदा पुष्टएव तथापि यथा सर्वात्मना प्रतिक्षणं नूतनतया[३४] पुष्टो भवेत् तथा बाललीला - वेणुनाद - स्ववचनकटाक्षामृतादिना निरन्तरं पोष्यतएवेति न अनुपपत्तिः काचित्.

ननु एवं सर्वात्मना प्रतिक्षणं पोषणे किं प्रयोजनं? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुललीलाब्धि** इति. तादृक्पोषणेन सर्वदा उद्बुद्धरसजनितश्रीयुक्तगोकुलस्य लीलासमुद्ररूपः. यदा एवं पोषणे सर्वात्मना सर्वात्मभावो भवेत् तदा प्रभुः तादृश उद्बुद्धरसात्मकं स्वस्वरूपं प्रकटीकृत्य तत्तद्भावभेदेन तत्तल्लीलासमुद्रेषु श्रीगोकुलं मग्नं लीनं कुर्वन् स्वरूपानन्दं ददाति इति अर्थः. अतएव बाललीलादिष्वपि तादृशपोषणादेव रसात्मकस्वरूपस्यैव अनुभवो न बाल्यस्य. [३५]एतेनैव सर्वदा प्रपत्त्यभावेन एतल्लीलाब्धौ लयः, तदर्थमेव पालनपोषणादिकम् इति ज्ञेयम्. अतएव स्वकृताकारणानन्तरमपि [३६]तथागमेऽपि निषेधवचनानि उक्तानीति रसः तथैव पुष्टो भवतीति [३७]न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. किञ्च, समुद्राः बहवः लीलापि अनन्ताइति तद्रूपत्वेन सर्वाः लीला अनुभावयति इति सूचितम्. अन्यच्च, समुद्रे रत्नानि भवन्ति. तानि तदवगाहनेन प्राप्यन्ते तथा अत्र तत्तल्लीलासमुद्रावगाहनेन प्रतिक्षणं तत्पूर्वानुभूतलीलारसभावा नवनवा अनन्ता उद्दीप्ता भवन्ति. तएव रत्नानि इव परमशोभया श्रीगोकुलं भूषयन्ति तथा यथा प्रभोरपि तादृशगोकुलसम्बन्धेन अपूर्वैव काचित् सुषमा जायते. तदुक्तं "**व्यरोचताधिकम्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१०) इति. एतेन यथा गोकुलमण्डनं प्रभुः तथा तन्मण्डनं गोकुलम् इति ज्ञापितं भवतीति एतत्सर्वं

पोषणकृतमेवेति [३८]प्रतिक्षणं तदुक्तम् इति भावः.

ननु समुद्रे लीनानां कथं तद्रसानुभवः ? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलसंश्रयः** इति. तादृक्लीलासमुद्रमज्जनोद्भूतश्रीयुक्तस्य संश्रयः. अयं भावः : "**पुष्टिं कायेन**" (पु.प्र.म.९) इति वाक्यात् केवलं लीलानुभवार्थमेव स्वस्वरूपलीलानां स्वरूपतः पृथक्करणं तदनुभवसमयेऽपि चेत् लीनमेव तिष्ठेत् तदा तत्तल्लीलानुभवो न भवेदिति प्रभुरेव तत्र - तत्र लीनं गोकुलं पुनः - पुनः पृथक्कृत्य तां - तां लीलाम् अनुभावयतीति सर्वम् उपपन्नम्. अतएव सम्यक् श्रयणम् उक्तम्. लयानन्तरमपि पुनः - पुनः [३९]पृथक्स्वरूपानुभवकृतिरेव सम्यक्त्वम् [४०]आश्रयणे. नहि कदाचिद् आश्रये सति अगाधेऽपि तत्र मज्जति प्रत्युत नौकाधिरूढइव[४१]तदवगाहनं करोति. तथा केवलस्वरूपाश्रये[४२] तत्तल्लीलासमुद्रेषु सर्वदा विहरन्त[४३] इति भावः. एतदेव उक्तं स्वतन्त्र लिखने "**यतः एतद् विमुच्यते**" (भाग.पुरा.१०।२६।१६) इति. यद्वा, तादृशो गोकुलस्य **संश्रयः** [४४]आधारभूतः स्वरूपं तु रसात्मकं तदाधारत्वेन लीलाब्धित्वेन गोकुलस्य मीनत्वं ध्वन्यते. तथा च यथा समुद्रे मीना मज्जन्ति बहिरपि निःसरन्ति मज्जनेऽपि तेषां तद्रसानुभवो भवत्येव, तदेकजीवनत्वात् तथा गोकुलस्यापि स्वरूपैकजीवनत्वात् तत्तद्रसाब्धिमज्जनमपि उद्धारो [४५]रसानुभवश्च भवत्येव इति ज्ञेयम्. अन्यथा क्षणेनैव तद्विना जीवनाभावः कथं सम्भवेत्? एतेन गोकुलस्य सर्ववैलक्षण्यं सूचितम्.

ननु लयानन्तरं जीवानां पृथग्भावः पुनः कथं भवेद्? असम्भवात् तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलजीवात्मा** इति.

श्रीमद्गोकुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसम् ।।
श्रीमद्गोकुलदुःखघ्नः श्रीमद्गोकुलवीक्षितः ।।३।।

अयं भावः : साधारणजीवानां विज्ञानानन्तरम् उपाधिनाशे सति अक्षरे ब्रह्मणि लयो भवति. तेषां तदेव असाधारणं फलमिति ते लीनाएव

तिष्ठन्ति. प्रकृते तु साक्षात् रसात्मकस्वरूपादेव लीलार्थं रसात्मकं स्वचरणारविन्दमकरन्दरससंवलितरजसैवसम्पादितदेहयुक्तम् अलौकिकं सर्वथा निर्दुष्टं फलस्वरूपं स्वस्वरूपात्मकमेव प्रकटीकृतं भगवतेति अस्य जीवात्मापि स्वयमेव साक्षाज्जातो न तु अक्षरांशइति तद्रूपत्वेन तत्तलीलाब्धौ स्वस्यैव लयं करोति स्वस्यैव पृथक्त्वमपि. ‘‘तद्रसस्वरूपं तादृशमेवेति तदकरणे तत्फलानुभवएव न सिद्ध्येद्’’ इति अनुपपत्तेः तथा. एतेन श्रीगोकुलस्वरूपं तल्लयस्वरूपञ्च. अन्यत्र अन्यदपि अत्रत्यं सर्वं प्रमाणमार्गाद् भिन्नमेवेति न किञ्चिद् असम्भावितम् इति ज्ञापितम्. अतएव ब्रह्मानन्दमग्नानां ततोऽपि उद्धारः अन्येषाम् असम्भवादिति स्फुटमेव वैलक्षण्यम्.

ननु जीवाः भगवत्स्वरूपात्मकाएव, निर्दुष्टाएव ‘‘**अग्निस्फुलिङ्गाइव व्युच्चरन्ति**’’ (द्र.बृह.उप.२।१।२०) इति श्रुतेः; परन्तु गुणसम्बन्धात् तेषां परं सोपाधिकत्वं तथा अत्रापि तत् कथं न? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलमानसम्** इति. पूर्वोक्तालौकिकजीवात्मकश्रीयुक्तस्य तस्य मानसम्. मानसस्य स्वरूपात्मकभावरूपत्वेन प्रभुरूपत्वमेव इति अर्थः. अयं भावः : पूर्वं तन्मात्रेशत्वेन नियन्ता द्रष्टापि अयमेव इति उक्तम्. पश्चात् जीवात्मरूपोऽपि अयमेव[४६] उक्तः. इदानीं मानसरूपत्वम् उक्तम्. मानसं तु सकलेन्द्रियादिषु मुख्यमिति उपलक्षणत्वेन उक्तम्. वस्तुतः सर्वेन्द्रियरूपत्वमेव यत् तत्प्रेरणयैव गुणविकारा इन्द्रियादिषु उपाधिरूपा उत्पद्यन्ते. तच्च भगवदात्मकमेव. तत्प्रेरकोऽपि सएवेति तत्कारणकेतराण्यपि[४७] भगवद्रूपाणि अलौकिकान्येवेति तद्विकारा अपि अलौकिकाः स्वरूपात्मकाएवेति सर्वथा निर्दुष्टत्वं केवलम् आनन्दात्मकस्वरूपमेव. स्वरूपमेव मानसमिति कुतः सोपाधिकत्वगन्धसम्भावनापि! साधारणानां देहेन्द्रियादिकन्तु प्राकृतभूतादिजन्यं तत्तदधिष्ठातृत्वं च तत्तद्देवानाम्. प्रकृते भगवतएव सर्वरूपत्वमिति सर्वथा निर्दुष्टत्वम् अलौकिकमेव गोकुलमिति किम् अतोऽधिक उत्कर्षो वाच्यः.

ननु एवं स्वस्यैव सर्वरूपत्वे असाधारणः को हेतुः? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलदुःखघ्न** इति. पूर्वोक्त सर्वात्मभावश्रीयुक्तगोकुलस्य असाधारण-

दुःखहर्ता. अयं भावः : श्रीभगवान् भक्तानाम् आनन्ददानार्थं दुःखहरणार्थं च प्रकटः. आनन्ददानन्तु सर्वांशेन तदैव भवेद् यदा सर्वांशेन सर्वात्मभावप्रपत्तिजनितं प्रभुस्वरूपैकसम्बन्धाभावजम् असाधारणं दुःखं भवेदिति गोकुलस्य तादृशं तद्दुःखं सकलेन्द्रियव्याप्तं पृथक्-पृथग्रूपं सदा वर्ततइति यदि तत्तदिन्द्रियात्मादिरूपः सन् स्वयं भगवान् आनन्दं न पूरयेत् तदा तत्तदिन्द्रियाणां दुःखमपि न गच्छेदिति तत्तद्रूपत्वेन स्वानन्ददानेन तत्तदुःखं हन्तीति सर्वरूपत्वे असाधारणो हेतुः उक्तः. अतएव फलप्रकरणे तथैव आनन्ददानमिति "**आत्मना प्रथमा लीला**" (सुबो.का.१०।२६।६) इत्यादिना निरूपितम्. एवं सति यत्र एवं प्रकारेण आनन्ददानं तत्रैव एतादृशस्वरूपो भगवान् न अन्यत्रेति तत्फलमपि एतदपेक्षया न्यूनमेव इति ज्ञेयम्.

ननु श्रीगोकुले सर्वांशपूर्णः तादृशो भगवान् प्रकटएव सर्वैः दृश्यते, सर्वेषां दुःखमपि हन्ति, तदनुभवजनितानन्दानुभवोऽपि भवति. यदि गोप्यतया तिष्ठेत् तदा न भवेदपीति कथम् उच्यते न अन्यत्रेति तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलवीक्षितः**. तादृशभावेन केवलरसात्मकश्रीयुक्तगोकुलेनैव वीक्षितः. तत्रापि स्वामिनीभिरेव तद्रूपं विशेषेण ईक्षितं न अन्यैः तत्रत्यैरपि कुतः पुनः अन्येषां तत्सम्भावना! अतएव "इन्द्रियवताम् इदमेव फलम्" इति स्वामिनीभिरेव गीतं न अन्यैरिति तासामेव तद्रूपं लोचनगोचरीभूतं न अन्येषाम् इति भावः. किञ्च, अन्येषां तत्कृतवेणुनादस्यापि अश्रवणमिति "**तद्व्रजस्त्रिय**" (भाग.पुरा.१०।१८।३) इत्यत्र निरूपितम्. कुतः तद्दर्शनमिति तद्रूपं श्रीस्वामिनीनामेव दृश्यम् इति सूचितम्. तदेव उक्तं "**व्रजसुन्दरीनयनमनोनुभवैकगतं परं हृद्यम्**" (ललित.त्रि.स्तो.२१) इति. एवं सति रसात्मकतया प्रियाहृदयनेत्रादिषु सर्वदा निरुद्धएव तिष्ठति. यदा पुनः तादृशरसात्मकतया तत्तद्भावेन प्रियाभिः पुनः वीक्षितो भवति तदा स्वयमपि उच्छलितरसाब्धिः सन् तदेव रसरूपं त्रिभङ्गस्वरूपं प्रियालोचनगोचरं करोतीति स्वामिनीनामेव दृश्यं न तदतिरिक्तसर्वगोचरम् इति सूचितम्.

ननु यदि [४८]सर्वागोचरमेव तर्हि इदमपि कथं ज्ञायते यत् तल्लोचनगोचरं

भवतीति तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलसौन्दर्यम्.**

श्रीमद्गोकुलसौन्दर्यं श्रीमद्गोकुलसत्फलम् ।।
श्रीमद्गोकुलगःप्राणः श्रीमद्गोकुलकामदः ।।४।।

अयं भावः : त्रैलोक्ये यत्र - यत्र सौन्दर्यं रसश्च दृश्यते तत्र एतदंशलेशएव. तदुक्तं "**त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं** वपुर्दधद्" (भाग.पुरा.१०।२९।-१४) इति. तत्रापि स्वप्रियाङ्गसङ्गजनिता [४९] रसात्मिका सुषमा विलक्षणैव काचिद् भवति. तदुक्तं "**व्यरोचताधिकम्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१०) इति. तादृश सौन्दर्यमेव [५०] स्वरूपं तत् सर्वदा स्वामिनीहृदयनेत्रादिषु रसात्मकतया निरुद्धत्वेन प्रतिबिम्बितमिव दृश्यतइति तत्सम्बन्धजनितं यत्किञ्चिद् अपूर्वमेव सर्वोत्कृष्टसौन्दर्यं श्रीगोकुलस्य भवति तद् अन्यत्र न दृश्यतइति स्फुटमेव वैलक्षण्येन तथात्वं ज्ञायते. तथाच पदसम्बन्धः [५१] तादृशरसात्मकश्रीयुक्त**गोकुलस्य** यत् **सौन्दर्यं** तदेव निरूपितम् इति. अथवा तत्सौन्दर्यरूपोक्तेः अयमपि गूढाभिसन्धिः. तादृशरूपप्रियाप्रत्यङ्गसौन्दर्यावलोकनेन रसात्मकतया तद्ध्यानेन स्वयमपि तद्रूपत्वात् तत्सौन्दर्यरूपएव भवतीति तल्लोचनगोचरत्वे किं वक्तव्यम्. रसरूपत्वात् सार्वदिकं तद्भावात्मकमेव रूपं न अन्यात्मकम् इति ज्ञेयम्. तदेव उक्तं "**शश्वत्प्रियासितापाङ्ग**" (विज्ञ.प्रभुं.प्र.१६७) इत्यत्र "**प्राप्ततन्निजरूपाय**" ( ) इति. एवं सति यत्र यत् सौन्दर्यध्यानेन स्वस्वरूपस्यापि तद्रूपत्वं तत्र तत्सौन्दर्योत्कर्षस्य किम् अतोऽधिक उत्कर्षइति तत्रैव [५२] रसरूपस्थितिः न अन्यत्र इति सूचितम्.

ननु एवंरूप स्वरूपं प्रकटीकृत्य भक्तानां कामम् आनन्दं च प्रयच्छतु परन्तु ततोऽपि परं फलं किमपि भविष्यति ? इत्यत आहुः **श्रीमद्गोकुलसत्फलम्** इति. एवं स्वरूपानन्दपूर्णश्रीगोकुलस्य **सत्** समीचीनं सर्वोत्तमं नित्यं स्थायि वा **फलं** फलरूपम्. गोकुलयोग्यं यत् फलं तद् इदमेव इत्यतएव उक्तं "**न परं विदाम**" (भाग.पुरा.१०।१८।७). सायुज्यादिरपि न इति अर्थः. किञ्च, अन्येषां भगवत्सायुज्यपर्यन्तं परमफलं केचन ततोपि परमफलं

सेवापरिचर्यादिकं मन्यन्ते. प्रकृते तु यत्सम्बन्धी रात्रीः दृष्ट्वा आत्मारामादीनपि स्वधर्मान् प्रभुः विस्मृतवान् पुनः ताभिः सह रमणार्थं योगमायासमाश्रयणादिकम् अकरोद् इति च. अन्यच्च, यत् स्वरूपध्यानेन स्वयमपि सदा तद्रसात्मकएव विराजत इत्यतः परमधिकोत्कृष्टं फलं किं भविष्यतीति श्रीगोकुलफलं स्वयमेव प्रभुः न अन्यदिति एतत्फलयोग्यञ्च श्रीगोकुलमेव इत्यपि ज्ञापितम्. यतः श्रीगोकुलव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य एतदपेक्षया न्यूनत्वमेव इति भावः.

ननु फलदानार्थम् ईदृग्रूपं स्वरूपप्राकट्यं कृत्वा श्रीगोकुले[५३] प्रकटः तत्फलं दत्तं तदनन्तरं सर्वदा तद्रूपत्वेन स्थितिः किमर्थम्? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलगप्राणः** इति. तादृशस्वरूपसङ्गजनितानन्दभरोद्भूतं यत्किञ्चिदपूर्वश्रीयुक्तं यद् गोकुलं तद्गता अर्थाः तदन्तर्गता ये प्राणाः तद्रूपः. अयं भावः : कोटिकन्दर्पलावण्यस्वरूपसाक्षादङ्गसङ्गानन्तरं [५४]लीलानवसरे तादृशानन्दस्य क्षणमात्रान्तराये प्राणाएव न भवेयुः यदि पूर्वानुभूतलीलास्मरण[५५]जनितभावातिशयेन तादृशलीलासहितप्रियतमप्राकट्यं न भवेत् तदनन्तरं तत्स्वरूपमेव सकलेन्द्रियप्राणादिरूपं भवतीति तत्प्राणानां स्थितिरिति प्राणरूपत्वेन सर्वदास्थितिः उक्ता इति भावः. यद्वा पूर्वोक्तश्रीयुक्त**गोकुले गताः प्राणा** यस्येति **'प्रभु'** विशेषणम्. प्रभुस्वरूपन्तु रसात्मकं तस्य प्राणाअपि रसात्मका अलौकिकाः प्रियास्वरूपात्मकाएव. तद्व्यतिरेकेण तेषामपि स्थातुम् अशक्तिरिति तद्ध्यानेन तदात्मकतया सकलेन्द्रियेषु प्रियास्वरूपप्राकट्येन यथाकथञ्चित् स्थितिः भवतीति तद्गताएव प्रभोः प्राणाइति सर्वदा तथोक्तम्. अतएव **''त्वमसि मम जीवनं त्वमसि मम भूषणम्''** (गीत.गो.४।४) इत्यादि उक्तम्. किञ्च, अत्र भगवति एवं कथं सम्भवतीति कश्चित् शङ्केतेति तत्र उच्यते. तथाहि. **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** (भग.गीता.४।११) **''साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्तु अहम्''** (भाग.पुरा.९।४।६८) इत्यादिवचनाद् भक्तविषये भगवतः तथैव स्वभावः. यत्र मर्यादामार्गेऽपि एवं तत्र साक्षात् केवलरसात्मके लीलोपयोग्ये गोकुले प्रभुस्वरूपमपि केवलं रसात्मकमेवेति एकरूपत्वात् समानशीलव्यसनत्वात् च उभयोः परस्परं प्राणरूपत्वे शङ्का का! इति सर्वम् अवदातम्. वस्तुतस्तु एतादृशत्वाभावे प्रभोः रसात्मकत्वमेव न भवेद्

रसस्य तादृग्रूपत्वादेवेति न किञ्चिद् अनुपपन्नम् . किञ्च प्राणास्तु निःश्वासरूपा. यथा श्वासाः पुनः - पुनः बहिः निस्सरन्ति अन्तःप्रविशन्ति तथा प्रभुरपि बहिः साक्षाल्लीलार्थं प्रकटो भवति स्वरूपान्तराये प्राणरूपत्वेन अन्तर्भवतीति प्राणरूपत्वोक्त्या व्यज्यते. तेन प्राणरूपेण अन्तरेव स्थितिः न बहिः सर्वदा भविष्यतीति निरस्तम् .

ननु यदि क्षणमात्रमपि तद्विना स्थातुम् अशक्तिरेव तर्हि अन्तरायं किमर्थं करोति ? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलकामदः** इति. तदानन्दजनितश्रीयुक्त-**गोकुलस्य कामं** [५६]**ददाति** इति च. अयं भावः : भगवान् तादृशस्वरूपप्राकट्यं कृत्वा तथा आनन्दपूर्तिं चक्रे यथा सर्वा प्रिया मनोरथान्तं प्राप्ताः. तदनन्तरं चेद् अन्तरायं न कुर्यात् तदा तन्मनोरथानां पूर्णत्वात् पुनः तादृश उच्छलितो रसो न तिष्ठेद्. अन्तराये तत्तदानन्दसम्बन्धाभावेन विप्रयोगरसानुभवे पुनः तत्तन्मनोरथप्रकारेण उद्भूतप्रचुरभावेन रस उच्छलितः सन् अन्तःपुष्टो [५७]नवो भवतीति तदनुभवेन उभयविधस्यापि तस्य अनुभवो जायतइति अन्तरायो निरूपितः. किञ्च, प्रभुस्तु कामरसदाता तद्दानेन स्वयमपि अनुभवकर्ता. कामरसो हि स्थायिभावस्य मान-खण्डितादि-जनितव्यभिचारिभावभेदोद्भूत-प्राणप्रियागर्भितवचनानी ईक्षण - भाषण - माननादिरसानुभवं विना सम्यग् अनुभूतो न भवतीति तथैव रसपूर्तिं करोति यथा प्रियाणां मानादिना अन्तरायो भवति. पुनः तद्रसानुभवं कृत्वा कामं ददातीति तथोक्तम्. तथाच उक्तमपि ''**उदारहास**'' (भाग.पुरा.१०।२६।४३) इत्यस्य टिप्पण्यां [५८]'**स्वामिनीनाम्**' इति. एतेन [५९]पूर्णरसगरिम्णैव तादृशीनां मानादिकं भवति न अन्यथा इति सूचितम् .

ननु कामस्तु[६०] प्रियासु स्वाभाविकः तिष्ठत्येवेति तज्जनिततापशान्तिरेव-कर्तुम् [६१] उचिता, तस्य दानं कथं सम्भवति ? तत्र आहुः

श्रीमद्गोकुलराकेशः श्रीमद्गोकुलतारकः ।
श्रीमद्गोकुलपद्मालो श्रीमद्गोकुलसंस्तुतः ।।५।।

एवं तद्रसश्रीयुक्तस्य गोकुलस्य राकेश: सर्वदा पूर्णचन्द्ररूप:. यथा चन्द्र: समुद्रस्य उल्लासक: तथा [६२]अन्तर्गतस्यैव तस्य नूतनतया प्रतिक्षणम् उद्बोधक इत्यर्थ:. अयं भाव: : यदा - यदा भगवान् लीलां करोति तदा - तदा तद्विभावानुभावादिरसपोषणसामग्रीं सर्वां प्रकटीकृत्य करोति. तत्र विभावादिषु रात्रीन्दू मुख्याविति प्रथमत: तावेव प्रकटितौ. [६३]तदा रात्रीणां पूर्णिमारूपत्वं सर्वदा सर्वकलापूर्णत्वम् अलौकिकत्वमेव तदीशस्य चन्द्रस्यापि सर्वदा सकलकलापूर्णत्वम् अलौकिकत्वादिधर्मवत्त्वमेव इति. किञ्च, रात्रीन्दौ: नैर्मल्यादिगुणादिकं च शरद्येव दृश्यतइति सापि धर्मसंयुक्तैव रसाधायिकेति तादृश्येव साऽपि ज्ञेया. चन्द्रस्य औषधीशत्वेन वनादिकमपीति एतत् सर्वां रसपोषकसामग्रीम् अपूर्वामेव प्रकटांचक्रे इति श्रीमदाचार्यै: सर्वं निरूपितमेवेति अत्रापि सामग्रीद्योतक **'राकेश'**पदेन तत् सर्वरूपत्वं सूच्यते. तत्सर्वसामग्र्यापि रसोद्बोधकत्वं राकेशसम्बन्धादेवेति अत्र राकेशरूपत्वमेव उक्तम्. तत्रापि पुरुषस्य लीलादर्शनं न घटतइति स्वयमेव राकेशरूपो जात इति. एतदपि **''तदोडुराज''** (भाग.पुरा.१०।२९।२) इत्यत्र स्वतन्त्रलिखने निरूपितम्. तथाच **श्रीमद्गोकुले** लीलार्थं यो **राकेश**: उदितो भवति तद्रूप: इति पदसम्बन्ध:. एतेन यथा लौकिकचन्द्रेण लौकिक: काम उद्बुद्धो भवति तथा अलौकिकेन चन्द्रेण अलौकिक: स उद्बुद्धो भवतीति अलौकिकतद्दानेन अलौकिककामद-त्वम् उक्तम् इति अर्थ:. इदमेव उक्तं **''कामपितामहं मन उत्पादितवान्''** (सुबो.१०।२६।१) इति **''मनश्चक्रे''** (भाग.पुरा.१०।२६।१) इत्यस्य विवरणे. एवं स्वामिनीषु कामोऽपि अलौकिकएव इति सूचितम्. स कामो भगवद्रूपइति एतच्चन्द्रोदयएव उद्भवति न सर्वदा, तस्य अङ्गाभावसम्पादकस्वभावत्वाद् (/वत्त्वाद्). इदमेव रासारम्भे वेणुनादद्वारा प्रियाणाम् अङ्गाभावमेव सम्पादयति इति उक्तम् **''अनङ्गवर्द्धनं गीतं निशम्य''** (भाग.पुरा.१०।२६।४) इति. किञ्च **'राकेश'**पदेन भावान्तराण्यपि सूच्यन्ते. यथा राकाया रजन्या: पूर्णचन्द्रोदयेनैव शोभादिकं[६३अ] तथा गोकुलस्यापि एतच्चन्द्रोदयेनैव शोभादिकम्. यथाच राकायां पूर्णएव तथा गोकुले सकलरसकलापूर्णएव नतु केनापि अंशेन न्यून:. यथा राकायां चन्द्रोदयेन अब्धि: उत्तरलितो[६४] भवति तथा एतद्राकेशोदयएव गोकुलरसाब्धि: उच्छलितो भवति, एतदभावे

शुष्कतैव इति. एवं सति राका यथा पूर्णा पूर्णचन्द्रेणैव तस्या राकात्वम् अन्यथा कुहूत्वमेव तथा गोकुलमपि पूर्णं साक्षाद् गोकुलेशपूर्णचन्द्रेणैव तस्यापि पूर्णत्वं परमशोभादिकं न अन्यथा इति सूचितम् . अथवा तादृशगोकुलस्य पूर्वोक्तराकेशरूप: यथा लौकिकेन तेन लौकिकः कामः उत्पद्यते तथा स्वरूपदर्शनेनापि अलौकिक: स उत्पद्यतइति कामदत्वं युक्तमेव इति भाव:. किञ्च, इन्दो: उदयस्तु रात्रावेव नतु दिनइति श्रीमद्गोकुलचन्द्रस्यापि दिने गोचारणगतत्वेन दर्शनाभावात् सायम् आगमनेन रात्रावेव उदयइति रात्रावेव गोकुलस्य पूर्णरसानुभवो नतु दिने. तत्र तु तापएव इति ज्ञापितम्. यथा रात्रौ तदुदये अन्धकारनिवृत्ति: कुमुदादीनाम् आह्लादः सर्वेषां तापनिवृत्त्या आनन्दादिकं च भवति तथा सायम् आगमने श्रीमद्गोकुलचन्द्रोदयेन गोकुलविरहान्धकारतापादिनिवृत्तिरसानन्दाह्लादशोभादिकं भवति इति. एतदेव उक्तं श्रीभागवते ''**यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते मोचयन्**'' (भाग.पुरा.१०।३२।-२५) इति ''**तापं जहुर् विरहजम्**'' (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इत्यादिनैव एतत्सर्वम् अभिप्रेत्य उक्तम् **श्रीमद्गोकुलराकेश**: इति. किञ्च, पूर्णेन्दुः सर्वेषाम् [६४अ]आनन्ददायी परन्तु ईशस्तु राकायाएव. यत: [६५]पूर्ण एतस्मिन् राका इति गीयते तथा अयमपि स्वोदयेन सायं समस्तगोकुलस्थानामपि आनन्ददायी परन्तु ईशत्वेन विशेषत: स्वामिनीनामेवरसानन्दाह्लादकत्वशोभादि-दायी न अन्येषाम् इति हृदयम्. ननु पूर्णचन्द्रस्य सर्वत्र[६६] नक्षत्रजातीयत्वात् तत्साहित्यं तिष्ठति विशेषत: पूर्णस्योदयास्तत्पर्यन्तम्. रात्रेस्तु तदभावेऽपि भवत्येवेति द्वयोरपि अलौकिकत्वात् प्राकृतनक्षत्रसाहित्यासम्भवाद् अलौकिकत-त्साहित्यस्य अप्रसिद्धि: तत् कथं सम्भवति ? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलतारक**: इति. अयं भाव: : सायम् आगमनसमये श्रीमद्गोकुलचन्द्रावलोकजनितानन्दर-साह्लाद-**श्रीयुक्तगोकुलमेव तारका** यस्य. '**तारक**'इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन स्वामिन्यएव इति ज्ञायते. तत्समये स्वप्रियदर्शनोत्सुकाभि: स्वामिनीभि: व्रजाद् बहिरेव आगत्य स्थीयते. यदा व्रजनिकटे प्रभुः आयाति तदा पुनरपि अग्रे गत्वा आवृत: क्रियते. तदा तथैव शोभा भवति यथा नक्षत्रमण्डलावृत: चन्द्रो विराजतइति तथा उक्तम्. अग्रेऽपि सम्पूर्णरात्रौ ताभि: सह रमणे तन्मण्डलावृतत्वेन ताएव तारकारूपा: स्वयं राकेशरूप इति सुष्ठूक्तम् इति

भाव:. अथवा तत्पुरुषो अत्र ज्ञेय:. तस्य[६७] तादृश तत्र तारकाइव आचरति इति अर्थ:. **तारकतीति** तारक इति सिद्धम्. तथाच तद्दर्शने प्रियाहृदयनेत्रादिषु पृथक्-पृथक् स्फुरद्रूपत्वेन प्रकाशमानं प्रतिबिम्बितं वा स्वरूपमेव तत्र-तत्र तारावद् भासते, जलतरङ्गादिषु ज्योतिरेवेति[६८] स्वयमेव तत्तद्रूपो भवतीति भाव:. अथवा बहुव्रीहिपक्षे भगवतो अलौकिकचन्द्रत्वनिरूपणेन तत्सजातीयानि तदुदयएव प्रकाशमानानि स्वामिनीनां मनांस्येव तारका इति ज्ञेयम्, तेषां भगवदात्मकत्वेन स्वयमेव तद्रूप इति उक्तं भवति. अथवा पुन: तत्पुरुषपक्षे यथा श्रीगोकुलचन्द्रदर्शने शोभोल्लासावेष्टितत्वादिना स्वामिनीनां तारकारूपत्वम् तद्वत् स्वामिनीमुखचन्द्रदर्शने भगवतोऽपि तथात्वेन तारकारूपत्वमेवेति तथा उक्तम्. अथवा [६९]ज्योत्स्ना चन्द्रोदयेन तद्रूपत्वेन वा आनन्ददायी तामसीषु कथम् आनन्दं प्रयच्छति? तत्र आहु: **श्रीमद्गोकुलतारक:** इति. अस्मिन् पक्षेऽपि तत्पुरुष:. तारका यथा चन्द्रापेक्षया ईषत्प्रकाशवत्य: तथा भगवानपि गुप्ततया तादृक्प्रकाशाच्छादनेन तत्तद्रूपत्वेन तत्तत्प्रियामिलनेन आनन्ददाता इति विज्ञेयम्. तामसीष्वपि रमणं कृतमिति तत्रापि अभिसारादिजनित आच्छन्नो विलक्षणो रस: कश्चन उत्पद्यतइति तथा उक्तम् इत्यपि ज्ञेयम्. अथवा पूर्वोक्त राकेशरूपत्वेन तत्तल्लीलारसाब्धिषु **श्रीगोकुलं तारयति** तरणं कारयति इति उक्तं **श्रीमद्गोकुलतारक:** इति.

ननु रात्रिषु एवंरूपत्वेन आनन्दं प्रयच्छन् रसम् अनुभवति दिवा कथं रसास्वादं करोति? तत्र आहु: **श्रीमद्गोकुलपद्मालि:** इति. तादृग्रूपस्वरूपरसानुभवजनित**श्रीयुक्तगोकुलमेव पद्मं** तत्र **अलि:** भ्रमर:. अयं भाव: : पद्मम् अष्टदलमारभ्य सहस्रदलपर्यन्तं विस्तृतं भवति. तत्पत्रेषु भ्रमरएव रसपानं करोति तथा गोकुलमपि पद्मवद् विस्तृतं सरसमिति तत्र गोचारणादिमिषेण दिवसे भ्रमन् तत्तत्सङ्केतेषु तत्र तत्तद्भक्तमिलनेन रसपानं करोति इति ज्ञेयम्. अथवा **'पद्म'**शब्द: पुल्लिङ्गवाचकोऽपि. तेन गोकुले ये सरसा: सानुरागा: प्रभो: तापहारका दिवसएव विकसन्मुखा अतएव पद्मरूपा अन्तरङ्गा: वयस्या: तेषु अलि:. तै: सह पूर्वानुभूतप्रियाङ्गसङ्गरसवार्तादि-कथनेन तदात्मकतया रसपानं करोति इति अर्थ:. अथवा तद्द्वारा तत्तत्सङ्केतेषु

प्रियामिलनेन रसपानं करोतीति तथा उक्तम्. किञ्च यथा रविः पद्मानामेव आनन्ददायी अन्येषां तापरूपएव तथा प्रभुरपि दिवसे वयस्यानामेव आनन्ददायी, वनगतत्वात् व्रजस्थानाम् अन्येषां तापरूपएव इति सूचितम्. यद्यपि तत्तत्क्रीड़ाकरणेन सर्वेषामेव वयस्यानाम् आनन्ददायी तथापि तादृशरसात्मकली-लास्वरूपानुभावेन विशेषतो अंतरङ्गानामेव आनन्ददायीति सरसपद्मदृष्टान्तेन ज्ञापितं भवति. तेन अन्येषु सरसत्वाभावात् न तदनुभव इति सूचितम्. किञ्च, न **लीयत**इति **अलि**रिति दिवसे सोऽपि भ्रमणशीलएव रसपानं करोति. न कुत्रचित् सम्पूर्णदिवसे बद्धो भवति. रात्रावेव कमलिन्यादिषु बद्धो भवति. तथा प्रभुरपि दिवसे भ्रमन्नेव रसपानं करोति न कुत्रचित् बद्धो भवति. आगमनानन्तरं सम्पूर्णरात्रिष्वेव स्वप्रियाभिः बद्धो भवति इति **'अलि'**पदव्युत्पत्त्या व्यज्यते. यद्यपि अत्र दीर्घः सम्भवति तथापि एतद्रसपानं सर्वगोप्यमिति[७०] परोक्षानुवादसूचकत्वेन ह्रस्वान्तपदम् उक्तम्. एतत्सर्वम् **"अलिकुलैरलघुगीतम्"** (भाग.पुरा.१०।३२।१०) इत्यस्य स्वतन्त्रलिखने **'अलि'**पदव्युत्पत्त्या वेदप्रमाणपूर्वकं श्रीमत्प्रभुचरणैरेव उक्तमिति तद् द्रष्टव्यम्. एतेन सम्पूर्णत्वेन रसपानं रात्रावेव. दिवातु तदभावेन स्थातुम् अशक्त्या यावत्समयमेव तत्तन्मिलनेन तद्रसपानं भवतीति सूच्यते. एवं सति प्रभोः निरन्तरं केवलरसैकपरत्वमेव ज्ञापितम्. यद्वा अत्र **'पद्म'**पदेन स्वामिनीहृदयानि व्यज्यन्ते. तथाच **गोकुलस्य** सरसत्वानुरागादिना **पद्मरूपाणि** हृदयानि तेषाम् **अलिः** तेषु अन्तःप्रविश्य रसपानं करोति इति अर्थः. दिवा गोचारणगतत्वेन प्राक् पीतरसाधिकरणभूतेषु तासां हृदयेषु प्रातः आरभ्य सन्ध्यापर्यन्तं मिथो गुणानुवादोच्छलितभावेन लीलासहितस्वरूपप्राकट्यं कृत्वा तद्रसपानं करोति. तदन्तरमपि आनन्दं ददाति इति भावः. एतेन दिवा आन्तरानन्ददानं रात्रौ बहिः इति सूचितम्. किञ्च, दिवसेपि पद्मानि कतिचिद् विकसितानि कतिचिन् मुकुलितानि भवन्ति तथा अत्रापि यासां सङ्केतादिषु दिवसेऽपि प्रियसङ्गः तासां विकसितत्वम् व्रजस्थानान्तु मुकुलितत्वमेव इति. यथा पद्मानां मुकुलितत्वे तापः तथा श्रीमत्प्रभुविरहजनितः ताप एतासामपि इति. यथा पद्मे सरसत्व - आर्द्रत्व - विकासादिकं तथा पूर्वानुभूतलीलानुवर्णनोद्भूतप्रचुरभावजनितप्रियसङ्गमानन्देन तथात्वमपीति एताव-

ज्ज्ञापकः पद्मदृष्टान्तो ज्ञेयः. एवम् अन्तरङ्गभक्तानामेव तादृशसरसत्वधर्मेण तादृशस्वस्वरूपानन्दानुभवो न तदितिरिक्तानाम् इति निरूप्यते.

ननु तदतिरिक्तभक्तानां सरसत्वादिकं न इति कथं ज्ञायत? इति आकांक्षायाम् आहुः **श्रीमद्गोकुलसंस्तुतः** इति. भगवत्प्राकट्यानन्तरं तदानन्दजनितश्रीयुक्त**गोकुलेन संस्तुतः**. तत्र - तत्र तत्तदनिष्टादिनिवारणेन गोवर्द्धनोद्धरणादि - चरित्रादिना च समस्तगोकुलस्य आनन्ददायीति तत्तच्चरित्रद-र्शनेन सर्वेषां महत्त्व - स्फूर्त्त्या परमानन्दभरेण **''नारायणसमो गुणैः''** (भाग.पुरा.१०।२३।२२, १०।८।१९) इत्यादिस्तुतिभिः तथैव संस्तुतो भवति इति अर्थः. स्तुतौ सम्यक्त्वन्तु केवलं तदेकनाथत्वेन अन्यसम्बन्धाभावः. तेन केवलम् अनन्यमेव सर्वं गोकुलं परन्तु यथाधिकारं सर्वानन्ददाता इति अर्थः. यद्वा, गोचारणादिषु गोपैः सह भोजन-गान-प्लवन-परिहासादिक्रीड़ाकरणे तेषां तथैव आनन्ददानात् तत्तत्क्रीड़ारूपामेव ते स्तुतिं कुर्वन्तीति तथा उक्तम्. एतेन तेषाम् अन्तरङ्गलीलाज्ञानं न इति सूचितम्. अतएव सर्वत्र तल्लीलाकथनं सम्भवति. अन्तरङ्गलीलायास्तु तज्ज्ञेष्वेव कथनमिति न सर्वत्र तत्कथनम्.

ननु अन्तरङ्गवयस्यानामपि सम्पूर्णत्वेन तल्लीलाज्ञानं न भविष्यतीति स्वभावेन दोषस्फूर्तिरपि कदाचिद् भवति परन्तु सङ्कोचेन वयस्यत्वेन स्नेहाद् वा न किञ्चित् ते वदन्ति तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलसङ्गीतः** इति.

श्रीमद्गोकुलसङ्गीतः श्रीमद्गोकुललास्यकृत्।।
श्रीमद्गोकुलभावात्मा श्रीमद्गोकुलपोषकः।।६।।

तादृशान्तरङ्ग**गोकुलेन सम्यक्**प्रकारेण **गीत**एव नतु तत्र दोषस्फूर्तिः. तथा सति सम्यग्ज्ञानं न स्यात्. तथाच यथा स्वामिनीनां भगवति आसक्तिः तथा अन्तरङ्गवयस्यानामपि सर्वदा इति ज्ञेयम्. तेन यथा आसक्तिभरेण स्वामिनीनां दिवा गुणगानं तथा वयस्यानामपि रात्रौ भगवत्सङ्गाभावात्

स्थातुम् अशक्त्या आसक्तिभरेण सर्वं रात्रिचरित्रम् अनुभूय गुणगानं भवति. दिवा चरित्रं यद् अनुभूतं वने तत्सर्वं स्वामिनीनाम् अग्रे कथयन्ति चेति एतत्सर्वं "**वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सा उच्यते**" (सुबो.१०।१८।का.१) इति तथा "**अनुगेडितकीर्तिः**" (भाग.पुरा.१०।३२।२२) इत्यादिना श्रीमदाचार्यचरणैः निरूपितमिति अन्तरङ्गानां सर्वम् अनुभूतं भवतीति ज्ञापनाय **सङ्गीत** इति उक्तम्. तत्रापि गाने सम्यक्त्वकथनेन तेषां निर्दुष्टभावत्त्वेन आसक्तिभरेण स्वरहस्यसर्वस्वतया तल्लीलागानं न साधारणत्वेनेति सर्वथा निर्दुष्टान्तरङ्गत्वं ज्ञापितम्. एतदेव "**एते देवाः साक्षिणः**" (सुबो.१०।१८।१) इत्यत्र '**साक्षि**'पदार्थनिरूपणेन "**स गो-गोपालक**" (भाग.पुरा.१०।१८।१) इत्यस्य विवरणे निरूपितम्. अतएव अन्तरङ्गत्वं लीलाज्ञानं च. किञ्च, यद्यपि सर्वैः एवं ज्ञायते तथापि भगवान् तथैव लीलां करोति यथा समस्तगोकुले गीतो भवति नतु तेषां दोषस्फूर्तिः. अतएव रासारम्भे ज्ञानानन्तरमपि न दोषस्फूर्तिः इति. तच्चरित्रस्य अलौकिकत्वात् निर्दुष्टत्वात् च तदनुभावादेवेति न अनुपपत्तिः काचित्. **सर्वथा ख्यापने तु रसो न सिद्ध्यति प्रत्युत रसाभासो भवतीति सर्वत्र गोपनम्**. अतएव "**व्रजश्लाघ्यगुण**" (व्रतचर्या.७) इति गीते व्रजे तु अतिरुचिरालाप-लीलादिना रसिकतागुणगोपनात् श्लाघ्यएव. परन्तु तत्सर्वं युवतिषु प्रकटमेवेति गीतम् इति. [७०अ]तत्सर्वरूपदर्शने स्वामिनीनां तद्रसिकतागुणाएव प्रकटाः सम्भवन्ति अन्येषाम् अन्यलीलागुणाएव इति ज्ञेयम्.

ननु स्वरूपस्य एकत्वेन युगपद्दर्शने चरित्रस्यापि एकरूपत्वे स्वामिनीनां रसानुभवो अन्येषाम् अन्यलीलागुणानुभवः. तत् कथम्? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुललास्यकृत्** इति. तादृशरसात्मकश्रीयुक्ते **गोकुले लास्यं** नृत्यं करोति. नृत्यम् अभिनयात्मकं तद् अत्र भगवत्सम्बन्धित्वाद् अलौकिकम्. अयं भावः : स्वरूपं रसात्मकं. रसो हि द्विविधः केवलो धर्मसहितः च. तत्र नाट्ये केवलो, धर्मसहितः सम्भोगे. स द्विविधोऽपि अभिनयात्मक नृत्येन उद्बुद्धो भवतीति "**बर्हापीडम्**" (भाग.पुरा.१०।१८।५) इति श्लोके तथा "**अक्षण्वताम्**" (भाग.पुरा.१०।२१।७) "**रङ्गे यथा नटवरौ क्वच**

गायमानौ'' (भाग.पुरा.१०।२१।८) इत्यत्र विवृतम्. तेन तादृशोद्बुद्धरसात्मकस्वरूपेण पशुपालगोष्ठीषु यदा नृत्याभिनयं करोति तदा पशुपालादीनां केवल नाट्यरसानुभवएव भवतीति स्वामिनीनां तत्तद्भ्रूभृङ्गकटाक्षाद्यङ्गाभिनयदर्शनेन तादृशोद्बुद्धरसात्मकतया साक्षादिव रसानुभवो भवतीति[७०आ] प्रकटस्वरूपैकत्वेऽपि तद्रसानुभवः स्वामिनीनामेव. तेन अन्येषां गुप्तमेव इति ज्ञेयम्.

ननु तथापि तादृशोद्बुद्धरसात्मके स्वरूपे प्रकटे कथम् अन्यरसानुभवः? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलभावात्मा** इति. तादृशस्वरूपानन्दजनितश्रीयुक्त**गोकुलस्य यो भावः** तदात्मकः. अत्र अयं भावः : तादृशोद्बुद्धरसात्मकस्वरूपदर्शनेऽपि यादृशो यस्य भावः तादृशएव तद्रसानुभव इति ज्ञेयम्. अतएव यदा सायं वनाद् आयाति भगवान् तत्समये समस्तं गोकुलमेव दर्शनोत्सुकं व्रजाद् बहिः स्थितं भवति. तदा पुनः प्रभुरपि तादृशोद्बुद्धरसात्मकत्वेन नृत्यं कुर्वन् नृत्यन्मयूरानुकरणेन अलौकिकरसाभिनयं कुर्वन् एकेनैव वेणुवादन - कटाक्ष - भ्रूभृङ्ग - भाषणादिना सर्वेषाम् आनन्दं पूरयति. परन्तु मातृचरणादीनां वात्सल्यरसएव[७१] अनुभूतो भवति तदतिरिक्तानां बाह्यानुभवएव. स्वामीनान्तु तद्भावानुरूपरसानुभवएव भवति, नान्यद् इति भगवत्कृतौ अतो न किञ्चिद् अनुपपन्नं नाम इति ज्ञेयम्. एतेन भगवान्[७२] भावात्मकएव. यस्य यादृशो भावः तस्य तादृग्रूपएव दृश्यः. तदनुरूपमेव आनन्दानुभवं कारयतीति सर्वम् अवदातम्. किञ्च, यत्र बाल्येपि अन्येषां बाल्यानुभवएव स्वामिनीनान्तु तद्भावापेक्षितरसानुभवएव. तत्र पुनः कोटिकन्दर्पलावण्योद्बुद्धरसात्मके तत्रापि कैशोरमधुरिमं सुधासिन्धुपूरोत्तरलिते स्वरूपे प्रियाणां तद्भावानुरूपरसानुभवो भवतीति किं वाच्यम्. तदेव गीतं ''**तोकता वपुषि तव राजते दृशि तु मदमानिनीमानहरणम्**'' (प्रेङ्ख.पर्यङ्क.३) इति. अनेन बाल्यहेतुकक्रोड़ीकरणलालनालिङ्गनादिषु प्रभोरपि स्वामिनीभावानुरूपैव कृतिः तथैव तासाम् अनुभवश्च इति ज्ञापितं भवति.

ननु भावास्तु सर्वेषां भिन्नाएवेति तत्तदनुरूपो रसानुभवो भविष्यत्येवेति पुनः अभिनयकरणे को हेतुः? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलपोषकः**.

तत्तद्भावयुक्तश्रीगोकुलस्य[७३] पोषकः आनन्दरसवर्द्धकः. अयं भावः. प्रातः यदवधि भगवान् गोचारणार्थं वनं प्रयाति तदवधि समस्तगोकुलस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि तद्विरहेण रसशून्यानि भवन्ति. यदा पुनः सायम् आयाति तदा तादृशरसात्मकस्वरूपाभिनयेन रसामृतसिन्धुपूरेण पूर्णानि करोतीति तथा उक्तम्. किञ्च, अत्र पोषकत्वम् उक्तं, पोषणन्तु कृशस्य भवति, कृशत्वं जीवनहेतुकभोजनाद्यभावे भवति. श्रीगोकुलस्य जीवनहेतुकं भोजनं स्वरूपमेव यतः क्षणमात्रतदभावे जीवनमेव न भवेदिति तद्विना श्रीगोकुलस्य कृशत्वम् उचितमेव इति. यदि तादृशोद्बुद्धरसात्मकस्वरूपाभिनयेन तं रसाब्धिम् उल्लासयन् आनन्दपूरेण न प्लावयेत् तदा तानि पुष्टानि न भवेयुरिति अभिनयेन तत्तदिन्द्रियादिषु रसानन्दपूर्तिं करोति इति ज्ञेयम्. यदि तादृशाभिनयनं न कुर्यात् तदा सम्पूर्णभोजनाभावात् तानि तृप्तान्यपि न भवेयुः इत्यपि सूच्यते. यद्वा रसस्तु सर्वदापुष्टएव रसत्वम् आपद्यतइति रसार्द्रमपि श्रीगोकुलम् अभिनयनोच्छलितरसपूरोत्तरलितभावतारङ्गं करोतीति **'पोषक'** इति उक्तम्.

ननु एवम् अन्तरेव रसपोषे को हेतुः ? तत्र आहुः

श्रीमद्गोकुलहृत्स्थानम् श्रीमद्गोकुलसंवृतः ।।
श्रीमद्गोकुलदृक्पुष्टः श्रीमद्गोकुलमोदितः ।।७।।

[७४]तादृशं पुष्टं-पुष्टं रसात्मकं यद् गोकुलहृदयं तदेव स्थानं न अन्यत्. अयम् आशयः. स्वरूपन्तु रसएव. तस्य स्थानं तादृशं तद्हृदयमेव इति येन तद्हृदयं स्वरसेन पुष्टं-पुष्टं रसपूर्णमेव भवेत् तदा स्वरूपस्य तत्स्थानमपि भवेद् भावात्मकत्वात् तत्पोषणेनैव भावानाम् उच्छलितत्वादिति सर्वदा पोषणमेव करोति इति सूचितम्. अतएव अन्तःप्रपत्त्यभावे बाह्यतः तिरोधत्ते अन्तःपोषणार्थमेव यतो अन्तःकरणसम्बन्धी स इति विवरणे विवृतम्. किञ्च, सरसमपि श्रीगोकुलहृदयं दिवा तद्विरहेण तापात्मकं भवति. तत्र स्थित्या दिवा भगवतोऽपि तापरूपभावात्मकत्वं व्यज्यते. तेन सायं बाह्यमिलनेन पुनः-पुनः संयोगरसपोषकत्वेन स्वस्यापि तापनिवर्तको रसपोषकश्च स्वयं

भवतीति पूर्वनामानुपदमेव तद्धेतुकैः तन्नामनिरूपणेन ज्ञापितं भवति. एतेन भगवतोऽपि वने प्रियाविरहजनितार्त्यादिकं भवति इति सूचितम्.

ननु भगवान् रसरूपोपि व्यापकः सर्वत्र च वर्ततएवेति कथं वनगमनजनितप्रियाविप्रयोगार्त्यादिकं सम्भवति ? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलसंवृतः** इति. तादृशरसात्मकगोकुलेन संवृतः. व्यापकत्वेऽपि घटाकाशवद् भिन्नत्वेन आच्छन्नरसात्मकतया तावद्रूपेणैव प्रकटः इति अर्थः. अत्र इदम् आकूतम् : "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या भगवान् केवलं रसस्वरूपएव. लीलार्थं श्रीगोकुले प्रकटः. स रसो द्विविधः, संयोग - विप्रयोगभेदेन. यावत्पर्यन्तं प्रिययोः विप्रयोगरसानुभवो न भवति तावत्पर्यन्तं पुष्टः सन् पूर्णत्वेन संयोगरसोऽपि अनुभूतो न भवतीति तदनुभवस्तु अन्तर्बहिर्भेदाभावे सति रसरूपत्वेनैव सिद्धो अन्यथा रसात्मकतैव न स्यात्. तदभावे तस्य असिद्धत्वादिति वने विप्रयोगरसानुभवार्त्यादिकं च युक्तमेव. एवं सति रसस्यैव घटवत् तद्रूपत्वं सिद्धम् इति भावः. किञ्च, भगवतो विरुद्धधर्माश्रयत्वेन यथा लीलायां ब्रह्मधर्मानपि विस्मृतवान् तथा व्यापकत्वमपि लीलार्थं विस्मृतमिति न अनुपपन्नं किञ्चित्. अथवा पूर्वनाम्नि हृदये स्थितिः उक्ता तद्धेतुको रसपोषकः उक्तः. पुष्टे रसे अन्तरुच्छलितत्वाद् बहिः प्रियाभिः वृतो भवतीति उक्तम् **श्रीमद्गोकुलसंवृतः**. अतएव वनागमनसमये रासादौ च पुष्टएव रसे बहिः प्रियावृतत्वं उक्तम्. तदनन्तरम् उभयोः तापनिवृत्तिः रसानन्दानुभवविशेषश्च इत्यादिकं "**पीत्वा मुकुन्द**" (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इत्यत्र "**तत् सत्कृतिं समधिगम्य**" इत्यस्य आभासार्थेन ज्ञाप्यते. अनेन तत्सत्कारलाभेनैव भगवतः तापनिवृत्तिः इति सूचितम्. अग्रेऽपि महारासे तदनन्तरमेव रसविशेषश्च इत्यपि तथा. अथवा रसमार्गरीतिर्हि प्रमाणाद् भिन्नैवेति '**संवृत**'पदेन भावान्तरमपि ध्वन्यते. तथाहि तादृशरसात्मक**गोकुलेन सम्यग्वृतो** अङ्गीकृतो भगवान् सर्वानेव अङ्गीकरोति. प्रकृते गोकुलेन प्रभुः अङ्गीकृतः. यथा भगवद्वरणानन्तरं भगवद्रसः प्राप्यो भवति तथा स्वामिनीवरणानन्तरं तत्रत्यो रसो भगवता प्राप्यते न अन्यथेति मानखण्डितादिषु तदङ्गीकारादिनैव प्राप्यतइति अत्रापि '**संवृत**'पदेन सएव

अर्थो ज्ञाप्यते. किञ्च, वरएव वृतो भवति स वरः प्रत्यग्ररसभोक्ता दयिताधीनएव रसभोगं करोति. अन्यथा रसत्वं न प्राप्नोति. किञ्च, **'वर'**पदेन सदा वरएवेति प्रतिक्षणं नवो - नवो रसः अनुभूतो भवति इत्यपि ज्ञाप्यते. यद्यपि नववध्वाः वरदत्तमेव सौभाग्यादिकम् अस्ति तथापि रसभोगस्तु वरस्य तद्दत्तएव अनुभूतो भवति तथा प्रकृते यद्यपि सर्वं भगवत्कृतमेव तथापि रसस्तु तद्दत्तएव भगवता अनुभूयते. रसस्य तथैव सिद्धत्वादिति केवलं तद्भावाधीनएव प्रभुरिति भावाधिकरणकहृदयमेव स्थानम् इति उक्तम्. अतः तत्स्थानात् कदापि बहिः अन्यत्र न यातीति एतन्नाम्ना व्यज्यते. अथवा रसात्मकतया तद्हृदयादिषु सर्वदा निरुद्धएव तिष्ठति इति **'संवृत'**पदेन ज्ञाप्यते. इतोऽपि अन्यत्र तादृग्रूपत्वेन न गतिः इति भावः. एवं सति सर्वप्रमाणोपमर्दकत्वेन भक्तिमार्गोत्कर्षएव सिद्धइति न प्रमाणमार्गीयानुपपत्तिप्रवेश-गन्धावसरोऽपीति सर्वं सुस्थम्.

ननु स्वामिनीनान्तु बहिर्विलापादिना तापादिकं ज्ञायते. भगवतस्तु तदश्रुतत्वात् तापः. सत्कारादिना तस्य शान्तिः भवीतीति कथं ज्ञायते? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलदृक्पुष्टः** इति. आगमनसमये तादृशरूपामृतसिञ्चनेन नूतनरसानुभवजनितानन्दामृतसिन्धुसम्भूता या श्रीः तद्युक्तं यद् गोकुलं तस्य या दृक् तया पुष्टः तत्कर्तृक - रसप्रेमार्द्रविलोकितामृतपूरभरेण पुष्टः. यद्यपि भगवान् सदा रसपुष्टएव तथापि वने प्रियादर्शनाद्यभावजनितविरहार्तितापेन अत्यातुर - सकलेन्द्रियो भवति. यदा पुनः तापे तन्मिलनस्पर्शसरसार्द्रदृष्टिसुधापूर-सिञ्चनादिसत्कारे निभृतसकलेन्द्रियो भवति तदा पुष्टः तज्जनितानन्दभरेण यत्किञ्चिद् अपूर्ववद्[७५] द्विगुणित सुषमातिमनोहरो भवति इति अर्थः. अतएव उक्तं "**भूषणभूषणाङ्ग**" स्यापि "**व्यरोचताधिकम्**" (भाग.पुरा.३।२।१२, १०।२९।१०) इत्यत्र प्रियासङ्गमकृतशोभातिशय इति. एतदेव पुष्टत्वं, तद्विरहेण तच्छोभाभावात्.[७६] किञ्च, यथा अन्नादिकं देहादिपोषकं तदभावे तस्य कृशत्वादिकं भवेत्; तत्प्राप्तौ पुनः पुष्टत्वं तथा प्रभुस्वरूपपोषकं स्वामिन्यएवेति तदन्तराये तथात्वं, तन्मिलनेऽतथात्वम् युक्तमेव इति भावः. किञ्च, पूर्वं सम्यग्वृत इत्यत्र तदङ्गीकारानन्तरं रसः सम्यक् प्राप्तो भवति इति उक्तम्.

अधुना दृक्पुष्टत्वम् उच्यतइति मानखण्डितादिषु तत्कटाक्षादिनैव अङ्गीकारानन्तरं पुष्टो भवतीति अनेन स्फुटीकृतम् इत्यपि सूच्यते. अथवा रसात्मकत्वेन सर्वदा तद्भावैरेव **संवृतः** आच्छन्नइति स्वभावस्फूर्त्यभावएव उक्तः. पुनः तत्प्रियाकर्तृकदर्शनेन स्वकर्तृकप्रियादर्शनेन वा तदपाङ्गतरङ्गोत्तरलित - रसतरङ्गैः यदा पुष्टो भवति तदा पुनः स्वस्वरूपानुरूपभावोद्बुद्धरसात्मकः सन् स्वप्रियावृन्दावृतो भवतीति **'संवृतो' 'दृक्पुष्ट'** इति नामद्वयस्य हेतुहेतुमद्भावेन परावृत्तव्याख्यानेन सूचितम् इति भावः. एतदेव स्वरूपवर्णने द्रष्टव्यम्. एतेन स रसस्तु एवमेव सिद्धो भवति न अन्यथा इति श्रुत्याद्यगम्यं किमपि यद् रूपम् उच्यते तद् एतदेव इति ज्ञेयम्.

ननु भगवान् स्वयम् आनन्दमात्ररूपएवेति एतन्मिलनेन कथं स इति उच्यते ? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलमोदितः** इति. प्रभुमिलनजनितानन्दश्रीयुक्तगो-कुलेन **मोदितः** आनन्दं प्रापितः. यद्यपि भगवान् तादृशएव तथापि रसात्मकस्य तस्य आनन्दोऽपि लीलारसात्मको नतु केवल इति. लीलातु प्रियामिलनात्मिकैवेति तन्मिलनेन आनन्दितो भवतीति युक्तमेव इति भावः. किञ्च, यथा दर्शनादिना पुष्टत्वं तथा मिलनादिना आनन्दयुक्तत्वमिति स आनन्दोऽपि भिन्नएव इति ज्ञेयम्. तेन तदभावे तापएवेति न गोकुलव्यतिरेकेण मोदितो भवति. रसस्यैव तादृग्रूपत्वाद् इति सूचितम्. यथा प्रभुस्तु स्वयम् आनन्दरूपएव परन्तु इदानीं तं रसं स्वामिनीभ्यो दातुं तद्वारा स्वयमपि पातुं प्रकटः तद्दानं च तदा भवेद् यदा तासां स्वसङ्गाभावाज्जनितार्त्तिजं दुःखं भवेत् तत् सदा वर्तत इति. यथा - यथा दुःखं पश्यति तथा - तथा मुदितो भवतीति तेनैव मुदित इति अर्थः.

ननु **''रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति''** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः भगवदानन्दं लब्ध्वा जीवानाम् आनन्दयुक्तत्वं श्रुतं तत्सकाशाद् भगवतः सर्वेश्वरस्य आनन्दयुक्तत्वं कथं सम्भवतीति तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुलगोपीशः** इति.

श्रीमद्गोकुलगोपीश श्रीमद्गोकुललालितः ॥

तादृशरसात्मकश्रीयुक्तं यद् **गोकुलं** तत्सम्बन्धिन्यएव गोप्यश्च तासाम् **ईशो** नियन्ता भोक्ता च. अयं भावः : इतरजीवानां जीवो भिन्नः आत्मा भिन्नः. प्रकृते गोकुलगोपीदेहप्राणेन्द्रियजीवात्मादिरूपः साक्षात् स्वयमेवेति यथा प्रभुस्वरूपं [७६अ] केवलरसानन्दात्मकं तथा गोकुलस्वरूपमपि तादृशमिति द्वयोरपि एकरूपत्वात् परस्परानन्दलाभेन तद्युक्तत्वे न अनुपपत्तिः काचित्. अतएव "**गोपीनां तत्पतीनां च**" (भाग.पुरा.१०।३०।३६) इति दोषाभावार्थं श्रीशुकैः उक्तम्. यदि जीववद् उपाधिः भवेद् गोकुले तदा तद्दत्तानन्दयुक्तत्वं न सम्भवेत्. तदभावात् सर्वं सुस्थमेव इति भावः. अथवा **श्रीगोकुले** तत्सम्बन्धिन्यो **गोप्यएव ईशा** यस्य. अयम् आशयः : श्रीगोकुले या लीला कृता सा प्रियाधीनत्वेनैव कृता. ईशस्तु अधीनो न भवति, प्रियाधीनत्वात् ताएव ईशाः. अतएव प्रकृते स्वामिनीभावप्राधान्यम्. तत आदिमे अग्रे पुनः "**तदोडुराज**" (भाग.पुरा.१०।२९।२) इत्यत्र स्वतन्त्रलिखने "**उडवो राजानो यस्य**" (स्व.१०।२९।२) इति प्रियाणामेव ईशत्वम् उक्तम्. अन्यच्च. ईशस्तु प्रजानाम् आनन्ददायी नियन्ता प्रभुः भवति. स च प्रजापोषणं रक्षणं च करोति. पुनः तत्प्रजाभ्यो धनं गृह्णाति तथा प्रकृते स्वामिन्यएव प्रभवः. ताः स्वकटाक्षावलोकनस्पर्शादिना भगवन्तं रसानन्दपुष्टं कृत्वा तदनन्तरं तत् साक्षात् सुधारूपं धनं लोभाद् गृह्णन्तीति ताएव ईशा इति उक्तम्. एवं सति यत्र भगवतः प्रजारूपत्वमेव तत्र प्रियादत्तानन्दयुक्तत्वे किं वाच्यम्! इति भावः. किञ्च, भगवान् रसात्मकः रसस्य तथैव सिद्धत्वादिति सर्वम् अनवद्यम्. एवं निरूपणेन पूर्वं तन्मात्रेशत्वम् उक्तमेवेति अधुनापि तदीशत्वोक्तौ पुनरुक्तदोषो भवति सोऽपि निरस्तः इति ज्ञेयम्. अथवा तादृश**गोकुलस्य गोपीनां** च **ईशः**. अयम् अर्थः :**ईशस्तु** सर्वरसभोक्ता भवतीति श्रीगोकुले यत् प्राकट्यं कृतं तदेतद्रसभोगार्थमेव साक्षाद्रसस्वरूपेण केवल तदीशत्वेनैव इति. तद्रसभोगेन आनन्दयुक्तत्वम् उचितमेव. किञ्च, **ईशः** सर्वानन्ददायी भवति. तत्कृत-स्वयशोगानजनितानन्दयुक्तोऽपि भवति. तथा प्रकृते गवां गोपानां गोपीनामेव ईशरूपः प्रकटइति तेषाम् आनन्ददानेन तत्कृतस्वगुणगानादिना

स्वयमपि आनन्दी भवति. अर्थात् सायमागमनसमये तथा गोदोहनसमये तथा रात्रौ तथा वने समस्तगोकुलं स्वानन्दपूर्णं कृत्वा तत्तत्सम्बन्धि तत्तद्रसभोगं स्वयं करोति इति भावः. एवं सति प्रभौ न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. अनेन एतत्सम्बन्धिरसभोगेन तादृशप्रभोरपि आनन्दो जायतइति तद्रसस्य अत्यसाधारणोत्कर्षो निरूपितः. एवं भक्तिमार्गोत्कर्षएव सिद्ध्यतीति न [७६आ]कदाचित् क्षतिः प्रत्युत रसपोषः रसस्यैव एतादृग्रूपत्वाद् इति दिक्.

ननु भगवान् साक्षात् पूर्णः गोकुलसुखदानार्थं प्रकटइति तद्दानेन तद्भोक्तृत्वात् तदानन्दयुक्तो भवतु परंतु श्रीरपि सर्वोत्कृष्टा प्रिया च यत् सदा वक्षस्येव स्थापितेति मुख्यतया तदीशत्वमेव सम्भवति कथं केवलस्वामिनीनामेव उच्यते? तत्र आहुः **श्रीमद्गोकुललालितः** इति. यत्र स्वयमपि साक्षात् प्रभुः मित्रत्वेन सङ्गतो जातइति तत्सङ्गजनितश्रीयुक्तगोकुलेन लालितः. मित्रसुतप्रियात्मादिरूपेण **लालितः**. लालनं प्रापितः. यथा - यथा यस्य - यस्य मनोभिलाषः तथा - तथा सर्वैः तत्तद्भोग्यवस्तुभिः स्वाधीनतया लालितः. श्रियातु केवलं वक्षसि स्थीयतएव नतु लालितः. यद्यपि पदाम्बुजं लालितं तथापि "**श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**" (भाग.पुरा.१०।२८।१) "**श्रीः यत् पदाम्बुजरजश्चकमे**" (भाग.पुरा.१०।२६।३७) इति "**गोप्योऽन्तरेण भुजयोः**" (भाग.पुरा.१०।१२।८) इत्यादिना श्रीगोकुलरसानन्दानुभवं दृष्ट्वा श्रियोऽपि [७७]स्पृहा निरूपणेन तथा न लालितं यथा श्रीगोकुलेन इति ज्ञायते. तेन श्रियोऽपि न तद्रसानुभव इति सूचितम्. किञ्च, अन्यत्र कृपया भक्तानाम् आनन्दं प्रयच्छति स्वयं न लालितो भवति. अत्र तु स्वयं तेन स्वभोग्यवस्त्वभिलाषपूर्त्तिपूर्वकं लालितो जातइति गोकुलस्य महत्सौभाग्यं निरूपितम्. अनेन ईदृग्विधलालनापि अन्यत्र न भवति. इदृग्विधस्वरूपमपि अन्यत्र न प्रकटमिति न एतद्रसानुभवः कस्यापीति सुतरां दुर्लभत्वं ज्ञापितम्.

ननु श्रीगोकुलसम्बन्धिनो ये पदार्थाः भोग्या अर्थात् प्रभोः तेषामपि श्रीरूपत्वात् तया न लालित इति कथम् उच्यते? तत्र आहुः

श्रीमद्गोकुलभोग्यश्री इति. पूर्वोक्ततादृग्लालनोद्भूतविविधभावतरङ्गश्रीयुक्तं यद् **गोकुलं** तत्सम्बन्धिनो ये **भोग्याः** पदार्थाः तेषां या **श्रीः** तद्रूपः. अयं भावः : गोकुलन्तु प्रभोः मित्रसुतात्मादिस्वरूपत्वेन उच्छलत्प्रेमजलधिरूपं सदा तिष्ठति. तेन तत्तत्समयोचिता रसपोषकाः प्रियरुच्यनुरचिता रसभावात्मकाः प्रभुमनोरथपूरका ये भोग्यपदार्थाः ते सर्वे सर्वदा सिद्धाएव स्थाप्यन्ते. तत्र काचन अपूर्वैव **श्रीः** दृश्यते. सातु अलौकिकी भगवत्स्वरूपात्मिकैव नतु पूर्वोक्ता. यतः तत्पदार्थानामपि भगवद्भावैरेव रचितत्वम्. एतेन यथा मण्डनादीनां भगवद्भावात्मकत्वेन [७७अ]अलौकिकत्वं पूर्वम् उक्तं तथा भोग्यपदार्थानामपि तद्भावात्मकत्वेन अलौकिकत्वम्. तद्गतश्रियोऽपि तथात्वं निरूपितम्. किञ्च, ते पदार्थाः प्रभोरेव **भोग्याः**. तद्भोगे सति तत्प्रियाणामेव न अन्येषां श्रियादीनामपि. तदुक्तं गुप्तरसे "**अस्मदीयपदार्थानाम्**" (गुप्तरसः.२) इत्यत्र '**त्वयैव**' इति. एवं सति उभयोः भावरूपत्वं भोग्यपदार्थानां निरूपितम्. एतेन तद्भोग्यपदार्थानां भगवदर्थैकसम्पादितत्वात् तत्सृष्टिमध्यपाति-त्वेन [७७आ]तद्रूपत्वमेवेति सर्वोत्कृष्टत्वं सूचितम्. एवं पूर्वोक्तसमस्तनामभिः प्रभोरेव सर्वनिरूपणेन गोकुलस्य [७७इ]सर्वथा इतरसम्बन्धाभावत् तद्भोग्यत्वमेव निरूप्यते. गोकुलविषयकं सर्वं स्वोपभोग्यत्वेन स्वयमेव प्रभुः करोतीति तादृशं नामं वदन्त उपसंहरन्ति **श्रीमद्गोकुलसर्वकृत्** इति. पूर्वोक्तभोग्यश्रीयुक्त-गोकुलस्य सर्वकार्यमात्रं करोति इति. अयं भावः : इयं लीला केवलं सर्वात्मभावैकलभ्या. तल्लीलायोग्यं **श्रीगोकुल**मेव न अन्यद् इति. तत्र चेद् अन्यकर्तृकं कार्यं भवेत् तदा अन्यसम्बन्धात् सर्वात्मभावाभावात् लीला न भवेत्. तदा रसो रुद्धएव तिष्ठेत्. प्रभोरपि तद्रसानुभवो न भवेदिति केवलं स्वीयत्वसम्पादनायैव तद्भोग्यरूपेण स्वयमेव सर्वं करोति. अतएव इन्द्रयागनिराकरणं केवलं स्वीयत्वसम्पादनार्थं **स्वकर्तृक**मेव. तेन सर्वात्मना तदेकशरणे सर्वथा प्रपत्त्या सम्पूर्णरसानन्ददानं करोति न अन्यथा इति ज्ञापितम्. किञ्च, गोकुलं तु लीलोपयोगित्वात् सर्वदा सर्वात्मभावयुक्तमेवेति केवलं स्वरूपैकजीवनम्. क्षणमात्रान्तराये जीवनमेव न भवेत्. तन्मात्रे स्थितेऽपि कार्यमात्राक्षमं जडवद् भवति. तदेव उक्तं "**पादौ पदं न चलत**" (भाग.१०।२६।३४) इत्यादि. तादृगवस्थायां प्रभुदत्तरसामृतपानेनैव

सजीवं भूत्वा कार्यादिकं करोतीति प्रभुकर्तृकमेव श्रीगोकुलस्य कार्यकर्तृत्वं न स्वतः इति ज्ञेयम्. अतएव "**उत्तस्थुर्युगपत्सर्वा**" (भाग.पुरा.१०।२९।३) इति प्राणरूपत्वम् उक्तम्. किञ्च, भगवान् लोके प्रकटितानां केषाञ्चित् पुष्टिमार्गीयजीवानाम् आनन्ददानार्थं यथास्थितलीलासम्बन्धि - सर्वसामग्रीसहितएव अधुना स्वयं प्रकटइति यथा - यथा लीला भवति तथा - तथा स्वयमेव सर्वं करोति इति सर्वम् अवदातम्.

एवं नामानि निरूप्य तेषां विनियोगम् आहुः **इमानि** इति.

इमानि श्रीगोकुलेशनामानि वदने मम॥
वसन्तु सततं चैव लीलाः च हृदये सदा॥

पूर्वोक्तसकलश्रीयुक्तत्वेन यथा गोकुलं केवलं तदीयं तथा साक्षात् तादृशरसात्मको भगवानपि तस्यैव ईशो न अन्यस्य इति ज्ञापकं '**गोकुलेश**'पदम्. तस्यैव यानि **इमानि** रसात्मकान्येव स्वरूपभूतानि 'इदम्'शब्दस्य प्रत्यक्षवाचकत्वेन यानि प्रत्यक्षतया इदानीम् अनुभूयमानानि तानि नामानि **मम वदने वसन्तु** सर्वदा स्थिराणि भवन्तु. यद्यपि वदतीति वदनमिति एतन्नामवदनस्वभावमेव तत् तथापि तद्रसास्वादे तृप्त्यभावात् प्रार्थना. अन्यच्च एतन्नामानुभूततत्तल्लीला च **मम हृदये वसन्तु.** तत्र वासेनैव सर्वदा रस उच्छलितो भवति न अन्यथेति तथा उक्तम्. किञ्च, नामादिनिरूपणं विप्रयोगएव जीवनालम्बनत्वेन भवति तदा लीलासहितप्रभुप्राकट्ये आसक्तिभरेण हृदयएव साक्षादिव भवति तदा विरहे यथा भावतरङ्गा उच्छलिता भवन्ति तथा न साक्षात्सङ्गइति हृदयएव वसन्तु इति प्रार्थना. हृदयवासेनैव साक्षाद्भवतीति हृदयम्. स्ववदनएव सततं वासप्रार्थनेन स्वातिरिक्ते वासाभावएव इति सूचितम्.

प्रियालावण्यलीलाब्धिर् लोलकल्लोललालितः॥
सदा विलसति श्रीमान् गोकुले गोकुलेश्वरः॥१॥

भावाह्यनन्ताः प्रिययोर् अन्योन्यं तत्तदात्मनोः॥
श्रीमत्प्रभुमुखोद्भूता नज्ञेयाः सर्वथेह ते॥२॥
यथाकथञ्चित् चित्तस्य तथापि स्थितिरस्तु मे॥
श्रीगोकुलेशस्वरूप - गुणलीलासु सर्वदा॥३॥
इत्येवात्र प्रवृत्तिर्मे तत्कृपातोऽर्थबोधनम्॥
[७८]यावदेवेह तावत्सन्मन्ये नान्यच्च मे मतिः॥४॥
यद्ययुक्तं कृतं बाल्यात् तथापि प्रभवो हि माम्॥
स्वीयत्वात् कृपयन्त्वेव युक्तं सर्वं भवेद् यतः॥५॥

इति (श्रीगोकुलेशविरचितम् अथवा) श्रीहरिरायविरचितं श्रीगोकुलाष्टकविवरणम्

[७९]श्रीवल्लभोक्तं सहस्रनाम नामावलीत्रयी॥
श्रीगोकुलेशनामानि फलन्तितत्रोत्तरोत्तरम्॥१॥

(हस्त.का. संवत् १७५८ अश्विनमासे शुक्लपक्षे प्रतिपत्....सरे लिखितं पोथी शुभमस्तु॥)

(मातृकासंग्रहः)

१. क. सं.१८०१ वर्षे अषाढमासे शुक्लपक्षे १४ श्रीबुधवासरे लिखितम् इदं ग्रन्थं गो.श्रीवल्लभजीसुत चिरंजीवी गो.श्रीगिरिधरजीपठनार्थं वा परोपकाराय. (कोटा/किशनगढ़ १/७ घर)
२. ख. सं.१७८३ फा.सु.६.
३. ग. सं.१८५० आश्विन शुक्ल ११ कृष्णभट्टेन सौरदेशे जेतपोर इति ख्याते तन्मध्ये लिखितम् स्वात्मावलोकार्थं परोपकारार्थं वा.
४. घ. माण्डवी गोस्वामी श्रीजगन्नाथस्येदं पुस्तकम्. सं.१८०३ (१/९गृह माण्डवी)

५. ङश्री सं.१७९४वर्षे ज्येष्ठवदि ११ भ्रगुवारे लिखितं राजपरमध्येत्र रामचंद्रसुत सदानंदलिखितम्.

६. च. कामवनसंग्रहस्थ. सं.१७५९ आश्विनमासे शुक्लपक्षे प्रतिपत्...

७. मुं.वि.१ गुजरातीपत्र पुस्तकालय.

८. ज. श्रीगोपीनाथात्मज श्रीदेवकीनन्दनस्य.

(पाठभेदः)

१. 'सुरसम्' इति क, ङ, ग पाठेषु.

२. 'तन्मार्ग' इति क, ङ, ग पाठेषु.

३. 'यत्करुणामृतदृष्ट्या हृदयमिदं मे स्वतः सिक्तम्।
यदि मे स्फुरिता भावाः तस्मिन् शुष्केपि तं विभुं नौमि॥' इति क, ङ पाठयोः .

४. 'तत्तत्क्षणसम्बन्धिलीलास्वरूपयोः' इति क, ङ पाठयोः.

५. 'अनुभूतं भवतीति' इति क, ङ पाठयोः. 'अनुभूतमिति' इति ख, घ पाठयोः .

६. 'तादृग्रूपत्वम् ' इति क, ङ, ख, घ पाठेषु.

६अ. 'एतद्गन्धोऽपीति' इति ङ पाठे.

७. 'ईदृग्रूपत्वम् ' इति क, ङ पाठयोः.

८. 'सर्वोत्कृष्टरसत्वं स्वहृदयमेव उद्बोधयन्तः' इति क, ङ पाठयोः.

९. 'सर्वस्वरूपत्वनिरूपणेन' इति क, ङ पाठयोः.

१०. 'वसति' इति क, ङ पाठयोः.

११. 'श्रीरूपधनं यत्' इति क, ङ पाठयोः.

१२. 'वासनया' इति ख, घ, क, ङ पाठेषु.

१३. 'तेषां हृदि'इति शेषमातृकापाठे.

१४. 'तद्दत्तमेव' इति क, ङ पाठयोः.

१५. 'कदाचिद् दीयेत' इति क, ङ पाठयोः.

१६. 'विलासा उभयत्र उल्लसन्ति' इति क, ङ पाठयोः.

१७. 'तस्या इत्यतः' इति ख, घ, ग पाठेषु. 'तस्या इत्यन्तः' इति

क, ङ पाठयोः.

१८. तत्तत्कार्यकर्तृरूपः' इति ख, घ, ग पाठेषु.

१९. 'भाववत्वम्' इति क, ङ पाठयोः.

२०. 'तदेकात्मकत्वम्' इति क, ङ पाठयोः.

२१. घ पुस्तके सर्वत्र 'सुषुमा' इति पाठः उपलभ्यते.

२२. 'इति प्राकट्यात्' इति क-पाठे.

२३. 'सम्भवेत् चेत्' इति ख, घ, ग पाठेषु.

२४. 'अथवा तन्मण्डनध्यानेन' इति क, ङ पाठयोः.

२५. 'ईदृग्रूपत्वाभावश्रवणात् यत्र एतादृशो भावो न तत्र' इति क पाठे.

२६. 'तादृशस्य तस्य तद्दशां च तत्तद्रूपः' इति क, ङ पाठयोः.

२७. 'इतरवस्त्वदर्शनेऽपि' इति क, ङ पाठयोः.

२८. 'तत्स्वरूपान्तरायेक्षणेनैव' इति क, ङ पाठयोः. 'तत्स्वरूपायेक्षणेनैव' इति ख पाठे. 'तत्स्वरूपायेक्षणेनैव जीवनं न स्याद्' इति घ पाठे.

२८अ. 'केवल रसात्मभावलभ्यम्' इति घ पाठे.

२९. 'न प्रेरयेद्' इति क, ङ पाठयोः.

३०. 'तापासहिष्णु' इति क पाठे.

३१. 'तत्पालनेनैव' इति क, घ, ङ पाठेषु. 'तत्पाल्यत्वेनैव' इति ग पाठे.

३२. 'सर्वस्वधनम्' इति क, घ पाठयोः.

३३. 'समृद्धं' इति क, ङ पाठयोः.

३४. 'नूतनेक्षया' इति क, ङ पाठयोः

३५. 'एतेनैवं सर्वथा' इति क, ङ पाठयोः.

३६. 'तथागमनेऽपि' इति क, ङ पाठयोः.

३७. 'रसः तथैव पुष्टो भवति इति न किञ्चिद्' इति क, ङ, ख, घ पाठेषु.

३८. 'पोषणकृतमेवेति प्रतिक्षणम्' इति क, ङ पाठयोः.

३९. 'पृथग्भूय स्वरूपानुभव' इति क, ङ पाठयोः.

४०. 'आश्रयेन हि' इति क, ङ पाठयोः.

४१. ‘रूढ ईशदवगाहनम्’ इति ख, घ पाठयोः.

४२. ‘स्वरूपाश्रयेण’ इति क, ङ पाठयोः.

४३. ‘विहरतीति भावः’ इति क, ङ पाठयोः.

४४. ‘आधारभूतः. स्वरूपन्तु रसात्मकं तदाधारत्वेन गोकुलस्य मीनत्वम् ध्वन्यते’ इति क, ङ पाठयोः.

४५. ‘रसानुभवश्च भवत्येव अन्यथा...सम्भवेत् इति ज्ञेयम्’ इति क, ङ पाठयोः. ‘कथं सम्भवेत् ? तदुद्बोधकस्य सर्ववैलक्षण्यम् सूचितम्’ इति ख, घ पुस्तके अधिकः.

४६. ‘सएव उक्तः’इति क पाठे.

४७. ‘तत्कारणकेतरतत्वान्यपि’ इति क, ङ पाठयोः. ‘तत्कारकेतरत्वान्यऽपि’ इति घ पाठे.

४८. ‘सर्वागोचर’ इति क, ङ पाठयोः.

४९. ‘रसात्मिकी’ इति क, ङ ‘रसात्मकी’ इति घ पाठे.

५०. ‘सौन्दर्यरूपमेव’ इति क, ङ पाठयोः.

५१. ‘पदसम्बन्धः’ इति क, ङ पाठयोः. ‘यदसम्बन्धिः’ इति ख, घ पाठयोः.

५२. ‘रसस्वरूपस्थितिः’ इति क, ङ पाठयोः.

५३. ‘गोकुले प्रकटः’ इति क, ङ, घ पाठेषु.

५४. ‘लीलानवसरे’ इति क, ङ पाठयोः.

५५. ‘लीलानुस्मरण’ इति क, ङ पाठयोः.

५६. ‘द्यति ददाति च’ इति क, ङ पाठयोः.

५७. ‘पुष्टो भवतीति सङ्गमेन खण्डितं कामम् अन्तरायेण पुनरुल्लिसितं करोतीति उक्तं कामं द्यति ददाति च इति. एतेन रसस्य द्विरूपत्वात् विप्रयोगाननुभवे सम्पूर्णत्वेन रसानुभवो न भवतीति तदनुभवेन ’इति क पाठे

५८. ‘स्वमिनीनाम् इति. एतेन पूर्णरसगरिम्णैव तादृशानां’ इति क पाठे.

५९. ‘पूर्वरस’ इति क, ङ पाठयोः. ‘पूर्णरसप्रेम्णैव’ इति ख, घ पाठयोः.

६०. ‘कामस्तु स्वाभाविकः तिष्ठत्येवेति’ इति ख, घ पाठयोः. ‘कामस्तु

प्रियासुखानुभाविकः' इति ग पाठे.

६१. 'रेववक्तुम्' इति क, ङ पाठयोः.

६२. 'अन्तःस्थितस्यैव' इति क, ङ पाठयोः.

६३. 'प्रकटीकृतौ. तत्राऽपि' इति क, ङ पाठयोः. 'प्राकटितो तदा' इति घ पाठे.

६३अ. 'शोभाजनकम्' इति घ पाठे.

६४. 'उच्छलितो' इति ख, घ पाठयोः.

६४अ. 'आनन्दादयीशत्वे ईशस्तु' इति घ पाठे. 'आनन्ददायी ईशस्तु' इति ङ पाठे.

६५. 'पूर्णएव तस्मिन्' इति क, ङ पाठयोः. 'तस्मिन् करोति' इति घ पाठे.

६६. 'सर्वदा' इति क, ङ पाठयोः.

६७. 'तदा तादृशे तत्र' इति क, ङ पाठयोः.

६८. 'ज्योतिरिवेति' इति क, ङ पाठयोः.

६९. 'ज्योत्स्ना तु चन्द्रोदयेन' इति ख, घ पाठयोः.

७०. 'सर्वगोप्यमिति' इति क, ङ पाठयोः.

७०अ. 'तत्स्वरूपदर्शने' इति ङ पाठे.

७०आ. 'प्रकट' इति घ, ङ पाठे नास्ति.

७१. 'अनुभूतो भवति. तदतिरिक्तानां बाल्यानुभवएव. स्वामिनीनान्तु तद्भावानुरूपरसानुभवएव भवति नान्यदिति भगवत्कृतौ न किञ्चिद्' इति क, ङ पाठयोः.

७२. भावात्मकएव' इति क, ङ पाठयोः.

७३. 'तत्तद्भावश्रीयुक्तगोकुलस्य' इति क, घ, ङ पाठेषु.

७४. 'तादृशं पुष्टपुष्टं स्वरूपन्तु रसएव. तस्य स्थानं तादृशं तद्हृदयमेवेति तद्हृदयं सर्वदा स्वरसेन' इति क, ङ पाठयोः.

७५. 'द्विगुणितसुखमस्ति मनोहारो भवति' इति ख, घ पाठयोः.

७६. 'एतदेव पुष्टत्वं विरहे एतच्छोभाभावात्' इति क, ङ पाठयोः.

७६अ. 'केवलरसात्मकम्' इत्रत ङ, घ पाठयोः.

७६आ. 'काचित्' इति ङ पाठे.

७७. 'स्पृहा निरूपणेन ज्ञायते तयाऽपि तथा न लालितं यथा श्रीगोकुलेनेति न श्रियोऽपि गोकुलरसानुभव इति ज्ञापितम्.' इति क, ङ पाठयोः.

७७अ. 'अलौकिकत्वेन तद्गतश्रियोऽपि' इति ङ पाठे.

७७आ. 'तद्रूपत्वमेव नेतरदिति सर्वोत्कृष्टत्वम्' इति ङ पाठे.

७७इ. 'सर्वात्मनेतर' इति ङ पाठे.

७८. 'यावदेवहतत्सत्त्वं तावदन्यच्च मे मतिः' इति क, ङ पाठयोः.

७९. समाप्त्यनन्तरं इदं श्लोकं क, ङ पुस्तकएव उपलभ्यते.



॥ 'लालयति-दोलिका-मंचशयनम् ॥

लालयति दोलिकामंचशयनम् ॥
तिलकगोरोचनं भालमुक्ताफलम् ॥
कुटिलकुन्तलमुखं चकितनयनम् ॥१॥

चरणसंचालनं मोदभरगायनम्
प्रतिबिम्बदर्शनेन मृदुलहासम् ॥
बाललीलापरमपदसुनूपुरधरम्
भाषणोत्फुल्लनासाविकासम् ॥२॥

अंगुष्ठचोषकं गूढरसपोषकं
स्वल्पसंतोषकं कृष्णचन्द्रम् ॥
गोपिकाजनमनोमोदसंपादनम्
तदभिलषिताकृतौ विगततन्द्रम् ॥३॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचिता
'लालयति-दोलिका-मंचशयनम्' पलनापद

॥ श्रीनवनीतप्रियो जयति ॥

'लालयति-दोलिका-मंचशयन' व्याख्या

(श्रीवल्लभदासकृता गो.श्या.म.संशोधिता)

वन्दे श्रीमद्विठ्ठलेशं गूढभाववहं मुदा॥
लालयन्तं सुपल्यंके नवनीतप्रियं निजम्॥१॥
यशोदोत्संगलालितं स्वामिनीभावपोषकम्॥
पोषकं व्रजरत्नानां चित्ते प्रभुमहं भजे॥२॥
नवनीतप्रियं नित्यं नवनीतसमुत्सुकम्॥
नवनीतमिषेणैव निजानां रसवर्धकम्॥३॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः समान्दोलित-पर्यंकस्थश्रीप्रभोः बाललीलां स्वयम् अनुभवन्तः स्वान्तरंगान् अनुभावयन्तः समुपदिशन्ति **लालयति दोलिकामंचशयनम्** इति.

लालयति दोलिकामंचशयनम्॥
तिलकगोरोचनं भालमुक्ताफलम्॥
कुटिलकुन्तलमुखं चकितनयनम्॥१॥

भो मदीयाः! इयमेव भावना नित्यं भावनीया यतो अन्या (भावना!) श्रीव्रजसीमन्तनीनाम्. (न तया) भावनया सेवाकरणे सेवासिद्धिः. अतः सा निरन्तरं विचारणीया. श्रीनन्दमन्दिरे सुंदरं शृंगारसंयोगात्मकं बाललीलापरं यशोदोत्संगलालितं सदा नवनीतशोभितकरं भक्तजनगूढभावपरं साक्षाद् विरुद्धधर्माश्रयं त्रैलोक्यकान्तं दृङ्महोत्सवं असाधारणलीलापरम् आन्दोलितपर्यंकस्थं प्रभुं नित्यं समुत्कण्ठतया स्वावश्यकगृहादिकार्यं विस्मृत्यैव श्रीमुखदर्शनार्थं समागतव्रजसीमन्तिनीयूथपरिवेष्टितं एतादृशं नन्दनन्दनं श्रीप्रभुं परमतत्त्वरूपं मत्वा नित्यं निरन्तरं विभावयेत. परमभाग्यनिधानभूता श्रीनन्दपत्नी श्रीयशोदा

मंगलाप्रभृतिसेवां विधाय श्रीप्रभुम् अलंकृत्य मुकुटोष्णीषादिना श्रीमस्तकं चालंकृत्य पल्यंके संस्थाप्य नित्यं परमभाग्यतया सा लालयति तदेव दर्शयन्तः स्वकीयान् उपदिशन्तः अनुभावयन्ति. तदाह **लालयति** इति. सा इति शेषः. परमभाग्यवती सा श्रीयशोदा **दोलिकामंचशयनं लालयति.** अत्र दुलधातुश्च आर्थिकः. **दोलयति** चालयतीति दोला, दोलाएव **दोलिका.** अत्र स्वार्थे 'क'प्रत्यय विधानात् दोलैव **दोलिका** इति व्युत्पत्तेः **दोलिकाएव मंच दोलिकामंचः** पल्यंकः तत्र **शयनं** क्रीडनमिति. ननु " **'शीङ्'स्वप्ने"** (पाणि.धा.पा.भ्वा.१०५७) इत्यस्माद् धातोः **'शयनम्'** इति पदं निद्रार्थबोधकं कथं क्रीडार्थबोधकम् ? इति चेद् उच्यते धातूनाम् अनेकार्थबोधकत्वात् **लालयति** इति क्रियापदात् **'शयनम्'**इति पदं केवलं क्रीडार्थबोधकं नतु निद्रार्थबोधकं यथा निरोधस्कन्धे प्रथमकारिकायां **"लीलाक्षीराब्धिशायिनम्"** (सुबो.का.१०।१।१) इत्यत्र श्रीमदाचार्यचरणैः क्रीडार्थएव स्वीकृतः नतु निद्रार्थः तथैवात्र **'शयनम्'** इति पदं क्रीडार्थबोधकं नतु निद्रार्थबोधकम्. निद्रिते बालके **लालयति** इति लालनार्थः कथं सम्भवति ? निद्राभंगहेतुत्वादिति क्रीडार्थएव वरीयान्.

अत्रायं भावः : यदा श्रीयशोदा श्रीप्रभुं पल्यंके शाययित्वा गृहकार्ये व्यग्रा जाता तदा निजान्तरंगीया श्रीव्रजरत्ना समागत्य स्यकीयमनोरथप्रकारेण स्वतापादिनिवृत्तये श्रीप्रभोः 'गुप्तरस'ग्रन्थोक्तसामग्र्यादिसमर्पणमिषेण चरणस्पर्शादिना स्वान्तरीयतापं निवारयन्त्यः श्रीप्रभुमेव **लालयन्ति** तथैव श्रीप्रभुरपि तासाम् तापादिकं निवारयन् विरुद्धधर्माश्रयप्रकारेण मनोरथांश्च पूरयन् स्वयमेव क्रीडती इति भावः. कीदृशं श्रीप्रभुं **तिलकगोरोचनम्** इत्यारभ्य **विगततन्द्रम्** इत्यादिविशेषणैः श्रीप्रभुं वर्णयन्तो अनुभावयन्ति. **तिलकगोरोचनम्.** अन्तरंगभक्तानां अभिलषितमनोरथसम्पादनसामर्थ्यं वा सूचयितुं **गोरोचनतिलकम्** एव धृतं तदेव दर्शयन्ति **तिलकं गोरोचनं** यस्य एतादृशं प्रभुं सा **लालयति** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः सर्वत्र बोध्यः. अत्रायं भावः : अन्तरंगभक्तेषु कृपारूपेण उच्छलितो यः अनिर्वचनीयासाधारणरसः तं रसं भक्तेभ्यएव दातुम् उद्यतं तं रसं पातुं धारयितुं तएव भक्ताः

शक्ता:. एतदेव सूचनार्थं **गोरोचनतिलकम्** धृतम् इति गूढाभिसन्धिः.

किञ्च **भालमुक्ताफलम्** इति यस्य **भाले मुक्ताफलं** विराजते शोभते एतादृशं श्रीनवनीतप्रियं प्रभुं सा **लालयति** इति सम्बन्धः. अत्रायं भावः : श्रीप्रभोर्भालदेशएव भक्तानां या परमफलरूपा भाग्यराशिः, भालदर्शनेन सूचयति भवतीनां परमभाग्यराशिः सा सर्वा सम्पत्स्यते यदर्थं भवतीभिः अत्यायासेन परमतापेन समाराधितः. तत्तापोपशमनपूर्वकं भवदभिलषितकार्यसम्पत्तिं सम्पादयिष्यामि इति सूचयन् भाले **मुक्ताफलानां** या माला तिलकोपरि धार्यते तदुपरि उष्णीषादिकं धारयति सा **मुक्ताफल**माला श्रीमातृचरणादिभिरेव धारिता. श्रीप्रभुणा सा माला परमानन्देनैव धृता. अतः **भालमुक्ताफलम्** इति उक्तं मुक्ताफलमेव शीतलतासम्पादकं तदेव श्रीप्रभुणा परमभाग्यस्य निधानभूते **भाल**एव धृता इति स्वामिनीनां परमसौभाग्यसम्पत्तिसिद्धये इति निष्कर्षो बोध्यः. किञ्च **कुटिलकुन्तलमुखम्** इति. **कुटिलानि कुन्तलानि मुखे** श्रीमुखकमले यस्य तं. अत्रायं भावः : **कुन्तलानि** तु **कुटिलान्येव** शोभासम्पादकानि भक्तानां रसपोषकानि. "**कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्ष्यतां पक्ष्मकृदृशां**" (भाग.पुरा.१०।२८।१५) इति फलप्रकरणे श्रीस्वामिनीनां उक्तिः.

किञ्च **कुन्तलानां कुटिलत्वंतु** रसवृद्धिसूचकं यथा पात्रस्थं रसं पात्रोन्नमनेन अन्यस्मिन्पात्रे रसं पूरयति तथा श्रीस्वामिनीनाम् अन्तःकरणेषु रसपूर्तिः स्यात्. रसपूर्त्या हृदयतापनिवृत्तिमपि स्यादिति सूचयन् **कुन्तलानां कुटिलत्वं** वामत्वमेव श्रीप्रभुणा धृतमिति. अतः पुष्टिमार्गे सर्वं वामरीत्यैव मुकुटाद्याभरणानि धार्यन्ते श्रीप्रभौ. अतएव भगवदीयैश्च कीर्तनादौ "**गिरिधर सबहि अंगको बांको**" (परमानन्ददास/रागकल्याण) इत्यादि गीतम्. एतादृशं **कुटिलकुन्तलमुखं** श्रीप्रभुं श्रीमातृचरणा श्रीयशोदा श्रीव्रजरत्नाश्च **लालयति** लालयन्त्यः स्वमनोरथान् सूचयन्त्यः इति भावः.

एवं श्रीप्रभुचरणाः स्वान्तरंगान् अनुभावयन्तः समुपदिशन्ति **चकितनयनम्**

इति. अस्यार्थः **चकिते नयने** यस्य एतादृशं **लालयति** इति सम्बन्धः. अत्रायं भावः : श्रीनन्दमन्दिरे प्रत्यहं प्रातः पल्यंकएव श्रीप्रभुं लालयितुं अवलोकयितुं श्रीव्रजरत्नाश्च समागच्छन्त्यो भवन्ति यदा तदा श्रीप्रभुं पल्यंकस्थं विरुद्धधर्माश्रयं परमरसरूपं कोटिकन्दर्पाधिकसुन्दरं बालभावापन्नं बाललीलापरं एतादृशं श्रीप्रभुम् अवलोक्य परमाश्चर्यपरा श्रीस्वामिन्यः विचारपराः भवन्ति; यदा गृहादिकार्यं कृत्वा श्रीमातृचरणौ श्रीयशोदारोहिण्यौ समान्दोलयितुं लालयितुं वा समागते अवलोक्य मुग्धबालकमिव आचरन् यथा अल्पवयस्को मुग्धबालकः स्वयमाश्चर्यरसम् अनुभवन् अन्यांश्च अनुभावयन् **चकितनयनो** भवति तथा श्रीप्रभुरपि विरुद्धधर्माश्रयः स्वान्तरंगमनोरथांश्च श्रीमातृचरणादिगुरुजनेभ्यः संगोपयन् **चकितनयनो** भवति. तादृशम् असाधारणकार्यकरणसमर्थं श्रीबालक्रीडनपरं सा **लालयति** इति पूर्वपदेन अन्वयः इति भावः ॥१॥

चरणसंचालनं मोदभरगायनम्
प्रतिबिम्बदर्शनेन मृदुलहासम् ॥
बाललीलापरमपदसुनूपुरधरम्
भाषणोत्फुल्लनासाविकासम् ॥२॥

अन्यामपि बाललीलां प्रकटयति इति स्वकीयान् अनुभावयितुं अग्रिमं पदं व्याकुर्वन्ति **चरणसंचालनं मोदभरगायनम् प्रतिबिम्बदर्शनेन मृदुलहासम्** इति. अस्यार्थः **चरणयोः संचालनं** करोति बालकानान्तु ऊर्ध्वचरणसंचालनं सहजस्वभावएव. तथासति प्रभोः **चरणसंचालनं** तु साधारणलौकिकबालकइव भवति तथैव लीलायामपि साधारणता भवति इति हेतोः प्रयोजनं विना श्रीप्रभुः किमपि न करोति इति विचारयन्तः श्रीप्रभुचरणाः गूढाभिसन्धिम् अस्य भावस्य स्वयं प्रदर्शयन्ति. श्रीप्रभोः चरणयोः ऊर्ध्वम् उन्नीय चालनन्तु निजान्तरंगभक्तानां मनोरथानां पूरकत्वस्य सूचनार्थमिति. अत्रायं भावः : फलप्रकरणे तुलस्यां भगवच्चरणप्रियत्वं श्रीस्वामिनीभिः वर्णितं **''क्वचित्तुलसि कल्याणि''** (भाग.पुरा.१०।२७।७) इत्यत्र श्रीसुबोधिन्यां विस्तृतमिति चरणारविन्दद्वारेव तुलस्यादिसमर्पणेन सर्वान् पुष्टिमार्गीयभक्तान् अंगीकृत्य

चरणद्वारैव पुष्टौ अगीकार: तन्निवेदितपदार्थं स्वकीयत्वेन स्वीकृत्य भजनानन्दैकरसपूर्णान् अभिलषितमनोरथान् पूरयति. अतो भक्तान् समीपम् आह्वायन् अत्यातुरतया दातुं अत्यन्तमुत्कण्ठितो भवति एतदर्थमेव **चरणयो: संचालनं** करोति इति ज्ञायते. अत: श्रीस्वामिनीभि: वेणुगीते "**वृन्दावनं सखि भुव**" (भाग.पुरा.१०।१८।१०) इत्यत्र श्लोके श्रीवृन्दावनस्तुतिव्याजेन केवलचरणानां माहात्म्यमेव स्तुतं. किञ्च फलप्रकरणेऽपि आधिदैविकतापापनुत्तये तच्चरणारविन्दमेव धारितम्. अत्र एवं फलति : सर्वमेव भगवद्भावप्रतिबन्धक-सांसारिकतापक्लेशादि दु:खौघनिवारकं भगवच्चरणारविन्दमेव मदीयै: नित्यं समाश्रयणीयम् इति. प्रकृतम् अनुसराम: : किञ्च "**चरणपंकजं शन्तमं च ते रमण न: स्तनेषु अर्पय आधिहन्**" (भाग.पुरा.१०।२८।१३) एवं स्वान्तरंगाधिनिवृत्त्यै तत्रैव (फलप्रकरणे) प्रियाभि: चरणकमलधारणमेव सम्प्रार्थितम्. किञ्च "**प्रणतदेहिना पापकर्षणं**" (भाग.पुरा.१०।२८।७) इत्यत्र चरणयो: माहात्म्यमेव प्रियाभि: प्रदर्शितं प्रणतचरणयो: प्रणतिं नम्रीभावं प्राप्ता: ये देहधारिणः तेषां प्रणतिकरणमात्रेण पापकर्षणन्तु केवलं चरणारविन्दं करोति नान्यत् तीर्थजपादिसाधनम्. अत: सर्वं तीर्थव्रतजपादिकन्तु साधनमेव फलन्तु चरणारविन्दयो: सेवनमेव भक्तानां सर्वम् ऐहिकामुष्मिकं फलसम्पादकम्. अतो भक्तै: श्रीप्रभो: सर्वान् अत्यन्तं सौन्दर्यपूर्णानि अंगानि विहाय केवलं चरणारविन्दमेव निरन्तरं स्थित्यै स्वस्थानत्वेन समाश्रितमिति "**सारंगाणां पदाम्बुजम्**" (भाग.पुरा.१।११।२६) इति वाक्याद् भक्ता: चरणारविन्दएव निरन्तरं निवसन्ति. यत्प्राप्त्यै साक्षाद्भगवदंगस्थितापि लक्ष्मी निरन्तरं वक्षे स्थित्वा तपति तदेव प्रसिद्धं "**श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति श्रीस्वामिनीनां वाक्यात्. किञ्च यत्कृपाकटाक्षं प्राप्तुं ब्रह्मादीनां तप:करणं एतादृशी सा श्रीलक्ष्मी स्वनिवासस्थानं कमलानां वनं विहाय भगवत: पादयो: सौभाग्यमेव भजते पूर्णानुरागयुक्ता सती तथा करोति सा इत्यनेन. अतो भक्तार्थमेव चरणारविन्दयो: चालनं करोतीति लक्ष्यते. पुष्टिमार्गेतु एतदाशयेनैव सेव्यप्रभो: वक्ररीत्या नेत्रालंकारादिधारणं, श्रीप्रभो: दृष्टि: केवलं भक्तानामुपर्येव नान्यत्रेति फलसम्पादकसर्वसामर्थ्यवत्त्वं साक्षात्प्रभोश्चरणारविन्देएव इति बोध्यम्. **चरणारविन्दयो: संचालनेन**

अन्तरंगभक्ताः परमसुखिनो भवन्ति इति लक्षीकृत्य भक्तसुखेन अत्यन्तं स्वयमपि सुखीभूत्वा **मोदभरेण** आनन्दभरेण स्वयमपि **गायति** गानं करोति. अतो **मोदभरगायन्तम्** इति उक्तम्. अत्रायं भावो : भक्तास्तु भगवतो अंगभूताएव. तेषाम् अंगीरूपः स्वयं भगवानेव. यदा अंगभूताः सुखिनो भवन्ति तदैव अंगिनः स्वस्य सुखं भवति तत्र भक्तानां अन्तरंगमनोरथपूर्त्या सुखं सम्पादयिष्यामि इति स्वान्तरंगभक्तान् स्वचरणारविन्दयोः **संचालनेन** संसूचयन् मुग्धबालकइव क्रीडापरो भवति. तां भगवल्लीलाम् अवलोक्य परमनिरुद्धास्ते भक्ता परमं सुखम् आप्नुवन्ति. भक्तानां सुखं दृष्टवा स्वयमपि प्रमोदभरः सन् तत्रैव प्रेंखशयने भक्तसन्तोषजनिकां क्रीडां कुर्वन् **मोदभरेण** आनन्दभरेण **गायनं** गानं करोतीति भावः.

किञ्च **प्रतिबिम्बदर्शने मृदुलहासं** अस्यार्थः स्व**प्रतिबिम्बम्** अवलोक्य **प्रतिबिम्बस्थं** आत्मस्वरूपं द्वितीयम् इति जानन् तं प्रति मुखकरपादादि संचालनक्रियां प्रदर्शयन् भवति. तथैव **प्रतिबिम्बस्थ**स्वरूपमपि करोति तदैव स्वयमपि **मृदुलं** कोमलं यद् **हास्यं** तत् करोति. तत्तु भक्तार्थमेव न स्वार्थमिति. अत्रायं भावः : स्व**प्रतिबिम्बः** प्रतिकृतिरूपांगभूता भक्ताएव. अतो भक्ताः स्वप्रियस्य प्राणनाथस्य नित्यं सुखेच्छवः. अतो नित्यमेव नन्दमन्दिरे स्वगृहादिकार्यं विस्मृत्य समायान्ति. शुद्धापुष्टौ एवमेव प्रकारः. प्रातरारभ्य सायमवधिः मंगलप्रभृतिशयनावधिः नित्यरीत्या तथैव उत्सवादौ च साक्षात्प्रभुसुखार्थमेव सर्वा कृतिरिति यथा श्रीव्रजरत्नाभिः प्रियाभिः प्रत्यहं प्रतिक्षणं श्रीप्रभुसुखार्थमेव सर्वकार्यं कृतं तथैव अस्मदीयैः तद्भावनयैव कर्तव्यम् इति बोध्यं.

प्रकृतम् अनुसरामः : कृपावलोकनसूचकं **मृदुलहासं** यदा स्व**प्रतिबिम्बे** भक्तान् अवलोकते तदा कृपाभरतयैव अवलोकते. कृपातु अत्यन्तं प्रियपदार्थे भवति भक्तास्तु अत्यन्तं प्रियाः नान्ये इति श्रीभागवतगीतापुराणादौ स्फुटमेव. अतो भक्ताएव अत्यन्तं प्रियाः तेषु कृपावलोकनं प्रभोः नित्यम्. इतोपि अधिकं भक्तसुखेनैव स्वयं सुखी. अतो भक्तसुखार्थं कोमलं हास्यं करोति.

तेनैव तद्रसाधिकारिणो भक्ताः सुखिनो जाता इति भावेन **प्रतिबिम्बदर्शनं मृदुलहासं** इति उक्तम्.

किञ्च **बाललीलापरं पदसुनुपुरधरं भाषणोत्फुल्लनासाविकासं** यो नित्यं निकुञ्जादौ स्वामिनीनां मनोरथशतपूरकः सएव विरुद्धधर्माश्रयः प्रभुः अधुना बालरूपं तत्रापि मुग्धबालभावापन्नं स्वस्वरूपम् अंगीकृत्य ये भक्ताः तेषां सुखार्थं च **बाललीलां** करोति. अतो **बाललीलापरम्** इति उक्तम्. स्वामिनीनाम् अग्रे नित्यं किशोरादिवयस्कः केवलां रसलीलां प्रकटयति. मातृचरणाम् अग्रेतु भक्तिवश्यतया बालभावापन्नं केवलं मुग्धबालभावं प्रकटीकरोति, निरुद्धानां श्रीमातृचरणानां रिंगणादिलीलया बालक्रीडारसं अनुभावयन् स्वयमपि तत्सुखं अनुभवन् **बाललीलायामेव परं** तल्लीनं तन्मग्नं एतादृशं श्रीनवनीतलसन्मुखं प्रभुं सा नित्यं लालयति. शनैः-शनैः आन्दोलितपल्यंकस्थं प्रभुम् आन्दोलयति. किञ्च प्रभुः यांयां लीलां निरोधार्थं भक्तान् अनुभावयति तां-ताम् अवलोक्य प्रपञ्चादिकार्यानुसंधानरहिताः साक्षात्कायावाङ्मनोभिः भगवत्येव निरुद्धाः भवन्ति. निरोधार्थमेव भगवतो अवतरणम्. अतो बाललीलाम् आरभ्य सर्वा लीला तदनुभवकर्तॄणां भक्तानां परमनिरोधैकफला. अतः सर्वा भगवल्लीला भक्तैः निरन्तरं भावनीया इति दिक्. तथाच **बाललीलापरं** साक्षाद् यशोदोत्संगलालितं परमतत्त्वरूपं श्रीनवनीतप्रियं प्रभुं सा लालयतीति इति भावः.

किञ्च **पदसुनुपुरधरम्** इति. **पदयोः** चरणयोः **सुनुपुरधरं** सुष्ठु सुन्दरं भक्तानां मनोरथपूरकं एतादृशं **नुपुरं धरं** धृतं मातृचरणप्रभृतिभिः श्रीस्वामिन्यादिभिः धारितम्. अत्रायं भावो : यदा प्रभुः बाललीलानुकरणमिषेण निजांगणे रिंगणपरो भवति तदा रिंगणलीलायां चरणयोः धृतनुपुराणां अत्यन्तं सुमधुरं ध्वनिविशेषं करोति तां लीलां स्वान्तरंगभक्तान् अनुभावयति. तदैव तल्लीलावलोकनपराः विस्मृतलौकिककार्याः तदैकपराः निरुद्धाः भूत्वा तत्तद्रसरूपां लीलाम् अनुभवन्ति. सा लीलैव एतादृशी सर्वलौकिकवैदिकविस्मा-रिका परमा अनिर्वचनीया भक्तानां मनोरंजनी जाता. इति श्रीप्रभुकार्यं

सर्वं स्वभक्तानां मनोरंजनार्थं निरोधार्थमेव इति भाव:.

किञ्च सर्वविस्मारिका स्वासक्तिसंपादिका सा रिंगणलीला स्वान्तरंगभक्तार्थमपि प्रकटीकृता इत्यनेन ताएता: निरोधाधिकारिण्य:. अत: सुधाद्वारा अन्तरंगरसदानं निरोधकरणं च एतदर्थमेव एते भक्ता: श्रीप्रभुणा भुवि अवतारिता स्वयमपि एतदर्थमेव अवतीर्णो अत: सुधासंबंधो निरोधसिद्धिश्च एतासाम् अन्तन्तरंगभक्तानां कृपयैव भवति. इति फलप्रकरणसुबोधिन्यां द्वितीयकारिकायां **"तदद्वारा पुरुषे भवेत्"** (सुबो.का.१०।२६।२) इति श्रीमत्प्रभुभि: प्रदर्शितम् इति. ये अन्तरंगभक्ता: तल्लीलावलोकने अधिकारिण: तेषां यो निरोध: कृतः तद्वशादेव नित्यं नन्दमन्दिरे समायान्ति. किञ्च **भाषणोत्फुल्लनासाविकासम्** इयमपि लीला भक्तजनमनोरंजनार्था इति **भाषणे उत्फुल्ला नासिका** तस्या: **विकासो** यस्मिन् यस्य वा. एतादृशं प्रभुं सा लालयति इति पूर्वेण अन्वय:. अत्रायं भाव: : आत्मनो अन्तरंगसेवार्थं लालनार्थं सुधापानार्थं च श्रीव्रजरत्ना यदा समायान्ति तदैव श्रीप्रभु: तासाम् अन्तस्तापापनोदनपूर्वकं परमानन्दसुधालाभाय भाषणं करोति. यदा भाषणं भवति तदा भाषणसंबंधी वायु: नासिकायां भवति. तत्संबंधेनैव नासिका उत्फुल्ला भवति इतितु लोकप्रसिद्धि:. तासान्तु संतोषो भाषणेनैवेति विचार्य यदा भाषणं करोति तदा तासां संतोषो भवति. किञ्च भाषणोत्फुल्लनासिकाया: विकासम् इति शोभासूचकवाक्यम्. तेषां तथा स्वरूपदर्शनेनैव पूर्णानन्दावाप्ति: भवति. अत: तथा करणार्थम् एतादृशीं स्वस्वरूपशोभां प्रदर्शयन् भाषणं च करोति तथा करणेन स्वस्वरूपलावण्यामृतं पाययित्वा तेषां भक्तानां प्रपंचकार्यं विस्मार्य स्वस्मिन् आसक्ति संपादयन् संतोषं ददातीति एतादृशं प्रभुं सा लालयतीति पूर्वेण संबंध:।।२।।

एवं बाललीलापरं श्रीप्रभुं तत्स्वरूपं स्वयम् अनुभवन्तः स्वान्तरंगान् अनुभावयन्त: अग्रिम पदम् अवतारयन्ति **अंगुष्ठचोषकम्**... इति.

अंगुष्ठचोषकं गूढरसपोषकं

स्वल्पसंतोषकं कृष्णचन्द्रम्।।
गोपिकाजनमनोमोदसंपादनम्
तदभिलषिताकृतौ विगततन्द्रम्।।३।।

अंगुष्ठम् इति वामचरणागुष्ठं चोषतीति एतादृशं प्रभुं सा लालयतीति पूर्वेण अन्वयः. अंगुष्ठचोषकम् इतितु बालकानां सहजस्वभावएव उत्तमभाग्यवंतः बालका स्वपदांगुष्ठचोषणं कुर्वन्ति इतितु शास्त्रे सिद्धम्. यस्य श्रीप्रभोः चरणकमलाश्रयमार्गेण बह्वो महात्मानः परमभाग्यवंतो जाताः अधुनापि जायन्ते. किञ्च यत्पादपंकजरजसि निरन्तरं ब्रह्मेशौ, साक्षाद् अंगभूता रमापि, राजसतामसचांचल्यादिदोषापनुत्तये मूर्धसु धारयन्त्येव इति फललीलायां श्रीस्वामिनीभिः प्रदर्शितम्. किञ्च जन्ममरणादिरूपसंसृतिभयात् यच्चरणशरणम् ईयुषां निरन्तरं निर्भयतां संपादयति, लौकिककामादिदोषमपि नाशयति. एतादृशं अत्यन्तासाधारणं चरणारविन्दं तथैव. तदर्थं **चरणांगुष्ठचोषकं** तस्य **चोषणं** स्वयमपि करोति. तत्र अयं भावः : विरुद्धधर्माश्रयः सर्वरसाधारभूतः श्रीप्रभुः स्वयम् एवं विचारयन् **चरणांगुष्ठं** चोषति यद् मद्भक्तः सर्वतो निस्पृहाः सन्तः सर्वाणि मदंगानि विहाय य चरणमेव केवलं यद् अवलम्बते आश्रयति निरन्तरं तत्रैव स्थिताः भवन्ति नान्यत्र **''सारंगाणां पदाम्बुजम्''** (भाग.पुरा.) इति वाक्यात्. अतः परमरसभोक्तारो मदन्तरंगभक्ताएव. अतः चरणारविन्दे कोऽपि असाधारणानिर्वचनीयरसो अस्ति. अतो भक्तानुभूतरसम् आत्मनि समानेतुं **चोषति**. यथा इक्षुरसस्य आस्वादोऽपि चोषणेनैव भवति तथैव चरणानुगताः ये भक्ताः तैः अनुभूतासाधारणरसः चोषणेनैव मुग्धबाललीलामिषतः स्वान्तः संस्थापयति. किञ्च यावन्तो अलौकिकाः भक्ताभिलषितपदार्थाः ते श्रीप्रभुचरणारविन्दएव संस्थापिताः. अतः कारणात् भक्तास्तु केवलं चरणारविन्दमेव अभिलषन्ति समाश्रयन्ति च. अतः पुष्टिमार्गे चरणारविन्दद्वारैव निवेदितपदार्थानाम् अंगीकारः. अतः निवेदनमंत्रदानोत्तरं चरणारविन्दयोः तुलसीदलसमर्पणम्. इयं परंपरा अस्मिन्मार्गे मुख्या चरणारविन्दोपरि तुलसीदलसमर्पणेनैव साक्षात् फलरूपा भक्तिः श्रीव्रजरत्नानां भावरूपा सम्पस्यते. अत्रायं भाव : श्रीतुलस्याः प्रभोः

चरणारविन्दप्रियत्वं तु फलप्रकरणे श्रीस्वामिनीभिः उक्तमिति ''**गोविन्दचरणप्रिया**'' (भाग.पुरा.१०।२७।७) इति. अतः पुष्टिमार्गे चरणारविन्दभक्तेः मुख्यत्वं. ब्रह्मेशरमाप्रभृतिभिरपि स्वदोषनिरसनपूर्वकं भक्त्यर्थं यच्चरणारविंदरजांसि मूर्ध्न्यैव निरन्तरं धार्यन्ते इति सर्वत्र पुराणतन्त्रादौ स्फुटम्. किञ्च साक्षात्पुष्टिस्थाने श्रीवृन्दावनादौ ''**यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि**'' (भाग.पुरा.१०।१८।१०) इत्यादिना श्रीस्वामिनीभिः श्रीप्रभुचरणारविन्दमाहात्म्यमपि स्तुतं तथैव यच्चरणारविन्दप्रसादीयकुंकुमादिलिम्पनेन अयोग्यानां वनचरीपुलिन्दीनामपि यद्यपि तासां ''**वनेतु (वनं तु) सात्त्विको वासः**'' (भाग.पुरा.११।२५।२५) इति वाक्यात् सात्विकत्वेऽपि हीनजातीयत्वात् तामसत्वम् इति. पूर्वन्तु ता तथाविधाअपि हीनजातीयत्वाद् अयोग्यापि तथापि श्रीहरिदासवर्यकृपया तत्प्रेरणया भगवच्चरणारविन्दप्रसादवस्तुलेपनं कृतं ताभिः तल्लेपनमात्रेणैव तासां भगवद्भावप्रतिबन्धक-दुर्वासनारूपो य आधिः मानसिकव्यथा सातु निरस्ता. अतः तास्तु केवलं भगवद्भोगयोग्या गुणातीताएव जाताः याभिः समानातीतरसरूपकंदमूलफलादिवस्तूनां परमप्रसादतया अंगीकारः कृतः. उत्थापनभोगे तद्भावरूपफलादिसामग्रीणाम् अंगीकारो भवति तद्द्वारा तासामपि उपभोगः कृतः इति अस्मदाराध्यचरणैः श्रीसुबोधिन्यां स्फुटतया उक्तम् इति.

किञ्च भवतु अयोग्यता परन्तु योग्यानां गुणातीतभक्तानां सत्संगात् कृपया च अयोग्यानां तामसशरीरवतां परमसाधनानां भक्तौ फलरूपा योग्यता भवतीति श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धे स्फुटमेव ''**किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः आभीरकंकाः यवनाः खसादयो ये अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः**'' (भाग.पुरा.२।४।१८) इति भगवदीयानां संगोऽपि एतादृशभगवदीयद्वारैव प्रभु अंगीकरोति न स्वतः. अतः श्रीहरिदासवर्यसत्संगकृपया भगवच्चरणारविन्दप्रसादधारणात् पुलिन्द्योऽपि पूर्णाः असाधारणभाग्यनिधिवत्यो जाताः. अतः श्रीस्वामिनीभिः तासामेव सर्वापेक्षया पूर्णत्वं पूर्णभाग्यवत्त्वं उक्तम्. एतादृशासाधारणरसाधारभूतं चरणारविन्दं तथैव **तदंगुष्ठस्यैव** परमानन्दभरतया अलौकिकास्वादप्रदतयैव **चोषणं** करोति श्रीप्रभुः. किञ्च

सुधास्थितिस्तु मुखारविन्दएव भक्तानान्तु चरणारविन्दएव स्थितिः अतो भक्तानां साक्षादधरसुधादानार्थमेव **अगुंष्ठचोषणम्** इत्येव निष्कर्षः. अतो अंगुष्ठचोषण-व्याजेन यत् करोति तत् स्फुटं प्रदर्शयन्तः अस्मत्प्रभवः अग्रिमपदेन व्याकुर्वन्ति **गूढरसपोषकं.** एतादृशम् असाधारणं चरित्रं श्रीनवनीतप्रियं विरुद्धधर्माश्रयं प्रभुं सा लालयति इति पूर्वेणैव संबंधो बोध्यः.

अत्रायं भावः : **अंगुष्ठचोषणं** तु व्याजमात्रं परन्तु श्रीप्रभोः चरित्रं विचित्रमिति भक्तार्थं भक्तसुधादानार्थमेव **अंगुष्ठचोषणम्**. तेतु भक्ताः **गूढतयैव** चरणारविन्दे संरक्षिताः अतो भगवदंगानाम् आधिदैविकत्वात् आधिदैविकरूपं चरणांगुष्ठं श्रीमुखारविन्दे संस्थाप्य **चोषणेन** आभ्यन्तरसुधां समाकृष्य तत्र स्थानां भक्तानां निजमुखारविन्दसुधादाने प्रभुप्रसादकं यद् गूढरसं तमेव पोषयति यथा तेन मदीया पुष्टाः भवेयुः. एतदर्थं **अंगुष्ठ चोषणं** करोति. किञ्च पूतनाद्वारा समानीताः ये भक्ताः श्रीमदग्निकुमारिकानां पुंभावरूपाः पूतनासम्बन्धात् आसुरभावेन मिश्रिताः अतः सुधादानेनैव तत्सम्बधदोषोऽपि निवर्तनीयइति चरणरजसम्बन्धेनैव असुरभावनिवृत्तिं संपादयितुम् **अंगुष्ठचोषणमिषेन** हृदयस्थितं **गूढरसं** तस्यैव **पोषणं** करोतीति निष्कर्षः. अतो अग्रिमं पदं व्याख्यायते **स्वल्पसंतोषकं कृष्णचन्द्रम्** इति. भक्तौ प्रीत्या समानीतं यत् **स्वल्पवस्तु** नवनीतादिकं दुग्धदग्धादिकं निवेदनार्थम्. किञ्च क्रीडनार्थं क्रीडनसामग्र्यादिमयुरहंसादीनि तैः वस्तुभिः **संतोषयुक्तो** भवति. यतः **कृष्णचन्द्रं** सदानन्दपूर्णं "**कृषिर् भूवाचकः शब्दः**" (गोपा.पू.ता.उप.१) इति 'कृष्ण'शब्दस्य सदानन्दार्थकत्वम् एतादृशं सर्वव्रजाल्हादकं समृद्धिसम्पादकं प्रकाशकं एतादृशं प्रभुं सा लालयति. किञ्च **स्वल्पसंतोषकं "इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्च आत्मनः प्रियम्, दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्"** (भाग.पुरा.११।३।२८) एवं "**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति तद् अहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः**" (भग.गीता.९।२६) इत्यादिवाक्यैः निवेदनावसरे भक्तैः प्रीत्या निवेदनं क्रियते तेनैव प्रभुः **संतोषयुक्तो** भवति. भगवांस्तु सर्वतः परिपूर्णः परमनिस्पृहो परन्तु भक्तैः

अतिप्रीत्या **स्वल्पवस्तुसमर्पणेनैव संतोषं** प्राप्नोति **''भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति प्रभुः नान्येन केनचित्''** (भाग.पुरा.) इत्यादिना यथावत् स्फुटीकरणात्. एतादृशं **कृष्णचन्द्रं** सदानन्दं प्रभुं सा लालयति इति पूर्वेणैव संबंधः. किञ्च **गोपिकाजनमनोमोदसंपादकं तदभिलषिताकृतौ** विगततन्द्रम् इति. निजान्तरंगभूताः गोपिकाः तासां **मनोमोदसम्पादकं** परमानन्दसंपादकम्. ते श्रीगोपीजनाः निरोधलीलार्थं श्रीप्रभुणा भूमौ अवतारिताः तदर्थं स्वयमपि अवतीर्णः प्रभुः तासाम् निरुद्धकरणात् परमानन्दसम्पादकः. एतादृशः प्रभुः तं सा लालयति.

किञ्च तेषाम् **अभिलषिताकृतिः** मनोरथशतकृतिः तदर्थं मनोरथदानार्थं **विगता** दूरीकृता **तन्द्रा** आलस्यं येन एतादृशं सा लालयति. प्रभुः परमस्वतन्त्रएव परन्तु भक्तकृतमनोरथांगीकारार्थं तत्फलदानार्थं सर्वाण्यपि कार्याणि विस्मृत्य स्वयं **विगततन्द्रो** भवति इति भावः तन्द्रादिको धर्मस्तु मायिको प्रभौ न सम्भवति स्वस्य मायाधीशत्वात् परन्तु भगवान् भक्ताधीनो विरुद्धधर्माश्रयः ॥३॥

इति श्रीश्रीप्रभुचरणपदपंकजमंजुमकरन्दानुगामिना
एतन्मार्गीयभगवदीयकिंकरवल्लभदासेन
आत्मानन्दसिद्धये स्ववागिन्द्रियादिशुद्धये च कृतेयं
पल्यंकटीका श्रीप्रभुचरणाय निवेदिता
संवत १९५८ शनौ ज्येष्ठकृष्णाष्टमीतिथौ
श्रीप्रभुचरणाब्जप्रसादतः श्रीगोवर्धननाथपुर्यां सम्पूर्णा

(मन्ये श्रीनाथद्वारानगरे कदाचिद् द्वितीयपीठग्रन्थागारावलोकनसमये अस्याः एकैव मातृका उपलब्धा. प्रतिलिपिरपि बहुकालवशाद् असम्यग्वाच्यापि यथामति संशोधिता. प्रायशः गोस्वामिश्रीकल्याणरायमहोदयैरेव वा प्रदत्ता स्याद् इति सम्भावनया सम्पादकसंशोधकः तेभ्यः स्वस्य आधमर्ण्यं प्रकाशयति)



।।। भुजंगप्रयाताष्टकम् ।।

(श्रीमत्प्रभुचरणकृतं भुजंगप्रयाताष्टकम्)

सुधाधामनैजाधराधारवेणुं कराग्रैर् उदग्रैरतिव्यग्रशीलैः ।।
सदा पूरयंश्चारयन् गोवरूथान् पुरः प्रादुरास्तां ममाभीरवीरः ।।१।।

यशोदायशोदानदक्षांबुजाक्ष प्रतीपप्रमादप्रहाणप्रवीण ।।
निजापांगसंगोद्भवानंगगोपागनापांगनृत्यांगणीभूतदेह ।।२।।

सदाराधिकाराधिकासाधकार्थप्रतापप्रसाद प्रभो! कृष्णदेव! ।।
अनंगीकृतानंगसेव्यं/संसेव्यरंग (?) तरंगप्रविष्टप्रतापाघहृन्/प्रतीपा-
घहृन् (?) मे प्रसीद ।।३।।

रमाकांत! शांत प्रतीपांत मेंतः -
स्थिरीभूतपादांम्बुजस्त्वं भवाशु ।।
सदा 'कृष्णकृष्णे'ति नाम त्वदीयं
विभो गृह्णतो हे यशोदाकिशोर! ।।४।।

स्फुरद्रंगभूमिष्ठमंचोपविष्टोच्छलच्छत्रुपक्षे भयं चानिनीषो ।।
अलिव्रातजुष्टोत्तमस्रग्धर श्रीमनोमंदिर त्वं हरे! मे प्रसीद ।।५।।

स्मरस्मेर कस्मात् त्वम् अस्मान् स्वतो
न स्मरस्यम्बुजस्मेरनेत्रानुकंपिन् ।।
स्मितोद्भावितानंगगोपांगनां -
गोल्लसत्स्वांगसत्संगलंभेश पाहि ।।६।।

रमारामरामामनोहारिवेषोद्धतक्षोणिपालौघपापक्षयेश ।।
दरोत्फुल्लपंकेरुहस्मेरहास प्रपन्नार्तिहन् नंदसूनो! प्रसीद ।।७।।

कुरंगीदृशामंगसंगेन शश्वन्निजानंददानंदकंदातिकाल ।।
कंलिदोद्भवोद्भूतपंकेरुहाक्ष स्वभक्तानुरक्ताक्तपाद प्रसीद ।।८।।

भुजंगप्रयाताष्टकेनानुयातो भुजंगे
शयानं हरिं संस्तवीति ।।
रतिस्तस्य कृष्णे भवत्याशु नित्या
किमन्यैः फलैः फल्गुभिः सेवकस्य ।।९।।

।। इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं
भुजंगप्रयाताष्टकं
संपूर्णम् ।।



।। विज्ञप्तयः ।।

(श्रीमत्प्रभुचरणकृताः विज्ञप्तयः)

१. (प्रभुं प्रति विज्ञप्तयः)

कियान् पूर्वं जीवस् तदुचितकृतिश्चापि कियती
भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदाने बत भवेत्।।
अतः स्वात्मानं स्वं निरुपममहत्त्वं व्रजपते!
समीक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसैः ।।१।।
स्वदोषान् जानामि स्वकृतिविहितैः साधनशतैर्
अभेद्यान् त्यक्तुं चापटुतरमना यद्यपि विभो!।।
तथापि श्रीगोपीजनपदपरागाञ्चितशिराः
त्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप! न शोचामि मुदितः ।।२।।

धृतं यदर्थे वपुरेतदासीत्
तदिच्छया यद् भविता तदस्तु।।
प्रभो! कृपालोरपि रोचते चेद्[१]
विज्ञापनीयं न कदापि किञ्चित्।।३।।

यमन्तरेण क्षणमप्यशक्यं यो मन्यमानः स दिनान्यमूनि।।
नयामि तेनापि विना यदित्थं किमस्ति कापट्यमितोऽधिकं मे ।।४।।

आसारैः पीडितं यो[२] व्रजमवितुम् अधाद् आशु गोवर्धनाद्रिं
दावाग्नेः[३] दह्यमानं तम् अपिबदमितोऽसह्यभक्तार्तिभीतिः[४]।।
गोपस्त्रीविप्रयोगानलम् उपशमयन् एति गोष्ठं दिनान्ते
सोऽपि श्रीगोकुलेशः किमिति करुणया मामिहोपेक्षते स्वम्।।५।।

जानामि मन्दभाग्योऽहं यदर्थे[५] गोकुलेश्वरः ।।
भक्तक्लेशासहिष्णुत्वस्वभावं[५अ] कुरुतेऽन्यथा ।।६।।
आशातृणावलम्बेन त्वद्वियोगाधिवारिधिम्।।

अनुग्रहगरिष्ठोऽतितरामिह तराम्यहम्[५आ] ।।७।।

अम्बुदस्य स्वभावोऽयं समये वारि मुञ्चति।।
तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव[६] न संशयः[६अ] ।।८।।

यद्यप्यहमपराधी तथापि तव चरणसेवकोऽस्म्येव।।
एवं सत्येवं मयि करणं नैवोचितं नाथ!।।९।।

कालकर्माधीनतां यत्करोषि मयि सुन्दर!।।
तदप्यनुचितं यस्मात् त्वदीयोऽस्म्युररीकृतः।।१०।।

स्वतन्त्रत्वेन मर्यादां मनुषे नैव चेत् प्रभो!।।
श्रीगोकुलप्रभुरसि तेनैवं दीनतां ब्रुवे।।११।।

सर्वसाधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान् भवान्।।
श्रीगोकुलप्राणनाथ! न त्याज्योऽहं कदापि वै।।१२।।

यत्करिष्यसि तन्नाथ! स्वतएव करिष्यसि।।
अतो मुहुः किं वदामि श्रीगोपीजनवल्लभ!।।१३।।

[६आ] एकोंघ्रिरेणुर्व्रजभूषणाढ्याः पातुं क्षमः सर्वतएव सर्वम्।।
अशेषतत्पादरसरोजरेणु-सनाथसर्वस्य कुतोऽस्ति मे भीः।।१४।।

घुणकीटवदेव योन्तश्चरति[७] प्राणभृतामशेषसारम्।।
अपगच्छति नाप्युपायलक्षैर् व्रजनाथ! प्रणयः स किं सुखाय।।१५।।

त्वन्नामोच्चारणेऽप्यस्ति न जीवेष्वधिकारिता।।

अलौकिकत्वात् त्वन्नाम्नः मद्वाचो लौकिकत्वतः[८]।।१६।।
एवं सत्यपि जानामि त्वन्नामातिप्रभावतः[९]।।
उद्यदेव स्वयोग्यां तां कुर्वदेव हि राजते।।१७।।
त्वदङ्गीकृतयो जीवेष्वधिकारा यतः प्रभो!।।
अतस्ते न विचारार्हाः कृपां कुरु कृपानिधे!।।१८।।

साधिता भवतु साधितार्थता बाधिताथ विहिताधिकारिता।।
क्वापि कापि गतिरुत्सुकास्म्यहं राधिकाचरणदासिका परम्।।१९।।

मदीयोऽयम् इति ज्ञात्वा न कस्मै त्वं प्रसीदसि।।
यादृशस्तादृशो वाहं तव चेत् किं विलम्बसे।।२०।।

[१०]आचार्यवरचरणैरुक्तं ''दैन्यं त्वत्तोषसाधनम्''।।
स्वल्पं बहुतरं वापि तदस्तीति प्रसीद मे।।२१।।

प्रभुस्त्वमेव मे नाथ! यत्करोषि वरं हि तत्।।
तथाप्यधीरतामेव मानसं मेऽवलम्बते।।२२।।

यदि प्रसन्न एवासि त्वदीयोऽहं न चान्यथा।।
न चेद् अहं तथैवास्मि स्मर स्वानुग्रहं मयि।।२३।।

यादृशी मे कृतिर् नाथ! तस्याः फलमिदं कियत्।।
यादृशस्त्वं प्रभुः किन्तु तादृगेव विधीयताम्।।२४।।

अपि मे सापराधस्य शिक्षितस्याप्यजानतः।।
हा नाथ! पालनीयस्य किमुपेक्षोचिता तव।।२५।।

यदि तुष्टोऽसि रुष्टो वा त्वमेव शरणं मम।।

मारणे वारणे वापि दासीनां नः प्रभुर् गतिः ।।२६।।

त्वद्वियोगे य आद्यो मच्छ्वासो निरगमद् बहिः ।।
तेनैव सह चेत् प्राणा न ययुस् तर्हि किं ब्रुवे।।२७।।
निरपत्रपतां चान्यां किं ब्रुवे योऽहमीदृशः ।।
सङ्गमाशां करोम्येव[११] विचाराद्यनपायिनीम्।।२८।।
एवं सति त्वदीयस्य त्वमेव शरणं मम।।
गोकुलेश! किमप्यस्तु त्वं मां[१२] मा त्यज किं परैः ।।२९।।

त्वद्वियुक्तस्य जीवस्य नित्यता मास्तु कस्यचित्।।
किन्तु तत्क्षण एवास्य नाशएव व्रजेश्वर!।।३०।।

तोषसाधनराहित्यं यद्यप्यस्ति मयि प्रभो!।।
तथापि सहजैश्वर्यं त्वय्यस्तीत्यहमक्लमः ।।३१।।

यद्यपि त्वत्कृपायोग्यं पात्रं नास्ति तथापि तु।।
त्वमर्हसि[१२अ] कृपां कर्तुं पितरं वीक्ष्य मे प्रभो!।।३२।।

महत्यल्पेऽथवार्थे या[१३] पराश्रयकृतिर् मम।।
निसर्गदोषात् तन्नाशोऽपीह कार्यस्त्वयैव हि।।३३।।

सर्वज्ञे त्वय्यज्ञतरः किं वच्मि व्रजपालक!।।
सर्वथाहं त्वदीयोऽस्मि सान्वयः सपरिग्रहः ।।३४।।

सर्वथा स्वीयतां राधाप्रिय! ज्ञात्वा सदा मयि।।
यत्करिष्यसि तत्सर्वं साध्वेवेति मतिर् मम।।३५।।

यद्दैन्यं तोषहेतुस्ते आचार्यैः प्रकटीकृतम्।।

विना साधनसम्पत्तिं तेन मेऽस्ति स्थिरं मनः ।।३६।।
त्वद्दर्शनाद् ऋते नूनं दिनानीमानि हृत्पते! ।।
वृथा यान्ति त्वदीयस्य नाथ! त्वं दर्शयान्तिकम् ।।३७।।
मयि यद्यपि नैवास्ति त्वत्प्रसादनकारणम् ।।
तथापि स्वीकृतं दैन्यं मत्वा कार्या कृपानिशम् ।।३८।।

त्वद्विप्रयोगदहनज्वरितासवो मे
यत्संस्थिताः कथमपीदमतीव चित्रम् ।।
भो जीवितेश! मम यान्ति कथं दिनानि
शून्यानि ते स्मितमुखाब्जविलोकनेन ।।३९।।

अपि जीवितनाथ! मन्मनो लुलितं त्वद्वदनं समीक्षितुम् ।।
व्यथते सततं समुत्सुकं नय मां त्वत्पदपङ्कजान्तिकम् ।।४०।।

ईदृशः कोऽपराधोऽस्ति हृदयेश! न वेद्म्यहम् ।।
येनान्तराय एतावत् श्रीमुखालोकने मम ।।४१।।
सर्वात्मना दुरापत्वं ज्ञात्वाप्याशां करोमि यत् ।।
भ्रान्तोऽस्म्यहं न वेतीश न जाने करवाणि किम् ।।४२।।
श्रुतिर् यत् प्राह गोपीश! साधनाप्राप्यतां[१४] त्वयि ।।
तन् मे न खेदहेतुर् यत् साधनं नास्ति मेऽण्वपि ।।४३।।
त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं त्वदीयत्वं यदस्ति मे ।।
तदेव फलमित्यात्मशास्त्रतः प्रमिणोम्यहम् ।।४४।।
तथापि मन्नेत्रवपुःप्रभृतीनां व्रजाधिप! ।।
साक्षात् त्वय्युपभोगं मे मनः कामयतेतराम् ।।४५।।

त्वदन्तरङ्गभक्ताङ्घ्रि - पद्मदास्यं व्रजेश्वर! ।।
त्वदीयतायाः फलमित्यहं मन्ये न चेतरत् ।।४६।।

यदुक्तं तातचरणैः "श्रीकृष्णः शरणं मम" ।।
ततएवास्ति नैश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके।।४७।।
इति वस्तुस्थितौ सत्यामपि त्वद्वदनाम्बुजम्।।
द्रष्टुं कामयते चेतः सस्मितेक्षण - मोहनम्।।४८।।
नान्यास्ति कामना देहस्थितिरेतादृशी मम।।
उचिता[१५] तावकीनस्य विज्ञप्तिरियमेव मे।।४९।।

यद् दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर् न तदस्ति ममाण्वपि।।
तां कृपां कुरु राधेश! यया तद्[१६] दैन्यमाप्नुयाम्।।५०।।

सर्वेषां जीवनं लोके दृष्टं सर्वार्थसाधकम्।।
ग्लान्येकफलकं जातम् अधुना मम जीवितम्।।५१।।

कर्तुं पुनर्यथाकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् ईश्वरे।।
सामर्थ्यं यन्मया दृष्टं त्वय्येवातो न संशयः।।५२।।

तं न पश्यामि यस्याग्रे वार्तां स्वस्य मनोगताम्।।
उक्त्वा तदुत्तरं लब्ध्वा मनो विश्रामये क्षणम्।।५३।।
अतीव नीचा मत्प्राणा मूर्खाअपि गतत्रपाः।।
स्वस्थित्ययोग्यकालेऽपि यतस्तिष्ठन्ति साम्प्रतम्।।५४।।
शास्त्रं नियामकं तावत् यावत् पूर्णा कृपा न[१७] ते।।
कृपया ते सु(?!)पूर्णस्य[१८] नैव कोऽपि नियामकः।।५५।।

न लब्धस् तादृशः कोऽपि यस्याग्रे स्वमनोगताम्।।
वार्ताम् उक्त्वा स्वमात्मानं क्षणं विश्रामयाम्यहम्।।५६।।
अद्य श्वो वा परश्वो वा कदाचित् कृपयिष्यति।।
नाथ! इत्याशया सर्वं गतं जन्म करोमि किम्।।५७।।
तथापि त्वत्कृपाकांक्षां मनो मे निरपत्रपम्।।

कं वा हेतुं सुनिश्चित्य करोतीति न वेद्म्यहम्॥५८॥

स्वभावतः सदा मेघः सर्वेषां जीवनप्रदः॥
जाने तस्यैव दौर्भाग्यं सोऽपि यत् तमुपेक्षते॥५९॥

त्वदीयत्वमपि ज्ञात्वा मयि कालादयः प्रभो!॥
प्रभवन्ति ततो मन्ये त्वत्कृपाशून्यतामपि॥६०॥
विज्ञप्तौ वाऽपराधे वा पाखण्डे वा मदुक्तयः॥
पर्यवस्यन्ति कुत्रेति न जानेऽहं विमूढधीः॥६१॥
राज्यायोग्ये तदाकांक्षा दण्डावाप्त्यै यथा भवेत्॥
त्वत्सेवायाम् अहं तादृक् तदवाप दशाम् इमाम्॥६२॥

स्वीयं कृतागसं चेत् त्वं दूरस्थं कुरुषे यदि॥
इतः परोऽधिको दण्डः त्वदीयस्य न विद्यते॥६३॥

वियोगो बाधते तावद् यावद् हृद्येव ते स्थितिः॥
यदा बहिस् तदा नेति विचित्रेयं स्थितिस् तव॥६४॥

भूर्जत्वगिव मद्दोषा निस्सरन्त्येव सर्वतः॥
तथैवानन्यगतिके त्वत्क्षमेति न मे भयम्॥६५॥
बलिष्ठा अपि मद्दोषाः त्वत्क्षमाग्रेऽतिदुर्बलाः॥
तस्या ईश्वरधर्मत्वात् दोषाणां जीवधर्मतः॥६६॥

मत्प्राणानां स्वतो लज्जा नैवास्ति परतोऽपि वा[१९]॥
प्राप्याप्यवस्थां नो यान्ति इहामुत्र च गर्हिताम्॥६७॥

त्वद्दर्शनविहीनस्य त्वदायत्तस्य[२०] जीवितम्॥
व्यर्थमेव यथा नाथ! दुर्भगाया नवं वयः॥६८॥

गतः स कालो यत्रासीत् सुदुर्लभकृपा मयि।।
इदानीम् ईदृशः कालो यत् त्वं दृग्गोचरोऽपि न।।६९।।

त्वदीयानां सुखं दुःखं न लोकसदृशं भवेत्।।
त्वत्सेवायां सुखं सर्वं नो चेत् तस्य विपर्ययः।।७०।।

मत्वा स्वकीयतां नाथ! रोषेण कृपयाथवा[२१]।।
ताडनं लालनं चैव परमानन्ददं मम।।७१।।

त्वद्वियुक्तस्य जीवस्य त्वदीयस्यापि नित्यता।।
सङ्गं विना न चैवास्तु विज्ञापनमिदं मम।।७२।।

या दृग्भाग्यं पुरा मेऽभूत् तन्महत्त्वं न वेद्म्यहम्।।
येनासीत् त्वत्कृपा पूर्णा सुदुर्लभतरा मयि।।७३।।

मा जीवतात् त्वदीयो यस् तव सेवाविवर्जितः।।
सत्या विज्ञप्तिरेषा मे नाथ! त्वं मनुषे यदि।।७४।।

स्वस्थित्ययोगं मत्वापि मच्छरीरं ममासवः।।
यन्न त्यजन्ति तेनाहं मन्ये तान्निरपत्रपान्।।७५।।

त्वत्कृपातः पुरा नाथ! मया कालादयः प्रभो!।।
तुच्छीकृताः साम्प्रतं मां बाधन्ते त्वत्कृपां विना।।७६।।

त्वत्सेवायाम् अयोग्यस्य त्वदीयस्य मम प्रभो!।।
इत्येव हि परा काष्ठा अभाग्यस्येति मे मतिः।।७७।।

इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदङ्घ्रिविप्रयोगे तु।।

मरणं भवतादेवं भावे शरणं त्वमेवाशु॥७८॥

गतान्यपि बहुन्यहान्यहह यान्ति यास्यन्त्यपि
त्रिभङ्गललिताकृतिप्रियतमाङ्गसङ्गं विना॥
न कोपि मम स क्षणो भवति यत्र भाग्योदयः
कदा नु निजजीवनं[२२] दृशि निवेशयिष्याम्यहम्॥७९॥

इयदवधि कदापि गोकुलेशः स्वजनकृते समकारि नो विलम्बम्॥
परमिह सुतरामुपेक्षितोऽहं कथमिति खिद्यति मानसं मुहुर् मे॥८०॥
बहुधैव ममापराधवृन्दस्तदपि त्वं न विमुञ्चसि स्वकीयान्॥
अतएव न कापि चिन्ता भवति प्राणपते! ममेदृशस्य॥८१॥
हृदयं विरहं तवेच्छतीदं न दृशौ मे व्रजनाथ किं करोमि॥
नहि कोऽपि परस्परं विरोधे त्यजति स्वार्थमतिप्रबोधितोऽपि॥८२॥

हा नाथ! जीविताधीश! राजीवदललोचन!॥
यथोचितं विधेहीति प्रार्थनं तावकस्य मे॥८३॥

व्रजेश त्वद्वियोगाग्निदाहो ह्यप्रियएव मे॥
त्वत्संङ्गमवियोगे यद् बाधते नान्यथा क्वचित्॥८४॥

त्वद्भावो नाथ! सर्वेषां मुक्त्यादिफलकः स्मृतः॥
विरहाधिफलो जातः सएव व्रजनाथ! मे॥८५॥

त्वत्प्रियापादरेणूनां सञ्चयो हृदये न चेत्॥
भवद्वियोगदावाग्निः तदा किं ज्वालयेन् न माम्॥८६॥

त्वद्वियोगेऽपि मे प्राणाः तिष्ठेयुरिति नोचितम्॥
परं तत्सम्भवं दुःखं तैर्विना नैव सन्ति ते॥८७॥

सन्तोषो जायते प्राणप्रिय! त्वल्लेखदर्शनात्॥
सर्वेषां मे तथा जाते हा कष्टम् इति किं वद॥८८॥

मदीयहृद्गतं ज्ञानरत्नं चिन्ताम्बुधौ सखे!॥
पातयित्वा स्वहस्तेन क्व गतः कञ्जलोचनः॥८९॥

त्वद्वियोगाग्निविज्वालाविदग्धा अपि मेऽसवः॥
तिष्ठेयुरिति नो चित्रं यतोऽहं निरपत्रपः॥९०॥

प्राणेशविरहक्लिष्टाः प्राणास् तिष्ठन्ति मे कथम्॥
वियोगाग्निविदग्धानाम् अन्तकोऽपि न संस्पृशेत्॥९१॥

असमशरज्वरजर्जरदेहा विरहाग्निजालसन्तप्ता॥
त्वत्प्रणयसर्पदष्टा कं वा शरणं व्रजामीश॥९२॥

व्रजनाथ! तवाधरामृतं मे सकृदास्वादितमिन्दिरादुरापम्॥
अभवन्मरणाय किं न कुर्याद् असकृत्पीतमिदं व्रजाङ्गनाभिः॥९३॥

शुभाशय! विनाशय त्वदधरामृतास्वादनो -
द्गतप्रचुरमन्मथप्रथितबाणपूगव्यथाम्॥
कदम्ब - नवमञ्जरी - कुसुममञ्जु - कुञ्जोदरे
निजाङ्गपरिरम्भणामृतरसादिदानेन मे॥९४॥

कथमपि पुनरप्युदारलील! प्रिय! परिशीलय खेलनं पुरेव[२३]॥
अमलकमलगर्भगन्धवाहः प्रसरति मारुत एष मारबन्धुः॥९५॥
परिरम्भणचुम्बनादिभावा भवता प्रेष्ठकृता विमोहनं च॥
स्मरसुन्दरमोहनं परं मय्यवशिष्टं नच ते मनोज्ञभावाः[२४]॥९६॥
मदमन्थरवारणेन्द्रलीला यमुनाकूलनिकुञ्जदेशगा॥

व्रजजीवन! या त्वया कृता सा मरणायैव किमीश मेऽधुना॥९७॥

किमर्थं पायितो मह्यं निजाधरसुधासवः॥
श्रावितः श्रवणानन्दो वेणोश्च कलनिःस्वनः॥९८॥

दूरीकृता रुचिर्मे निजवदनाद् अन्यवस्तुतो भवता॥
तदपि न ददासि गोपीपरिवृढ! ते मोहनं कठिनम्॥९९॥

वितर वीर निजाधरसीधु मे विरहकुङ्कुमितस्तनमण्डले॥
हर वियोगरुजं मम वक्षसि[२५] स्मरनिवासगृहे विलस प्रभो!॥१००॥

विषमो वियोगरोगस् तदज्ञजनता - समागमश्चायम्॥
तदिह[२६] भवन्तं भिषजं विना मरिष्याम्यहं सत्यम्॥१०१॥

व्रजनाथ! वदस्व किं नु कुर्यां
क्व नु यामि क्व मनः स्थिरं मम स्यात्॥
वदनाम्बुरुहं विना तवेमाः
ककुभः शून्यतमास्तमालनीलः॥१०२॥

प्रेष्ठ! त्वद्वनाम्बुजं हृदि समागच्छेत् कथञ्चिन् मम
प्राणान् स्थापयति स्वभावशिशिरस्निग्धालकालिश्रितम्॥
नो चेत् त्वद्विरहेण दावदहनज्वालायितेन द्रुतम्
जीर्णाः पञ्चशिलीमुखान्तररुजा गच्छेयुरेवातुराः॥१०३॥

तांस्त्वन्मधुरालापांस्तां गतिमीक्षां च तांश्च परिरम्भान्॥
हसितान्यनुस्मरन्ती जीवामि न न[२७] म्रिये चाहम्॥१०४॥

भवदीयं यत्किञ्चित् स्मरणपथारूढमङ्ग! मेङ्गानि॥

अन्तश्चूर्णीकुरुते हन्ति विवेकत्रपाधैर्यम्।।१०५।।
वियोगदुःखजाश्रूणां निरोधो दुष्करः परः।।
प्राकट्ये ह्यज्ञ - जनता - लज्जेति करवाणि किम्?।।१०६।।

त्वद्वदनमुष्टहृदया विहारमन्दस्मितादिहृत्प्राणा।।
मग्ना विरहसमुद्रे जीवामि कथं विना त्वाहम्।।१०७।।

प्राणप्रिय! त्वदनुरागसमुल्लसद्भ्रू-
मन्दस्मितेक्षणविलक्षणमोहनास्यम्।।
द्रक्ष्याम्यहं यदि न हन्त कथं भविष्या-
म्यङ्ग! त्वदङ्गपरिरम्भणमुष्टचित्ता।।१०८।।

अङ्ग! त्वदङ्गसङ्गेन विना विरहपीडिता।।
जन्म निर्वाहयिष्यामि कथमेतद् व्रजाधिप!।।१०९।।
न हीदमुचितं नाथ! त्वदीया त्वयि सत्यपि।।
भवत्यनिशमुद्रिक्ता त्वद्वियोगार्तिपीडिता।।११०।।

सकृदपि वदनसुधानिधिमतिदीनायै दुरन्तदुःखेन।।
दर्शय मे निजविभ्रममोहितगोपाङ्गनानिचयम्।।१११।।

वृन्दावने मिलनमाशु भविष्यतीति
चित्तेऽवलम्बनमरिन्दम! सर्वदासीत्।।
तत्रापि मे सपदि नाऽभवदीश यत् तत्
किन्नो मनीषितमिदं नु तव व्रजेश!।।११२।।

भवद्विलम्बितमहाप्रहारदलिताशयाम्।।
प्रतिक्षणमहामोहमग्नां जीवयिता नु कः।।११३।।

[28]अतीतायामपि प्राणप्रिय! त्वत्सङ्गमावधौ।।
न जाने शतधा यन्नो[29] दलत्याशु मदाशयः।।११४।।

भवानजभवादिभिर् दुरधिगम्यवार्ताश्रवः[30]
क्व मूढहृदया विभो! पशुसमाहमाभीरिका।।
तथापि तव विभ्रमस्मितविमोहितं मे मनः
त्वयि प्रिय! विशृंखलं भवति किं करोम्यातुरम्।।११५।।

प्रेष्ठ! त्वयि प्रणयिता ममास्तीत्यपि नो मतिः।।
त्वदङ्गसङ्गविरहेऽप्यङ्ग! जीवामि तद् वृथा[31]।।११६।।

क्षणमपि न वियुक्ता जातु तस्माद् भविष्या-
म्यहमिति हृदये मे निश्चयः सर्वदासीत्।।
व्यरचि यदि विधात्रा केवलो विप्रयोगः
कथय किमथ कार्यं दुःखिना जीवितेन।।११७।।

सत्स्वपि सरस्सु विमलेष्वलिहंसालीविनोदमधुरेषु।।
अम्बुदविमुक्तपाथसि चातक! ते दुर्ग्रहः कोऽयम्।।११८।।

भवदुक्तिसुधाधाराशिशिरीकृतमप्यहम्।।
क्षणमप्याशयं शक्त्या[32] न स्थापयितुमातुरम्।।११९।।

कर्तव्यमेव तव तावदये कथञ्चित्
प्राणेशसङ्गविरहाकुलमानसायाः।।
प्रेष्ठावलोकसमये[33] सकृदप्यनङ्गकोटि-
स्मयापहमुखाम्बुजमुष्टदृष्टेः।।१२०।।

ग्रीष्मेऽप्युदग्रतापे नवनीरददर्शनाशया रहिते।

आर्तश्चातकविहगो नाशां त्यजति प्रिये जीवन् ।।१२१।।
दूरे जलास्वादकथा यत्र नाप्यभ्रदर्शनम् ।।
तथापि चातको जीवत्यहो कठिनता हृदः ।।१२२।।
इदमेव बहूक्ते[३४] जानाति ननु चातकः [३५] ।।
मुहुः स्वप्रेष्ठनामापि कण्ठे यदनुवर्तते ।।१२३।।

प्रियावमानिता याति यद्यपि प्रमदा मदात् ।।
तथापि ताम् अनन्यां[३६] स नेष्टे नाथः उपेक्षितुम् ।।१२४।।
यथाकथञ्चित् तामेव स नाथः कुरुते वशे [३७] ।।
तत्प्राणा सापि तेनैव पूर्णा भवति नान्यतः ।।१२५।।

चातकी यदि महानिलवेगात् प्राप्तवत्यचलतो मरुदेशम् ।।
कस्तदा जलमुचो ननु दोषः प्राणितीयमिदमेव हि चित्रम् ।।१२६।।

कृतज्ञताकृपालुत्वविश्रामस्य प्रियस्य मे ।।
प्राप्तिस् तत्कृपयैवालि भाविनीति मतिर्मम ।।१२७।।

अनाज्ञप्तैवाहं प्रियतममनोवाक्कृतिभिरप्यभाग्यैरद्याहं -
प्रचलितवती यत् प्रियपदात्[३८] ।।
न तच्चित्रं दुःखं भवति भविता किन्तु कथमप्युदारं
तद्वक्त्रं नयनपथम् आस्तामचिरतः ।।१२८।।

प्रतिगच्छत्विह लोकः परलोकाशापि सर्वथैवाद्य ।।
मा त्यजतु मामनन्यां जातु परं गोपिकाधीशः [३९] ।।१२९।।
यादृशी तादृशी नाथ त्वत्पदाब्जैककिङ्करी ।।
त्वद्वक्त्रं कथमप्याशु कुरु दृग्गोचरं मम ।।१३०।।
यदवधि गोपीनाथो दृग्विषयोऽभून् ममापि मन्दायाः ।।
तदवधि शिवमेवासीद् अग्रे किं वा विधास्यति प्रेष्ठः ।।१३१।।

वियुक्ते नाथे यद् विपदनुपदं तत् समुचितं
वियोगस् तेनायं मम समुचितोऽन्यद् नतु परम्[४०] ॥
तथापि श्रीराधाहृदयमणिर् अत्यन्तकृपया
स्ववक्त्रेन्दुं गोपीपतिर् अचिरतो दर्शयतु मे ॥१३२॥

अनन्यगोकुलस्वामिन्! अनन्यीकृतगोकुल! ॥
मां कुरुष्व दयासिन्धो! त्वत्पदाम्बुजरेणुषु ॥१३३॥
स्वतः कृता कृपा नाथ! किशोरे मयि या त्वया ॥
सा किमाशालता वृद्धिफलिकैवोत सत्फला ॥१३४॥
भवतीति न जानामि सर्वसामर्थ्यसंयुत![४१] ॥
त्वदीयास्मः त्वदीयास्मः त्वदीयास्मो[४२] व्रजाधिप! ॥१३५॥
यादृशान् - तादृशान् त्वन्तु[४३] मा त्यजास्मान् दयानिधे! ॥
एतावदेव विज्ञाप्यं सर्वथा सर्वदैव मे[४४] ॥१३६॥

स्वल्पेनैवापराधेन महता वा व्रजेश्वर! ॥
अस्मान् उपेक्षसे चेत् त्वं[४५] स्वकीया किं ब्रुवे तदा ॥१३७॥

त्वदीयत्वं निश्चितं नस् तव भर्तृत्वमप्युत ॥
कालकर्मस्वभावानाम् ईशितृत्वमपि प्रभो! ॥१३८॥
अतः कालादिजं दुःखं भवितुं च न नोऽर्हति ॥
अपराधेप्युपेक्षा तु नोचिता सेवकेषु ते ॥१३९॥
उपेक्षयैव[४६] कालादिर् भक्षयत्यन्यथा नहि ॥
बाहिर्मुख्यात् कालजातं दुःखं चेत् सहजं हि तत् ॥१४०॥
तद्वैपरीत्यं, कृपया भावि वान्यथापि हि[४७] ॥
दौषाश्रयत्वं सहजं ज्ञात्वैव ह्युररीकृतिः ॥१४१॥
अतो दोषे क्षमोपेक्षा[४८] कृपालौ त्वयि नोचिता ॥
''नोपेक्षेयं किन्तु[४९] सहजप्रभुत्वेन करोमि वः[५०] ॥१४२॥
दण्डं स्वकीयतां मत्वे''त्येवं चेदिष्टमेव नः ॥

अस्मासु स्वीयतां मत्वा यत्र कुत्र यदा तदा॥१४३॥
यद्यत्करिष्यत्यखिलं तदस्तु प्रतिजन्मनि॥
इदमेव सदा प्रार्थ्यं त्वदीयत्वं व्रजेश्वर!॥१४४॥
दुःखासहिष्णुः त्वत्तोऽहं तथापि प्रार्थये प्रभो!॥
तथैव सम्पादय नो नापराधो यथा भवेत्॥१४५॥
अपराधेऽपि गणना नैव कार्या व्रजाधिप!॥
सहजैश्वर्यभावेन स्वस्य क्षुद्रतया च नः॥१४६॥

त्वदीयत्वं यन्नस् तदतिशयितं भाग्यमतुलं
समीपस्थानामप्यहह न विलासेक्षणमिदम्॥
अभाग्यं वात्युच्चं सपदि गणयामः किमधिकैर्
वचोभिः सर्वस्वं त्वमसि यदि गोविन्द! मनुषे॥१४७॥

न स्वाध्यायबलं न यागजबलं नो वा तपस्याबलं
नो वैराग्यबलं न योगजबलं नाप्युक्तभक्तेर् बलम्॥
नैव ज्ञानबलं न चान्यदपि यत्किंचिद् बलं मेऽस्ति कि-
न्त्वद्यश्वोपि यदातदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम्॥१४८॥
तुच्छीकृतास्त्वत्कृपातः पूर्वं कालादयो मया॥
स्मृत्वा तद्वैरमधुना बाधन्ते त्वत्कृपां विना॥१४९॥

यस्य देयो लोभएव तस्यौदार्यस्य का कथा॥
सर्वस्वदानशीलं तं चित्रं पात्रे परम्परम्[५१]॥१५०॥
ततः काचिदनङ्गाग्नितप्ता त्वां यदवीवदत्॥
मत्पुरस्तच्छ्रुणुष्वेति वद यादवपुङ्गव![५२]॥१५१॥

शिशिरत्वं शशिनस्त्वत्कृपावलोकनकृतं मन्ये॥
नो चेद् गतवति भवति प्रचण्डकिरणः[५३] कथं सपदि॥१५२॥

त्वदधरसीधुपानेन[५४] श्रीमुखाम्बुजशोभया[५५]
तुहिनकिरणस् तुच्छीभूतो बभूव पुरा[५६] प्रिय!।।
सपदि मम तद्वैरं स्मृत्वा शुशुक्षणिसंनिभैर्
[५७]मदनदहने दग्धं मेऽन्तः दुनोति निजांशुभिः।।१५३।।

स्त्रीरत्नहासप्रभयाखिलाङ्गे
तच्चुम्बनैस् तत्प्रतिबिम्बितैश्च।।
तासां कटाक्षैश्च चतुर्युगीय
रूपाणि धत्से क्षणशो व्रजेश!।।१५४।।

त्वमीश्वरोऽसींगितं[५८] ते क्षुद्रोऽहं किं वदामि हि।।
यादृशोऽसि हरे! कृष्ण! तादृशाय नमोनमः।।१५५।।

नाथेऽनुकूलतां याते सर्वं यात्यनुकूलताम्।।
तस्मिंस्तद्विपरीते तु सर्वमेव भवेत् तथा।।१५६।।

यदि प्रियसखीजनो मयि कृपां करोति स्वयं
विरुद्धशतमप्यहं न गणये तथापि क्षणम्।।
मनोरथलताश्रये व्रजवधूवृतेऽस्मिन्नपि
व्रजाधिपतिरेव मे शरणमस्तु दास्याः सदा।।१५७।।

स देशः कोऽन्वभूद् यत्र रमणं ते सखीजनैः।।
स कालोऽपि यदा तास्ते[५९] समाहूता स्ववेणुना।।१५८।।

"यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्" यमवादीदिति श्रुतिः।।
तं प्रपन्नस्य मेऽद्यापि कथं दुःखं न वेद तत्।।१५९।।

हरे! त्वन्नाम निर्वक्ति यथा श्रुतिरहं सदा।।

गृह्णामि यद् यदा नाथ तत् तथैवास्तु नान्यथा।।१६०।।

गणये कुचयोरेव त्वत्परायणतां प्रिय!।।
यत् करस्पर्श[६०] समयं ज्ञात्वैवास्तां बहिः स्फुटौ।।१६१।।

प्रादुर्भवति वकारस् त्वदधरपीयूषदशनसंयोगात्।।
तेनामृतबीजत्वं युक्तं प्राणप्रिये तस्य।।१६२।।

यथा - यथा प्रियापाङ्गशरपातस् तथा - तथा।।
तदाभिमुख्यं भजसे व्रजेश! क्षत्रियोऽसि किम्!।।१६३।।

प्रिय! त्वदधरामृतादतिविलक्षणा किं नु सा-
स्त्यहो नयननीलनीरजयुते मदीये तु यत्।।
यदैव मम लोचने त्वदधरं सुसङ्गच्छते
तदैव मधुपावृतो भवति नान्यदा सुन्दर!।।१६४।।

श्रुत्युक्ता सान्यथा नैव कर्तुं शक्येति चेत् तदा।।
कंसादिकालवच्छक्या तवैवेति वदाम्यहम्।।१६५।।

सुस्थिरे नीलजलदे स्थिरसौदामनीयुते।।
स्थिरं मनो यदि भवेत् स्थिरं भाग्यं तदैव हि।।१६६।।

[६१]शश्वत्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा।।
प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः।।१६७।।

।। अतिरिक्तश्लोकाः ।।

(एते श्लोकाः मुद्रिते न सन्ति किन्तु अन्यप्रतिषु उपलभ्यन्ते)

यदि त्वद्विरहे नाथ! न गता मेऽसवः किल।।

तदेदृशं मेऽस्ति दुःखं किं वच्मि निरपत्रपः ।।१६८।।

क्रीडांभोधौ विविधतरुणीविभ्रमापांगवीची -
संदोहान्दोलितनवनवस्नेहपूरार्द्रसर्वः ।।
अंभोजश्रीमदनमदहृत् त्वन्मुखाब्जावलोक-
प्रोद्यल्लज्जास्मितरुचिरयत्पूरयत्वाशिषं ते।।१६९।।

शास्त्रार्थतोऽपि महतामपि दुर्लभा ये
ते वैष्णवा न सुलभा न नच दुर्लभा मे।।
किन्तु व्रजेश! कुशलांकित - वागपीह
पांथोपि दुर्लभतरो विरहातुरायाः ।।१७०।।

नान्याधीनत्वमैश्वर्याद् दीनताधीनता परम्।।
तत्रापि त्वत्कृपाहेतुरेवं सर्वं त्वमेव नः ।।१७१।।

व्रजतरुणीकनकाचलोपमर्दे पुलकितोन्नतता।।
तनुता तदनुपमर्दे चित्रैषा तात! (?तव!) कथा नाथ!।।१७२।।

प्रायः प्राणैः सहैवायं प्रयास्यति मनोरथः ।।
तेऽत्रपा यदि तत्संगादयमप्यास तादृशः ।।१७३।।

साधनालभ्यतां स्वस्य प्रकटीकुरु मत्प्रभो!।।
निःसाधनत्वमन्यस्य मत्तोप्यधिकम् अस्ति किम्!।।१७४।।

श्रुतं यदेतत् प्रियविप्रयोगः शक्यो न सोढुं तदहं न जाने।।
अज्ञानमेवं वदतोऽथवा मे यतोऽन्यथा संप्रति दृश्यते तत्।।१७५।।

नवकुचकुंकुमचित्रप्रतिचित्रितपाणिपद्ममतिसुभगम्।।

कृपया कुरु मच्छिरसि त्वत्त्यागभयापहं क्व कृष्ण! ।।१७६।।

सुधांशुस्त्वद्वियोगाधिज्वरितः परितः प्रियः ।।
बभूवोऽस्मत्करस्पर्शो हुताशन इवापरः ।।१७७।।

पूर्वं विशोकः कोकोऽयं भवत्यंगारविभ्रमात् ।।
पुनः कलंकितं वीक्ष्य दुःखितो जायते निशि ।।१७८।।

ततो दग्धा निजं बालजनूषि कठुरांशुभिः(?) ।।
पुनर्मुकलितान्याशु जायंते हंत यादव! ।।१७९।।
किंवा सापत्न्यभावेन रमा प्रियतमा तव ।।
स्वसोदरेण चंद्रेण प्रापयत्यापदं स्त्रियः ।।१८०।।

इंदुरिंदीवरव्रातम् आनंदयति नांशुभिः ।।
नयनानि व्रजस्त्रीणां दुःखितानि करोति यत् ।।१८१।।
कुलवृद्धो यदि स्याद् नो तवैष यदुनंदन! ।।
तदास्माभिः क्षणेनैव नाशितः स्यात्सुधाकरः ।।१८२।।

आलंबितातिवैलम्व्यः कथंचिद् अथ चंद्रमाः ।।
अगाद् अस्ताचलं रक्तस्त्वद्वियोगदवाग्निना ।।१८३।।

अक्षमः कमलिनीपतिः व्रजं वीक्षितुं विरहितं त्वया ततः ।।
नोदयाद्रिशिखरं चिरं व्रजत्यंबुजप्रतिभटप्रभाम्बरः ।।१८४।।

हरिविरहदहनदग्धं दुनोमि किमहं निजांशुभिर्गोष्ठम् ।।
इति हृदि विचार्य सूर्यो नोदयशिखरं व्रजत्ययं भर्त्तः! ।।१८५।।

किंवा तव स्थितिमसावधुनापि घोषे

जानन् सहस्रकिरणः कमलालयेश!।।
भीतस्त्वया सह वियोगकृतेर् व्रजस्त्री -
व्रातस्य नोदयगिरिं व्रजति व्रजेश!।।१८६।।
त्वामाह्वयन् विकसदम्बुजनिर्गतालि
प्रोद्भूतझंकृतिरिवोर्ध्वकरो दिवेशः।।
उच्चैस्थितोदयगिरेः शिखरेधिरूढस् -
त्वद्दर्शनोत्सुकमतिर्भवति व्रजेश!।।१८७।।
त्वद्वियोगानलज्वालाजालारुणतरः प्रिय!।।
उदेति कमलाकांतसहस्रांशुः सुधांशुवत्।।१८८।।

श्रीमुखालोकनेंतःस्थप्रियत्य च बहिर्गतौ।।
पक्ष्मापकारोपकारौ निर्णेतुं नैव शक्नुमः।।१८९।।

अद्य श्वो वा परश्वो वा कदाचित्कृपयिष्यति।।
नाथ! इत्याशया सर्वं गतं जन्म करोमि किम्।।१९०।।

(मातृकासंग्रहः)

आ,ए = मुंबई विद्यापीठ - गुजरातीपत्र पुस्तकालय.
ई = अज्ञात. अंक-४२.
क = अज्ञात.
ज = मुंबई विद्यापीठ - गुजरातीपत्र पुस्तकालय. रामकृष्णस्य इदं पुस्तकम् क्र.नं-५०२७.
प = अज्ञात.
म = सं.१६००.
भा = भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान. लिखितं दवे हरिनंदाख्येणेयम्. क्र.नं. १७४/१८९२-९५

(पाठभेदः)

१. 'कृपालो यदि रोचते ते' इति मुद्रितपाठे. 'कृपालोरपि रोचते चेद्' इति आ, ज पाठयोः .

२. 'स्वम्' इति मुद्रितपाठे.

३. 'दावाग्निम्' इति मुद्रितपाठे.

४. 'अपिबदमिताऽसह्य...' इति मुद्रितपाठे.

५. 'यदर्थं' इति मुद्रितपाठे.

५अ. 'सहत्वं यत्स्वभावं' इति आ, ज पाठयोः.

५आ. 'तरामिह तरामिह' इति आ, ए, ज पाठेषु.

६. 'रटत्वेव' इति मुद्रितपाठे.

६अ. 'मुहुः मुहुः' इति आ, ज पाठयोः.

६आ. 'एकोऽपि' इति मुद्रितपाठे..

७. 'योन्तरंतश्चरति' इति मुद्रितपाठे.

८. 'त्वद्वाचोऽलौकिकत्वतः' इति मुद्रितपाठे.

९. 'त्वन्नामादि' इति मुद्रितपाठे.

१०. 'आचार्यचरणै' इति मुद्रितपाठे.

११. 'करोम्येवम्' इति मुद्रितपाठे.

१२. 'मा' इति मुद्रितपाठे.

१२अ. 'मय्यर्हसि' इति आ भा पाठयोः.

१३. 'यत्' इति आ भा पाठयोः.

१४. 'साधनप्राप्यतां' इति मुद्रितपाठे.

१५. 'नोचिता' इति मुद्रितपाठे.

१६. 'ते' इति मुद्रितपाठे.

१७. 'नु' इति मुद्रितपाठे.

१८. 'ते न पूर्णस्य' इति मुद्रितपाठे.

१९. 'च' इति मुद्रितपाठे.

२०. 'त्वदायत्तस्य तु' इति मुद्रितपाठे.

२१. ‘कृपया तव’ इति मुद्रितपाठे.
२२. ‘जीवितं’ इति आ पाठे.
२३. ‘पुरावत्’ इति आ,ई भा पाठेषु.
२४. ‘मनोज्ञभावाः’ इति मुद्रित भा पाठयोः.
२५. ‘सद्मनि’ इति ए भा पाठयोः.
२६. ‘यदिह’ इति मुद्रितपाठे.
२७. ‘नहि’ इति मुद्रितपाठे, ‘हिन’ इति भापाठे.
२८. ‘अतीते परं प्राणप्रिय’ इति मुद्रितपाठे. ‘अतीतायाम् अतिप्राणप्रिय’ इति आ पाठे.
२९. ‘जाने न शतधापन्नो’ इति आ, मुद्रितपाठयोः.
३०. ‘दुरधिगम्यवार्तः क्व वा’ इति मुद्रितपाठे.
३१. ‘यद्वृथा’ इति मुद्रितपाठे.
३२. ‘शक्ता’ इति मुद्रितपाठे.
३३. ‘प्रेष्ठावलोकनमये’ इति आ, प, मुद्रितपाठेषु.
३४. ‘बहुत्वेन’ इति आ, भा, मुद्रित पाठेषु. ‘प्रियत्वेन’ इति प पाठे.
३५. ‘न तु चातकः’ इति ई, म, मुद्रितपाठेषु.
३६. ‘तामनन्यं’ इति मुद्रितपाठे.
३७. ‘सनाथा कुरु’ इति प पाठे. ‘सनाथी कुरु’ इति ई, म, मुद्रितपाठेषु.
३८. ‘प्रियवदात्’ इति मुद्रितपाठे.
३९. ‘गोकुलाधीशः’ इति मुद्रितपाठे.
४०. ‘समुचितोऽन्यत्र तु परम्’ इति आ, मुद्रितपाठयोः.
४१. ‘सर्वसामर्थ्यसंयुता’ इति मुद्रितपाठे.
४२. ‘त्वदीयास्मि त्वदीयास्मि त्वदीयास्मि’ इति मुद्रितपाठे.
४३. ‘यादृशान् तादृशान्स्त्वं तु’ इति ई, ए पाठयोः. ‘यादृशां तादृशस्त्वं तु’ इति मुद्रितपाठे.
४४. ‘सर्वदेव नः’ इति मुद्रितपाठे.
४५. ‘त्वं तु’ इति मुद्रितपाठे.
४६. ‘उपक्षयैव’ इति मुद्रितपाठे.

४७. ‘भाविन्यैवान्यथा न हि’ इति भा, मुद्रित पाठयोः.

४८. ‘दोषे क्षयापेक्षा’ इति ई, क पाठयोः. ‘दोषक्षयोपेक्षा’ इति भा मुद्रित पाठयोः.

४९. ‘उपेक्षां किंनु’ इति मुद्रितपाठे.

५०. ‘करोषि वा’ इति मुद्रितपाठे.

५१. ‘सर्वस्वदानशीलत्वं चित्रं पात्रे परं परम्’ इति आ, क पाठयोः. ‘सर्वस्वदानशीलं तं चित्रं पात्रं परं परम्’ इति ई पाठे. ‘सर्वस्वदानशीलत्वं चित्रं पात्रपरं परम्’ इति मुद्रितपाठे.

५२. ‘यादवपुङ्गवम्’ इति मुद्रितपाठे.

५३. ‘प्रचंडकिरणाः’ इति मुद्रितपाठे.

५४. ‘त्वदधरसुधापानेन’ इति मुद्रितपाठे.

५५. ‘श्रीमन्मुखाम्बुजशोभया’ इति ई पाठे.

५६. ‘परम्’ इति मुद्रितपाठे.

५७. ‘मदनदहनो दग्धुं ह्येतद्’ इति मुद्रितपाठे.

५८. ‘त्वमीश्वरोऽसि गीतं’ इति मुद्रितपाठे.

५९. ‘नेस्ते’ इति मुद्रितपाठे.

६०. ‘त्वत्करस्पर्शे’ इति मुद्रितपाठे.

६१. ‘शश्वत्पिपासिता’ इति मुद्रितपाठे.

२. (स्वामिनीं प्रति विज्ञप्तयः)

॥ अतिरिक्तश्लोकाः ॥

(एते श्लोकाः मुद्रिते न सन्ति किन्तु अन्यप्रतिषु उपलभ्यन्ते)

गोपस्त्रीनयनाञ्जनं व्रजवधूनेत्रांबुजांर्गता
तारा तत्कुचचूचुकं मरकताकल्पः कुमारिहृदां॥
गोपिबाहुलतातमालविटपी तत्संगमाशावलद्-
वल्लीकल्पतरुः करोतु न चिराद् राधे! त्वदिष्टं हरिः ॥१॥

विधिनेदं साधुकृतं यन्निजवदनं न वीक्ष्यते सर्वैः ।।
नोचेद् राधे! भवतीमां कथम् अवलोकयेद् मुग्धाम् ।।२।।

उपमाः नयने प्राप्तुम् आयन्त्योजयिछलात् ।।
तटात्स्ववलं यः श्रीराधेय तन्न हासार्णवे कवेः (?)।।३।।

३. (सखीभाववतान् प्रति विज्ञप्तयः)

कस्याग्रे कथयाम्यालि! स्वमनोदुःखसन्ततिम्[१] ।।
व्रजाधीशवियोगाब्धिमग्नः कोऽपि न दृश्यते ।।१।।

सुभगाएवजानन्ति प्रियसौभाग्यजं सुखम् ।।
तद्धीनायास्तदीयेति प्रसिद्धिः शरणं सखि! ।।२।।
प्रियसङ्गमराहित्याद् व्यर्थाः सर्वे मनोरथाः ।।
निरपत्रपतासिद्ध्यै जीवामि सखि! साम्प्रतम् ।।३।।

अजनि रजनिप्रादुर्भूतं तमो विजना दिशस्
त्वमसि चतुरा चाहं सङ्गाभिलाषवती चिरात् ।।
तदपि तु यदप्राप्तिः प्रेष्ठस्यैतत् मया सुविचारितं[२]
प्रियसखि परिरम्भारम्भे विधेरविधेयता ।।४।।

त्वत्तो नान्याम् अहं पश्ये राधाबाधावरोधिनीम्[३] ।।
तत् त्वं यथैव मत्प्राणो मिलत्येव तथा कुरु ।।५।।

त्वदीयमधुसूक्तिभिर् व्रजजनेशसङ्गाशया
मनोजशरपीडिताः कथमपि स्थिता मेऽसवः ।।
अतः परम् अये! यदि प्रियतमाङ्गसङ्गो भवेत्
तदैव मम जीवितं विरहितादशाह्रीकरम्[४] ।।६।।

किं ब्रुवाणि सखि! प्रेष्ठविरहानलदाहिता।।
जीवामि यत्[५] तदेवात्र निरपत्रपतास्पदम्।।७।।

सख्येतल्लिखनीयं त्वयातियत्नेन राधिकानाथः।।
कृपयिष्यत्यथवा मन्मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः।।८।।

बलीयसी जीवनाशा गोपीशविरहेऽस्ति हि।।
साम्प्रतं मे त्वमस्येका यदार्तशरणा सखि!।।९।।

सखि बहुधापि निरुक्तश्चरणस्पृष्टोऽपि[६] जीविताधीशः।।
नो मनुते निजसङ्गममहह कथं तत्र किं कुर्मः[७]।।१०।।
सखि! त्वया महानेव प्रयत्नो मत्कृते कृतः।।
तथापि यत् तदप्राप्तिः तत्र ते किन्नु दूषणम्।।११।।
सखि स ऋतुः स च दिवसः सा घटिका हन्त सः क्षणः कोऽपि।।
भविता यस्मिन् व्रजपतिमादरपूर्वं समाश्लिष्ये।।१२।।
दधौ कमपराधं वा हृदये हृदयप्रियः।।
तन्न जाने यन्निजाङ्गसङ्गम् अङ्गीकरोति न।।१३।।
सखि! वद यादवपुङ्गवम् अतिचिरविरहादहानि गणयन्ती।।
प्रणयभुजंगमदष्टा त्वदधरसुधया परं जीवेत्।।१४।।
नान्यद् वक्तुम् अहं शक्ता किमपि प्राणवल्लभम्।।
जीयासुः परमम्भोजनेत्रापांगैश्चिरं[८] तव।।१५।।
कदाचिद् गोपीशः स्मरति यदि मामम्बुजदृशा(?!)[९]
सभायामत्यार्तिप्रणयभरसम्भावितहृदाम्[१०]।।
तदा मन्ये धन्ये! प्रियमुखसरोजं स्वनयनैः
कदाचित् पश्यामि प्रियविरहतप्तैरिति सखि!।।१६।।

तं न पश्यामि यः[११] श्यामसुन्दरं दर्शयेत् सखि![१२]।।
यद्वा हृत्तापहृत्कृष्णसन्देशं कथयेदपि।।१७।।

प्रतिक्षणनवं मुदा मुहुरहर्निशं यत् पिबस्ययि![१३]
प्रियमुखाम्बुजासवमतोऽसि धन्या सखि!॥
कदाचिददतिसुन्दरस्मितमुखः सुखेनास्थितो
भवत्सदसि मत्प्रियः स्मरति मां कृपावारिधिः॥१८॥

प्रियवदनाम्बुजदर्शनकातरचित्तां तथापि संविग्नाम्॥
तत्सखि! नो जानेऽहं किंनु विधास्यत्ययं प्रेष्ठः॥१९॥

किं बहुना सखि पान्थोऽपि प्रियतमवार्तासु[१४] विघ्नकर्तैव॥
तत्किं करोमि मग्ना दुःखाब्धौ तत् प्रियः[१५] शरणम्॥२०॥
प्रियनिकटे सखि! काचिद् यदि मां कृपया स्मरिष्यति प्रीता॥
तत्क्षणएव मनोरथनिचयान् प्राप्स्याम्यहं[१६] सत्यम्॥२१॥
परिजनहसनद्वेषैर् दुःखितमप्येतदातुरं चेतः॥
न जहाति तत्स्वभावं तत्साधु न वेति नो विद्मः॥२२॥
यावत् स्वकार्यं तावत्तु कृतमेव सखि त्वया॥
मद्भाग्योन्नतिकाले स स्वयं मे कृपयिष्यति॥२३॥
न सुषमा परमा[१७] नच चातुरी
नच[१८] मनोभवयुद्धविदग्धता॥
न मधुरोक्तिरथो न रसश्च कोऽ-
प्ययि कथं भविता प्रियसङ्गमः॥२४॥

रतिपतिमङ्गलकलशौ कुचकुम्भौ मीनकेतुरसपूर्णौ॥
कमलावरकरकमलास्पृष्टौ[१९] भवतो[२०] वृथैवेमौ॥२५॥
गता बुद्धिः शुद्धिर् जगति विरुणद्धि स्वपतिर-
प्यये लज्जा गुर्वी गुरुपतिसुतानां न गणिता॥
यदर्थं तत्सङ्गः सखि न भविता यद्यचिरतस्
तदा नाहं पश्याम्यहह मरणाद् अन्यदरणम्॥२६॥

वरं नेत्रे मुद्रा न पुनरितरालोकनमपि
वरं शून्यारण्ये स्थितिरिह वरं नान्यमिलनम्।।
वरं मूकीभावो न पुनरपरा काचन कथा
वरं प्राणत्यागः क्षणमपि न तत्सङ्गविगमः ।।२७।।

स कोऽपि सखि! सानन्दनन्दाद्युत्सङ्गलालितः ।।
करोति सुषमासीमा मन्मथोन्मथिता दिशः ।।२८।।

पुरोवातप्रावृट्समयविरहे मेघविरहात्
सुतप्ताहं गन्तुं पदमपि न शक्ता तदिह चेत्।।
समानो यो मेघः पुनरपि कृपाशक्त्यखिलकृत्
ततो मामेव त्वं नय निजगृहं तस्य झटिति।।२९।।

अपि कापि सापि सम्प्रति वरीवर्ति सखि व्रजाधिपप्राणा।।
या नन्दसूनुमुरलीतरलं चेतः समादध्यात्।।३०।।

आविर्भूतानुरागो किंवानंगनवाङ्कुरः [२१] ।।
समुच्चयपदं वेति न स निश्चयभूरभूत्।।३१।।

किं नाश्रावि त्वया वेणुस्वरः स्मरविकस्वरः ।।
सदागतिगतिस्तम्भो नगस्थिरगतिर् यतः ।।३२।।

स्वविश्रान्तिस्थानं त्रिजगति विचिन्वन्त्यतिचिराद्
अतिश्रान्ता शीतानिलमभिलषत्यालिसुषमा।।
निवासं [२२] नासायामकृत तदयं स्वेदजकणस्
त्वदग्रे मुक्तावद् विधुमुखि! चकास्ते पिपतिषुः ।।३३।।

मुहुर्गतागतज्ञातस्नेहभावेषु तत्कणैः [२३] ।।

व्याप्तेष्वात्मादिषु व्रीडा मृद्वी तिष्ठेत् कथं वद॥३४॥

सख्या दिवाम्बुजाश्लिष्टप्रियापाङ्गैरिवार्चितः॥
परिधाय बभौ नीलकञ्चुकं गोपिकापतिः॥३५॥

॥ अतिरिक्तश्लोकाः ॥

(एते श्लोकाः मुद्रिते न सन्ति किन्तु अन्यप्रतिषु उपलभ्यन्ते)

स्वप्नप्राप्तगते कान्ते निद्रापि प्रस्थिता हृदः॥
साक्षाद् व्रजेशविरहे जीवः तिष्ठति मन्दधीः॥३६॥

वियोगस्वप्नसम्प्राप्तप्रियसंयोगजसुखम्॥
किं-कस्मै वच्मि नैवास्ति रसिको मत्प्रियं विना॥३७॥

किन्तु विज्ञापयाम्यालि! दुःखिता दुर्भगाधिका॥
स्मार्याऽहं गोपिकाधीशं कटाक्षैः सिक्तया त्वया॥३८॥

विना गोवर्धनाधीशं पतिं तापसहस्य मे॥
दुःखसन्तानसंच्छेत्ता नास्त्येव हि दयानिधि!॥३९॥

चिरं विरहदावाग्नि-दग्धान्याङ्गान्यहर्निशम्॥
सिञ्च मे सखि! गोपीशसुनीलजलदोक्तिभिः॥४०॥

व्रजेशाङ्गवियोगेऽपि जीवितास्मीति लज्जया॥
न त्वां[२४] विरहजं दुःखं सखि! वक्तुं क्षमास्म्यहम्॥४१॥

व्रजाधीशवियोगेन क्षणं स्थातुं न पारये॥
शरणं मे त्वमेवालि! विचारय करोमि किम्॥४२॥

श्रीगोकुलेशपदपद्मवियोगितायाः
शान्तिर् नचास्ति सततं मम दुर्भगायाः ।।
एतद् विचिन्त्य सुभगे! कुरु तद् यथैव
शीघ्रं करोति हि कृपां मयि जीवितेशः ।।४३।।

ईषन्मुकुलितनयनं जृंभन् राधाभयेन रत्यंकान् ।।
संगोपयन्नुदारः शमयत्वाधिं सरोजाक्ष्याः ।।४४।।

आसारपीडितनिजव्रजरक्षणाय
लीलाधृताचलशिरोमणिरार्द्रचित्तः ।।
कुर्यान् मनोरथशतं परिपूर्णमेनं
तापं हरत्वचिरतः सखि! राधिकायाः ।।४५।।

कलिंदतनयातटोन्मदमधुव्रतास्वादित-
प्रसूननवपल्लवाञ्चितमनोहराकल्पकः ।।
स्फुरन्मुरलिकाकलस्वनविमुग्धगोपीजनो
मनोरथशतं हरिः सखि! करोतु पूर्णं तव ।।४६।।

कुंचिताधरमुदंचितदृष्टिः
त्वां त्रपार्द्धनतसस्मितदृष्टिं ।।
कामभावचपलः सखि!
चुंबत्वच्युतः सचिबुकग्रहमुच्चैः ।।४७।।

चिरसंचितभाग्यैर् निजपतिपरिरंभेऽत्र राधायाम् ।।
अचिरेण चान्तरायान् हरिर् विहन्याद् नखराजिर्यः ।।४८।।

क्वचित् क्रीडापुष्पावचयमपिच क्वापि शयन-
स्रजां निर्माणं क्वाप्यधरमधुपानं क्वचिदपि ।।

क्वचिद्गानं प्रेष्ठासंनिहितभुजः सूर्यतनया-
तटे कुर्वन् कृष्णः स्खलितगतिरेनां सुखयति।।४९।।
ततो मुक्त्वा नीविं तदनुगुणभूषामपि तनू-
त्तरीयं प्रेष्ठायाः सुमुखि! परिधाय प्रियतमाम्।।
विहारान् श्रीकृष्णः कुचविलुलितस्रक्प्रियतमा -
भुजाश्लिष्टो मत्तद्विरदइव चक्रे निजवने।।५०।।
सहासभाषणामोदमदांधमधुपावृतः।।
न वेणुं पूरयत्येष किन्तु मामधरामृतैः।।५१।।

मामेवाधरसिधुना मुरलिकाव्याजात् प्रियः पूरयन्
चेतोऽपि व्यवधायकं वरतनोर्मा ब्रूहि हेत्यएवपि (?)।।
यच्चेतो हृतवान् स्वयं निजरसं चापूरयन् तेन
मे तद्भावस्तु सुदुर्निवारतरणवायं(?) करोम्यालि! किम्।।५२।।

आस्तां तावदनंगकोटिमदहृत्प्रत्यंगवार्ता हरेः
संस्थानं किमु वर्णयामि सुखमाधाम त्रिभंगस्य यत्।।
मद्रष्टेर् वपुषो विवेकमनसोर् मन्ये गतीनामयं
भंगः प्रादुरकारि कोऽपि विधिना येनाहम् एतादृशी।।५३।।

कथमिय[२५] मधुनाश्वसिति व्रजनाथोक्तावधावतीतेऽपि।।
संगाशयेति यदि नो विरहव्याधेर्बलिष्ठत्वात्।।५४।।

कदाचिच्चेत् पश्येन्निजवदनचंद्रं व्रजपतिस्
तदा स्त्रीभावात् तदसमशराग्नेः किमु भवेत्।।
....
..............................।।५५।।
(इह श्लोकः त्रुटितः इव भाति)

गिरिच्छत्रेणदृक्पातचामरैः स्नेहवारिभिः ।।
केवलं स्वीयताराज्यम् असिंचद् व्रजमीश्वरः ।।५६।।

पशुपराजसुदुर्ललितः सुतो व्रजवधूजनजीवनमित्यपि ।।
व्रजनिकुंजविहारमनाः स्वयं प्रसभम् आश्वसनेन हि वंचिता ।।५७।।

विधिरपि विरोधशीलः किमुत जनास्तत्र किं ब्रुवेऽहं ते ।।
सखि! तेंऽगीकारो यः सएव शरणं ममार्त्तायाः ।।५८।।

मेघाछन्ने सवितरि तत्करसंस्पर्शरहितापि ।।
मुदिताया नलिन्यास्ते स्वनाथसमुन्नतेरेव ।।५९।।

कोकिल! निजवर्णाम् एत्यनिशं यदि ते कुहुरावैः ।।
किंन्न यशोदानंदनरावं करोष्युदारम् ।।६०।।

मनोमयोऽयं सखि! पद्मलोचनो
मनोहरोऽस्मन्मनसामपि स्फुटम् ।।
अस्यापि काचिद् व्रजसुन्दरीमनो
वशेकरोतीति महान् हि विस्मयः ।।६१।।

वदामि किमतोधिकं यदिह गोकुलेशं विना
परं किमपि मा मनस्स्मरति चक्षुषी पश्यतः ।।
श्रुती च (?श्रुतिश्च!) शृणुतोपि न स्पृशति च त्वगेषा वचो
वदत्यहह सांप्रतं बहु तदेव मे बिभ्रतः ।।६२।।

भवेदुचितमेव मे निजकृतानुरोधाच्चिरम्
यदेतदवलोकये प्रभुपदाब्जमस्मिन् भ्रमन् ।।
तथापि निजवल्लभः करुणया कृतानुग्रहाद्

मनागपि न मां कथं स्मरति मद्विधालोकने।।६३।।

कश्चिदेतादृशोऽप्यस्ति पदार्थो येन कस्यचित्।।
सुगोप्याज्ञामनुज्ञां वा मन्यते नाप्यपेक्षते।।६४।।

रतिश्रमशयानयोरलसलोचनांभोजयो:
कलं किमपि कूजतोरभिमुखं मिथ: सस्मितम्।।
रतांकभरितांगयोर्मिलितजानुसंवाहने
पदांबुजतलानि मद्हृदि लुठंतु राधेशयो: ।।६५।।

केलिश्रांतशयानश्रीराधाश्रीपदसरोजानि।।
कृपया मदुरसि कृतानि कदानु संलालयिष्येऽहम्।।६६।।

तरणिकरणिकामिमां हिमांशो -
श्चरणततिं सखि! पंकजानि मत्वा।।
त्वरितविकसितानि संप्रति त्वन् -
नयनसमानि भवंति यादवेंद्र! ।।६७।।

व्रजवल्लवीसमूहस्याधरपीयूषपूर्णवदनानि।।
परिशोषयन् शशांकभर्त्त: ! स्वामिन्यासीत् सुधांशुशर्मायम्।।६८।।

कदाचित्कालिंदीपुलिननलिनालीषु चतुरा
सलीलं पश्यन्ती निजवदनसाम्यं व्रजवधू: ।।
स्मरस्मेरं वक्त्रं नयनयुगमंभोजसुषमं
तमालश्यामांगं दधतमचिरादैक्षत हरिम्।।६९।।

रससरोजविनिर्मितविभ्रम -
स्फुटतरंगविलोलविलोचनै: ।।

कमल-कामजय-स्मरघूर्णितैः
व्रजवधूः हरिमाकलयत् चिरम्।।७०।।

मुरारिसुषमाम्बुधिप्रतिनिजांगरूपामृतं
स्फुरद् भ्रमरभंगुरागतिरभू कृशांगीदृशः।।
मनोनयननीरजद्वयतरिस्थमप्युत्सुकं
निमग्नम् अभवत् तया सह महद्विहारभ्रमात्।।७१।।

अनुविस्मयानुरागः समजनितेनाशु गोपगेहिन्याः।।
लोचनकुवलययुगलेऽप्यतिरागोऽभूद् जितांभोजे।।७२।।

कृपयति यदि[२६] राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर् मे।।
वदति यदि कथञ्चित् स्मेरहासोदितश्री-
र्द्विजवरमणिपंक्त्या[२७] मुक्तिशुक्त्या तदा किम्।।७३।।

अधरांजनदीप्तिमत्सुनासापुट -
मुक्ताफलभूषणं तवास्यम्।।
सदृशं भवतीति सोऽपि(!?)[२८] गुञ्जाफल -
मुच्चैर् उरसि प्रियो[२९] बिभर्ति।।७४।।

रूपं तवैतदतिसुन्दरनीलमेघ -
प्रोद्यत्तडिन्मदहरं व्रजभूषणाङ्घ्रि !।।
एतत्समानमिति पीतवरं दुकूलम् -
ऊरावुरस्यपि बिभर्ति सदा स नाथः।।७५।।

विरहेणाऽतितप्तां मां स्मरेत् चेत्/स्मरंश्चेत् प्राणवल्लभः।।
तदाऽतिद्विगुणं दुःखं सोढूं नैवाऽतिपारये।।७७।।

(पाठभेदः)

१. ‘मनोदुःखस्य सन्ततिम्’ इति मुद्रितपाठे.
२. ‘प्रेष्ठस्य मे सुविचारितं’ इति मुद्रितपाठे. ‘प्रेष्ठस्यैतत् मया’ इति आ,म पाठयोः.
३. ‘प्रपश्यामि राधाबाधाविरोधिनी’ इति मुद्रितपाठे.
४. ‘विरहितादशाहृत्करम्’ इति मुद्रितपाठे.
५. ‘यज्जीवामि’ इति मुद्रितपाठे.
६. ‘निरुक्तश्चरणपृष्टोऽपि’ इति मुद्रितपाठे.
७. ‘कुर्वे’ इति आ पाठे.
८. ‘पांगाश्चिरं’ इति मुद्रितपाठे.
९. ‘मामम्बुजदृशां’ इति मुद्रितपाठे.
१०. ‘सम्भावितहृदम्’ इति मुद्रितपाठे.
११. ‘यः’ इति भापाठानुसारेण, ‘यम्’ इति मुद्रितपाठे.
१२. ‘सखी’ इति मुद्रितपाठे.
१३. ‘पिबस्यपि’ इति आ पाठे. ‘यत्पिबस्ययि’ इति मुद्रितपाठे.
१४. ‘पांथोप्येऽतद्वार्ता स’ इति मुद्रितपाठे.
१५. ‘तत्प्रियः’ इति मुद्रितपाठे.
१६. ‘पश्याम्यहम्’ इति मुद्रितपाठे.
१७. ‘न सुखमाप रमा’ इति मुद्रितपाठे.
१८. ‘मयि’ इति मुद्रितपाठे.
१९. ‘कमलावरकरकमलस्पृष्टौ’ इति मुद्रितपाठे.
२०. ‘भवता’ इति मुद्रितपाठे.
२१. ‘आविर्भूतानुरागा किं वा नगनवाङ्कुरः’ इति मुद्रितपाठे.
२२. ‘शनैर्या’ इति मुद्रितपाठे.
२३. ‘स्नेहाभावेषु तत्कणैः’ इति ए, क पाठयोः. ‘मुहुर्गतागतज्ञानस्नेहभावेषु तत्किणैः’ इति मुद्रितपाठे.
२४. ‘तत् त्वां’ इति ई पाठे.

२५. 'कथमिह' इति ई पाठे.
२६. 'यदि कृपयति' इति मुद्रितपाठे.
२७. 'श्रीद्विजवरमणिपंक्त्या' इति मुद्रितपाठे.
२८. 'गोपी' इति मुद्रितपाठे.
२९. 'मुक्ता उरसीन्द्रिये बिभर्ति' इति मुद्रितपाठे.

४. (निजजनान् प्रति विज्ञप्तयः)

ज्ञानिनो विगतरागिणो मनो -
रोधका वदत बोधका नृणाम्॥
प्राप्तमुक्ति - हरिभक्तयोऽस्ति
किं गोत्रनाथचरणं विनारणम्॥१॥
गोवर्धनाचलशिरोमणिरेष यावन्
मत्स्वामिनीहृदयकुङ्कुमपङ्किलाङ्गः॥
मन्मूर्ध्नि मद्धृदयपङ्कजमण्डलेषु
संशोभते न भयमस्ति कुतोऽपि तावत्॥२॥

कथं स भुंक्षे सस्नेहम् अद्य त्वं प्रत्यहं यथा॥
इति पृष्टस्मितः पातु हरिश्चौर्यभुजिस्मृतिः॥३॥
किमिदं कुरुषे वत्स मृत्सा संवृन्मुखाम्बुजम्॥
स्वलङ्कृतं गन्धतैलकज्जलैः कञ्जलोचनः॥४॥

किं त्वया मृग्यते कुञ्जे तमःपुञ्जेऽम्बुजेक्षणे॥
त्वन्मनोमणिहर्ता यः स इदानीं वनान्तरे॥५॥

करोति कमलाकान्तः कामिनां करुणाकरः॥
यत्कृतं विकृतं नैव कदाचिदपि कस्यचित्॥६॥

सोऽस्मान् अवतु सर्वत्र ददात्वभिमतं सदा।।
यः प्रार्थितो भक्तजनैः पपौ वह्निं दधौ गिरिम्।।७।।

प्रायः सत्पात्रतोत्कर्षो यल्लोभो यदुदारताम्[१]।।
दातर्यप्यतएवासीद् अनन्ते देयमुत्तमम्।।८।।

श्यामकञ्चुकनिदर्शनेन मन्मानसेऽप्यणुतरेऽपि महान् सः।।
गोकुलैकजनजीवनमूर्तिर्मास्यति स्वकृपयैव कृपालुः।।९।।

राधागुणैः सहाविष्टे माधवान्तर्हृदि स्मरे।।
तत्र गन्तुम् अशक्तं तद् यानं कर्णावलम्ब्यभूत्।।१०।।

।। अतिरिक्तश्लोकाः ।।

(एते श्लोकाः मुद्रिते न सन्ति किन्तु अन्यप्रतिषु उपलभ्यन्ते)

रसिकाएव जानन्ति गोपीशप्रेमजं सुखम्।।
अहो[२] विरहजं दुःखं श्रुत्वा कातरतांगताः।।११।।
कलिंदकन्यकाकूले मूले कनकशाखिनः।।
अस्ति सर्वेन्द्रियास्वाद्यं ब्रह्मामृतम् अनावृतं।।१२।।

तरंगोत्क्षिप्तमोक्षेषु पंचाध्यायीरसाब्धिषु।।
पुनरुत्थानरहितं चित्रं बिंदौ निमज्जनम्।।१३।।

भाग्यैरंकुरितं महीमृगदृशाम् आकल्पम् आसिंचितैः
प्रेम्णा कंदलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतम्।।
लोल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितं
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृंगारकल्पद्रुमम्।।१४।।

।। परिशिष्ट: ।।

(श्रीमत्प्रभुचरणलिखितेषु पत्रेषु उपलभ्यमाना: एता कारिका: प्रमादाद् विज्ञप्तौ प्रक्षिप्ता: सन्ति - सम्पादकीय:)

सर्वे परिगृहीता: स्मो गोकुलस्वामिना वयम्।।
न त्यक्ष्यति दयासिन्धुर् अस्मान् अन्यायिनोऽपि हि।।१५।।

स्वकृत्याभी: भवत्येव[३] तथापि करवाणि किम्।।
तथापि गतिरस्माकं सएवेति न भीरपि।।१६।।

यथा वयं तदीया: स्म: तथा सोऽपि निसर्गत: ।।
अस्मत्प्रभुरतश्चिन्ता[४] नैहिके पारलौकिके।।१७।।

चिकीर्षितं कारयित्वा शीघ्रमानेष्यति प्रभु: ।।
अस्मान् अतो न चिन्ता व: कार्या सर्वात्मना प्रिया: ।।१८।।

एतेषाम् अहमेवास्मि सर्वस्वम् अति सुन्दर:[५]।।
जानात्यस्माकमज्ञानेऽप्यत: कर्ता स्वतोऽखिलम्।।१९।।

अङ्गीकृतजनजनिताऽपराध - कूटक्षमाविनोदोस्य।।
अङ्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु कोऽन्योऽस्य साम्यमियात्।।२०।।

विजातीयजनाक्रान्ते निजधर्मस्य गोपनम्।।
देशे विधाय सततं स्थेयम् इत्येव भासते।।२१।।

निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत्।।
प्रावाहिकास्तेऽपि चेत् स्युरुपेक्षैवोचिता तदा[६]।।२२।।

भगवत्पदपङ्कजरागजुषो नहि युक्ततरं मरणेऽपि तराम्॥
इतराश्रयणं गजराजगतो नहि रासभमप्युररीकुरुते॥२३॥

(पाठभेदः)

१. 'यच्छोभाऽयादुदारताम्' इति मुद्रितपाठे.
२. 'अन्ये' इति प पाठे.
३. 'स्वकृत्याभिर्भवत्येव' इति मुद्रितपाठे.
४. 'अस्मात्प्रभुरतश्चिन्ता' इति मुद्रितपाठे.
५. 'सर्वस्वमिति सुन्दरम्' इति मुद्रितपाठे.
६. 'यदा' इति मुद्रितपाठे.

५. (विज्ञप्तिषु प्रक्षिप्ताः कारिकाः)

(विज्ञप्तावेव अन्यस्य कस्यचित् प्रक्षिप्तेइवाभातः कारिके - सम्पादकीयः)

ज्ञानेन साधनैश्चान्यैः शून्यान् अस्मान् मुदा स्वयम्।।
अनुगृह्णाति सोऽस्माकं प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः।।१।।
एके कर्मप्रवृत्ताः सततमिह परे भक्तिपूर्णार्द्रचित्ताः
केचिज्ज्ञानैकवित्ताः प्रभुचरणनमस्यार्तवृत्तौघवित्ताः।।
तत्तन्निष्ठाविहीनं जगदुदधिपयः संसृतौ दीनमीनं मा
कश्चित् कृष्णहेतुः कृपयितुमिह ते वल्लभीया ममेति।।२।।

(भाण्डारकरपाठे इदम् अधिकम्.)

सुस्थिरे नीलजलदे स्थिरसौदामिनीयुते।।
स्थिरं मनो यदि भवेत् स्थिरं भाग्यं तदैव हि।।१।।
अद्य नीलकंचुकं परिहितम् अस्ति तच्छोभा दृष्टैरेवोपपद्यते।।२।।
पृथ्वीतावदियं महत्सु महती तद्वेष्टनं वारिधिः-
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।।
तद्विष्णोर् दनुजाधिनाथदमने पूर्णं पदं नाभवत्-
सोप्यंतस्तव चेच्चकास्ति भगवांस्त्वत्तो महान् नापरः।।३।।

(भाण्डारकरपाठे प्रथमात्मजानां श्रीगिरिधराणाम्)

अपराधघनोन्मुक्त - चिन्तासारातिपीडितम्।।
को मां त्रातुं क्षमः श्रीमद्गोवर्द्धनधरं विना।।१।।
चिन्तान्धकूपे पतितं कालव्यालमुखे गतम्।।
को मां त्रातुं क्षमः श्रीमन्नवनीतप्रियं विना।।२।।
संसारसागरे मग्नं कालग्राहमुखे गतम्।।
विना श्रीमथुरानाथं को मां त्रातुं क्षमः प्रभुः।।३।।

(पुष्टिभक्तिसुधायाम् प्रथमात्मजानां श्रीगिरिधराणाम्)

(पुष्टिभक्तिसुधा : वर्ष.६, अंक ७-८)

शून्यं ज्ञानेन पूर्णं मां पूर्णज्ञानेन यः स्वयम्।।
कृतवान् कृपया पूर्णं तस्मै पूर्णात्मने नमः ।।१।।
दक्षिणेन करेणासौ मुष्टीकृत्य मनांसि नः ।।
वामं करं समुद्धृत्य निह्नुते पश्य चातुरीम्।।२।।
आन्दोलयति गोविन्दं तद्गतमानसा।।
शोभां तनोति रुचिरां मानमानापनोदयोः ।।३।।



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ शयनारार्तिकार्या ॥

शरणागतदीनदयैकपरे परपक्षतमोनिकरांबुहरे ॥
हरशक्रविरंचिविमोहकरे करलालितघोषवधूहृदये ॥१॥

हृदयस्थितबालकपुष्टितरे रतरंजितगोपवधूनिचये ॥
चयसंचितपुण्यनिधानफले फलभक्तिरसप्लुतपुष्टिनिजे ॥२॥

निजमात्रसमर्पितभागपरे परमातृसुवारितदीपभरे ॥
भरभावितभक्तिरसैकतरे तरलोलविमोहितनेत्रवरे ॥३॥

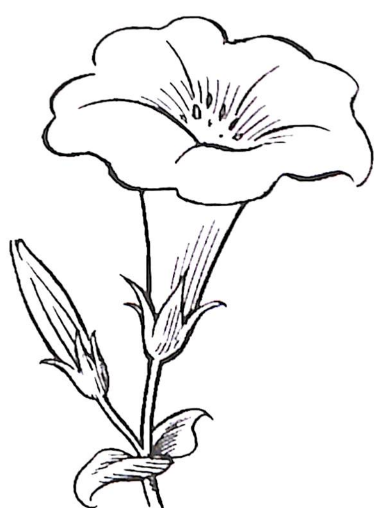
वरवल्लभदर्शितपूररसे रसविह्वललालितपादयुगे ॥
युगभीतिनिवर्तकधर्मरतौ रतिरस्तुममव्रजराजपतौ ॥४॥

इति कस्यचिद् शयनारार्तिकार्या
समाप्ता

(मातृकासंग्रह)

१. गोस्वामि श्रीश्याममनोहरमातृकासंग्रह





।। सम्पादनोत्तरोपलब्धाः ।।

।। विज्ञप्तयः ।।

।। स्वामिनीं प्रति विज्ञप्तयः ।।

इयं राधा राधा रटतु रसना नान्यदपरं
समाधिर्मेराधे तव चरणयोरस्तु मनसः ।।
इदं चक्षुर्युग्मं किमपि करुणापांगलहरी-
सुधाभिः सौभाग्यं परममभिषेकस्य लभताम् ।।१।।

त्वमेवासि प्राणाः(प्राणः!) त्वमसि परमं जीवितधनं
त्वमेव प्रत्याशं पदिपदि दृशोरेव रमसे ।।
त्वदीयाहं प्राणेश्वरि! चरणदासीति करुणा-
कटाक्षैरासिंच प्रचुरपरितापप्रशमनैः ।।२।।

दृगन्यन्नोपैति स्पृशति च मनो न त्वदपरं
रसज्ञा नैवान्यं रसयति रसं स्वामिनी! मनाक् ।।
भवद्द्वारा वा हि प्रभवदमलध्यानरभसाद्
भवित्री श्रीराधे! क्व गतिरिह कीटभ्रमरिका ।।३।।

रसज्ञाया दृष्टिर्न च नयनयोरस्ति रसना
यथावत्सौन्दर्यं कथमिति निरूप्यं तव भवेत् ।।
गुणानां यो राधेऽवधिरपहतो यत् तव हृदि
त्वयं नाम्नामालीर्जपति वनमाली निधिमिव ।।४।।

निमग्नाऽसं राधे परमहमगाधेऽन्धतमसि
तमस्तद्विध्वस्तं समजनि पुनःस्तम्भनमपि ।।
यदि त्वतपादालंकृतिरुचिविशालं स्फुरदिदं
नखज्योत्स्नाजालं सदपि हृदयालम्बनमभूत् ।।५।।
यदालंभि स्वान्ते पदकमलकेलीनिलयता
तदारभ्यैवासीन्मम नयनयोः काचन तृषा ।।

तदत्राविर्भूय स्वजनकृपया स्वामिनी! सखी-
मपागैरासिंच स्मितलहरिलीलातिललितैः ।।६।।

त्वयैवेतच्चित्तं निजचरणसंचारसुभगं
कृतं पूर्वं पश्चादिह रसिकचूडामणिरपि।।
कृपां चक्रे स्वामिन्यथ नयनयोराविरसि चेत्
क्रमात् सोऽपि प्रेयात् सुमुखि! समुपेष्यत्यनुदितम्।।७।।

सदा ते संकल्पः सुतनु भवदाकल्प करणे
तदंगीकार्या चेत्सकृदपि कृतार्थैव तदहम्।।
इदं श्रुत्वा स्वामिन्यवकलय हास्यं न करवै
यशस्यं मे दास्यं त्वमपि न करं दास्यसि मम।।८।।

न सख्यस्ते राधे! कतिकति परिष्कारकुशला
व्रजाधीशस्याहं तव पदकयोरस्म्यनुचरी।।
स च त्वं प्रत्यंगं मनसि च न मेनेऽधिवससी
त्यभिज्ञांगीचक्रे निजचरणदास्ये तव सखाम्।।९।।

त्वमेकस्मिंश्चन्द्रावलिरितरतो मध्यमुभयोर्
व्रजाधीशोऽध्यास्ते मनसि मुरलीनादमधुरः।।
तथाविर्भूयास्त्वं मम नयनयोः स्वामिनी यथा
तयोः प्रादुर्भावो न भवति तवाधीनगतयोः।।१०।।

व्रजाधीशश्चन्द्रावलिमनुदितं हंत भजते
त्वर्थं सा त्वं मा निजचरणदास्ये च कुरुषे।।
तदानीं प्राणेशात् कथय किमिव स्वामिनी भवेद्
दुरापं सौभाग्यं तव चरणदास्यादपि परम्।।११।।

तदीयाया सख्यस्तव चरणदास्याय सततं
स्पृहावत्यः प्राणेश्वरि! यदपि कृष्णं कृपयति।।
त्वदीयायां दास्यां कृपयति यदि त्वत्प्रियतमः
तदा मे सौभाग्यं भवति वचसां कल्पविषयाः।।१२।।

"रसो वै सः" श्रुत्या स तु रसवपुः सर्वविदितो
विभावस्तस्य त्वं प्रभवसि परं कापि न परा।।
तदत्र प्रत्यक्षं मयि चरणदास्यं करुणया
यदाविर्भूयास्तद्विजितमनया स्वामिनी! जनुः।।१३।।

स्मितैर्मुक्ताहारैः शरदमलराकेशकिरणैः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालांशुकरुचिभिरव्यक्तवपुषः।।
व्रजन्त्याः कालिन्दीपुलिनमनुयास्यामि पदवीं
मुरारेः श्रीराधे क्वनु परिमलैस्तेऽङ्गपिशुनैः।।१४।।

दृशौ रूपं प्राणप्रियतमहृदि प्रेम परितो
विचिन्वन्न प्रापं क्वचिदपि परं का रसकथा।।
त्रयाणां त्वं राधे! सदनमधिदेवीति शरणं
प्रपन्ना प्रातर्मां स्नपय करुणापाङ्गरुचिभिः।।१५।।

प्रसीद श्रीराधे! निजचरणदास्यं त्वमधुना
विना तेऽङ्गीकारं न खलु परितापप्रशमनम्।।
व्रजाधीशः स्वामी तव जलदनीलो गुणनिधिः
कृपाशीलः सोऽपि प्रभवति मम स्वामिनी! मनाक्।।१६।।

प्रकाश्य स्वान्ते मे किमपि किल बिम्बाधरगिरां
रहस्यं स्वीकारः स्फुटतरतयैव प्रकटितः।।
परं प्रार्थ्यं भूयो यदिह तव लीलानुसवनं

तवैव श्रीराधे! हृदयकमले देवि! लसतु।।१७।।

मुदा दर्शंदर्शं प्रियमुखमपाङ्गैः स्मितमुखी
वितन्वानः कश्चित् कुसुमशरसूक्तिरिव कथाः।।
तदंसे विन्यस्य स्वभुजलतिकापाशयुगलं
सुधेव श्रीराधा शिशिरयतु मे लोचनयुगम्।।१८।।

दधाना दोर्दण्डद्वयमधि निजस्कन्धयुगलं
प्रियस्य श्रीराधा स्रजमिव नवेन्दीवरमयीम्।।
विशन्ती ताम्बूलं वदनकमले तस्य मधुर-
स्मितं नृत्यं नासाभरणमणिरास्तां मम गतिः।।१९।।

किमद्येदं गण्डस्थलमभिनवाकल्पललितं
न किंचिद्वेत्येवं प्रियमनवधानं विदधती।।
गृहीत्वा हस्ताब्जात् सपदि मुरलीं कुंजमपरं
कृतार्थीकुर्वाणा कृपयतु कटाक्षैर्मयि चिरम्।।२०।।

कटाक्षैः प्रेक्षंती यदि तमनुधावंतमसकृत्
परावृत्य स्मेरं स्मरजयपताकेन तरला।।
निगृह्य द्राग्वंशीप्रकटितकरांगुष्ठरुचिरा
विशंति कुजान्ते दिशदिशि दृशोरस्तु विषया।।२१।।

क्षणंचानुभ्राम्यत्प्रियकरमिलन्मंजुलपटी
कुटिरे कुर्वाणा नवधतडिन्मण्डलमिव।।
तमालान्तःस्फूर्जत्कनकलतिकाकान्तिमसकृत्
निरस्यन्ती राधा मम नयनयोरस्तु कलिका।।२२।।
अलंकुर्वाणा कं निजकचकलापं ग्रथयतः
(प्र!)सूनैः कान्तस्याननमभिमुखन्यस्तकुहरे।।

मुहुः पश्यन्ती सा विकसितमुखी कुंजभवने
सदैव श्रीराधा मम नयनयोरेव रमताम्।।२३।।

स हि प्राणाधीशस्तव यदि गुणग्रामगणनां
न कुर्वाणो गच्छत्यवधिमतिकालं गुणनिधिः।।
वराकी का वाहं किमिव कथयामि स्वशरणाम्
अवेत्य श्रीराधे! कथय करुणापाङ्गरुचिभिः।।२४।।

शरीरप्राणात्मेंद्रियसुतकलत्रैहिकपदम्
समर्प्येयं सर्वं किल विनिहिता वल्लभवरैः।।
इति स्मारंस्मारं चरणशरणं केवलमुरीकरोषि
श्रीराधे! निजकरुणया मामनुचरीम्।।२५।।

नखज्योत्स्नाभिन्नांगुलिमणिमयूखक्रमपरि-
स्फुरन्नानारत्नोच्चयखचितमंजीरमधुरम्।।
मम स्वान्ते राधे जयतु च रणत्कारमुखरम्
पदाब्जं ते गुंजन्मधुपतिवरांगंनिजरुचाम्।।२६।।

जुषाणं ते राधे! पदकमलयुग्मं गतिविधि
नधीयानं गुंजन्मधुरमधुरं हंसकयुगम्।।
नखश्रेणीपार्श्वप्रपदजलपार्ष्णिपसृमर
प्रभापूरैः पूर्णैः सरसि मनसि क्रीडतु मम।।२७।।

समं चन्दावल्या मणिखचितसोपानसरणौ
निकुंजात्कालिंदीजलमवतरंती प्रियपथम्।।
प्रतीक्षन्ती मन्दं यदिमयि पदाम्भोजयुगलम्
दधाना श्रीराधा निधिरिव मनो मेऽधिवसतु।।२८।।

वृतं मौलिं पीतं वसनमपि वंशी च रचयन्
परं राधे! रूपं तव तदनुकुर्वन्नुपगतः।।
न्यसेत् कान्तः कण्ठे स्वभुजनवमालामिति सखीम्
स्वकीयां या वीक्ष्य स्मितनतमुखी सास्तु शरणम्।।२९।।

समं चन्द्रावल्या विविधकुसुमाकल्परचनाम्
निकुंजे कुर्वाणा गगनमधिरूढे दिनमणौ।।
दृशं द्वारोपान्ते चलति विटपेऽपि प्रतरलाम्
दधानां (दधाना!) श्रीराधा मम शरणमस्तु प्रतिदिनम्।।३०।।

निकुंजे यां व्याजाद् अधिकनकचांपेयशयनम्
शयानामालोक्य प्रमिलदलिमालैकपिशुनाम्।।
शनैरापीयास्यं कुचकलशमालिंग्य मृशति
प्रिये नीर्वी रोधोत्तरलकरदृक् सा मम गतिः।।३१।।

शयानामाज्ञायाननकमलमापीय शनकैः
उरोजावालिंग्य स्पृशति रशनामङ्गुदलैः।।
व्रजाधीशेस्तेयैरलमिति करं नाभिकुहरे
विरुंधाना राधा स्मिततरलधृक् सा मम गतिः।।३२।।

शयानं श्रीराधा कुसुमशयने वीक्ष्य दयितम्
शनैरद्यासीनाधरमधु धयन्ती सुमधुरम्।।
कपोलावुन्मीलत्पुलकविकचौ वीक्ष्य कलित-
स्मितं बन्धन्यंचत्सपदि भुजबंधा मम गतिः।।३३।।

करौ कृत्वा कण्ठे कनक(मणि!)सूत्रस्रगिव या
प्रियस्य प्रालिंग्य स्मितमधुरमुत्फुल्लनयनाम्।।
मुखेन्दुं पश्यन्ती तरलतरताटंकसुभगम्

ब्रुवाणा श्रीराधा निधिरिव दृशोरस्तु विषयः ॥३४॥

वधूरेषा मातर्मम किमथ वत्सेति किमलं-
कृतेयं पुत्रान्यत्किमधिशयनं मेऽधिशयिता॥
तथेति स्मेरास्यां निजशिशुगिरा नंदगृहिणी
ब्रुवाणा यामि स्वं सदनमिति राधा मम गतिः॥३५॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरकृताः विज्ञप्तयः समाप्ताः

(पुष्टिभक्तिसुधा; वर्ष ३; संवत १९८४; अंक २-४)



उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(अ - औ)

(इ - ऐ)

(क - ङ)

(च - ञ)

(त - न)

(प - म)

(य - व)

(श - ह)



पिप्रियतमवान्नस्तुविघ्नकर्त्तैवातत्किंकरोमिमन्नाउःखाद्यैतास्प्रियत्व
रणं। [illegible] प्रियतनिकटेसखिका विद्यद्दीमांस्नपयास्मरिष्यतिप्रीता। तन्नूणप
वमनोरथनिचयान्प्राप्स्याम्यहंसत्यां [illegible] परिजनदसनतद्वेषेदुःखितमाप्य
तदातुरंचेतः नजहातितत्त्वलावंतत्का धुनावतिनोविद्य [illegible] नाथेतुकूल
तांयातेसर्वथात्यनुकूलतां। तस्मिंश्चद्विपरीतेतुसर्वामिवलवेत्तथा [illegible] य
दिप्रियसखीजनामयित्वपांकरातिस्वयंविरुद्ववातमप्यहंनगणयेत्त
थापिदत्तणंमनोरथलताश्रयेव्रजवल्लभलताम्निनपि [illegible] धिपतिरेवमेप्रा
णामन्निदास्पात्सदा [illegible] श्रयिकापिसा पिसंप्रतिवलि [illegible] खिद्वजाधिप
नातत्सखितोजानेदंकिंतुवि [illegible] पे [illegible] विदु [illegible] नाथेयद्विपदउ
पदंतत्सतुवितंवियोगदुनायंममयशुचितोन्यन्नदुः [illegible] तथापिश्रीराधि
हृदयमणिरत्यंतत्पयाद्ववकेंउश्रीगोपीपतिरविरतोदर्शयितुमो [illegible] तु
रोवातद्वाद्यसमयविरहेमेघविरहाक्तुतन्नाहंगंतुंपदमपिनशक्तातदि
वत्तासमानोयोमेघःतुनरपित्वपाशाक्यखिलसत्वातामामेवत्वंनय्यनिज
गृहंतत्यरुदितिश्री [illegible] किंकृवाणिसखिश्रेष्ठविरहानलदाहिता। जीवामिप्रिय
त्वदेवात्वनिरधृत्वपतास्यदा [illegible] मरव्येतस्निखनाथंत्वयातियत्नेतराधिकाना
थःात्वपयिष्यैथवामम्मनोरथेनिवजन्मनिवार्द्धिः [illegible] किंबहुनासखिपायो
त्राणा। प्राणंदसनुकू [illegible] लेनल [illegible] मादध्यातां [illegible] विलजी
[illegible] विन्नलि॥ ॥ठा॥ ॥श्रीः॥ ॥ठा॥ ॥ठा॥ [illegible] ॥ठा॥ ॥श्री॥